THE BOOK WAS DRENCHED

TIGHT BINDING BOOK

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_186345

UNIVERSAL
LIBRARY

OUP—730—28-4-81—10,000.

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H371 Accession No. H3188

Author M42S

Title आधुर, एम एस

शिक्षण कला 1961.

This book should be returned on or before the date last marked below

अध्याय १

शिक्षण-कला से तात्पर्य

बालकों को शिक्षा देना कोई सरल कार्य नहीं है। यह कार्य यों तो प्रत्येक व्यक्ति द्वारा सम्पन्न किया जा सकता है परन्तु यदि हम चाहें कि हमारा बालक कुछ सीखे, अपने अनुभवों को विस्तृत करे और मानव जाति के अनुभवों द्वारा अपने जीवन को सफल बनाये तो हमें विशेष प्रशिक्षित अध्यापकों की आवश्यकता पड़ेगी। विशेष प्रशिक्षित अध्यापकों से हमारा तात्पर्य यहाँ यह है कि ऐसे अध्यापक बालकों को शिक्षा प्रदान करें जो शिक्षा प्रदान करने की उत्तम एवं नवीन विधियों से परिचित हों तथा शिक्षण कला से पूर्ण रूप से अवगत हों।

शिक्षण एक कला है। अन्य कलाओं की भाँति इस कला में पारंगत होने के लिए भी विशेष प्रकार से प्रयत्न करने की आवश्यकता है। एक शिक्षक जो इस कला को सीखना चाहता है उसे सावधानी तथा धीरज से काम लेना होगा। वह कक्षा में जाकर चाहे जैसे ढग से बालकों को पढ़ाना आरम्भ नहीं कर सकता। बालकों को पढ़ाने से पहले उन्हें उत्तम शिक्षा किस प्रकार प्रदान की जा सकती है, यह जानना नितान्त आवश्यक है। यह तो ठीक है कि शिक्षक बहुत कुछ अभ्यास द्वारा सीखता है परन्तु शिक्षण देने में वह उसी समय सफल हो सकता है जब वह अभ्यास से पहिले शिक्षण-सिद्धान्तों को समझ ले। शिक्षण सिद्धान्तों का प्रयोग जब वह अभ्यास में कर सकता है उसी समय वह शिक्षा प्रदान करने के योग्य माना जा सकता है। इस पुस्तक में हमारा ध्येय उन शिक्षण सिद्धान्तों पर प्रकाश डालना है जिनका जानना शिक्षण के लिए नितांत आवश्यक है।

कुछ समय पहिले तक अध्यापन से तात्पर्य माना जाता था कि थोड़ा-सा

ज्ञान बालक को लिखने, पढ़ने एवं गणित में दे दिया जाय। यह ज्ञान भी अध्यापक बालकों की स्मृति पर ही बल देकर प्रदान करते थे। जो शिक्षण विधि वे अपनाते थे वह रटने की विधि थी। वे बालकों पर कड़ा अनुशासन रखकर डंडे के बल पर शिक्षा देना ही उत्तम समझते थे। उनका विश्वास था कि डंडे का उपयोग यदि न किया जायगा तो बालक निश्चय ही बिगड़ जायगा। ऐडम्स महोदय के अनुसार इस वाक्य मे—"अध्यापक ने जॉन को लैटिन पढ़ायी"[1] पुराने अध्यापक लैटिन पर अधिक बल देते थे जबकि नवीन शिक्षण में जॉन पर अधिक बल दिया जाता है पुराने अध्यापक हर बालक को एक ही लकड़ी से हाँकते थे। उन्हें केवल इस बात की चिन्ता थी कि बालक किसी तरह लैटिन के निश्चित पाठ्यक्रम को रटलें। इस बात पर ध्यान देने की कोई आवश्यकता नहीं समझी जाती थी कि भिन्न-भिन्न बालकों की योग्यताओं में भी विभिन्नता हो सकती है, उनकी रुचियों और सामर्थ्यों में भी अन्तर हो सकता है।

रूसो, पेस्तॉलॉजी, फ्रोबेल, हर्बर्ट स्पेन्सर ड्यूवी इत्यादि के विचारों ने इन पुरातन शिक्षण सिद्धान्तों एवं विधियों में क्रान्ति ला दी। उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ से तो यह स्पष्ट रूप से माना जाने लगा कि शिक्षण प्रदान करने में बालक का भी महत्व है। शिक्षा विषय-केन्द्रित से हट कर बाल-केन्द्रित होने लगी। ऐडम्स महोदय के उपरोक्त दिये हुए वाक्य में जॉन का स्थान अधिक महत्वपूर्ण समझा जाने लगा। विभिन्न बालकों की योग्यता के अनुसार शिक्षा प्रदान करना ही उत्तम समझा जाने लगा।

महान् शिक्षा शास्त्रियों ने जिनमें से कुछ के नाम हमने ऊपर गिनाए हैं, शिक्षा में नवीन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया और नवीन शिक्षण पद्धतियो का आविष्कार किया। उन्होंने इस बात पर बल दिया कि शिक्षा एक आनन्दपूर्ण प्रक्रिया है। बालक नयी वस्तुओं को सीखने में आनन्दानुभव करता है। शिक्षा प्राप्त करने में आनन्द की इस अभिवृत्ति का होना परम आवश्यक है। शिक्षा की प्रक्रिया में बालक एक सक्रिय कार्यकर्त्ता है। वह बहुत सी बातें स्वयं सीख सकता है। अध्यापक तो एक सहायक और पथ-प्रदर्शक के रूप में होता है, वह नियम बनाने वाली मशीन नहीं होता। पाठशाला और अध्यापक का कार्य ऐसे अनुकूल वातावरण को उपस्थित करना है जहाँ बालक के व्यक्तित्व का विकास स्वतन्त्र और पूर्ण रूप से हो सके। बालक का अवदमन न हो और वह खेल ही खेल में बहुत कुछ सीख सके। इन आ इसी प्रकार के विचारों के आधार पर जिन नवीन शिक्षण पद्धतियों का ज...

1—John Adams : Modern Developments in Educational Practice, p. 12, "the master taught John Latin".

अध्याय २

शैक्षिक-प्रक्रिया[1]

'शिक्षा' शब्द के कई अर्थ किये जाते हैं। विभिन्न शिक्षा शास्त्री विभिन्न प्रकार से इस शब्द की परिभाषा एवं व्याख्या करते है। शिक्षा शब्द का अनुवाद आंग्ल भाषा में Education है। यह शब्द लैटिन (लातोनी) भाषा के शब्द Educatum से निकाला गया है। इसका अर्थ है सीखना या प्रशिक्षण का कार्य। Education शब्द educare से भी निकाला जा सकता है जिसका अर्थ है विकास करना। इस भाव में शिक्षा का अर्थ बालक के विकास के रूप में लिया जाता है। शिक्षा वह कला है जो बालक के शारीरिक, मानसिक एवं नैतिक विकास में सहयोग प्रदान करती है। Education शब्द एक और प्रकार से भी बना हुआ माना जा सकता है। Educare, 'duco' और 'e' दो शब्दों से मिलकर बना हुआ है। 'e' से तात्पर्य है 'बाहर निकालना' और 'duco' का अर्थ है 'पथ-प्रदर्शन'। अतएव शिक्षा का अर्थ इस रूप में पथ-प्रदर्शन द्वारा बाहर निकालना है। बालक को शिक्षा देने का अर्थ यह है कि उसके अन्तर से कुछ बाहर निकाला जाय, न कि उस पर बाहर से कुछ लादा जाय। अध्यापक का कर्त्तव्य बालक के मस्तिष्क को ज्ञान से भरना नहीं है। वरन् उसके अन्दर जो निहित शक्तियाँ है उनको अपने पथ-प्रदर्शन द्वारा उभारना है। वर्तमान समय में शिक्षा के इस अर्थ को अधिक महत्व प्रदान किया जाता है। शिक्षा को एक ऐसी प्रक्रिया माना जाता है जो व्यक्ति की उत्तम योग्यताओं के प्रकाशन का अवसर प्रदान करे और उनके विकास में सहयोग दे। इस रूप में शिक्षा की प्रक्रिया जीवन भर चलती रहती है।

1—The Educative Process.

शिक्षा के दो अर्थ

शिक्षा शब्द के प्रायः दो अर्थ किये जाते है। एक संकुचित अर्थ[1] तथा दूसरा विस्तृत अर्थ।[2]

विस्तृत अर्थ में शिक्षा हमारे जीवन के प्रत्येक अनुभव को सम्मिलित करती है। जॉन स्टुअर्ट मिल के शब्दों में—"**जो कुछ भी मानव को मानव बनाने में सहायता पहुँचाता है, व्यक्ति को वह बनाता है जो वह है, या उसे वह बनने से रोकता है जो वह नहीं है—यह सब उसकी शिक्षा के ही अङ्ग हैं।**"[3] इस रूप में शिक्षा जीवन पर्यन्त चलने वाली विकास की प्रक्रिया है। प्रत्येक वस्तु जिसके सम्पर्क में व्यक्ति आता है वह उस पर प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से प्रभाव डालती है। वे सभी प्रकार के प्रभाव जो चाहे जिस रूप में और चाहे जिस प्रकार से व्यक्ति पर पड़ते हैं, शिक्षा में सम्मिलित है। व्यक्ति अपने कार्यों द्वारा तथा दूसरे व्यक्तियों के कार्यो द्वारा प्रत्यक्ष रूप से अपनी प्रकृति मे विकास लाता है इसके अतरिक्त अप्रत्यक्ष रूप से उसके व्यक्तित्व के ऊपर नियम, सरकार की प्रकार, औद्योगिक कलाएँ, सामाजिक जीवन के रूप, भौतिक वातावरण के ऐसे अङ्ग; जैसे—जलवायु, मिट्टी की प्रकार, रहने की स्थिति इत्यादि तथा पाठशाला, मित्रगण, परम्पराऐं, लोकगीत इत्यादि का भी प्रभाव पड़ता है। शिक्षा के विस्तृत अर्थ में ये सब प्रभाव जो मानव के व्यक्तित्व में परिवर्तन लाते हैं, सम्मिलित होते हैं।

संकुचित अर्थ में शिक्षा से तात्पर्य उस शिक्षा से है जो बालकों को जानबूझ कर समाज द्वारा अर्जित संस्कृति प्रदान करने मे दी जाती है। मिल महोदय के अनुसार इस रूप मे शिक्षा—"**वह संस्कृति है जो हर पीढ़ी को इस प्रयोजन से प्रदान की जाती है कि वह कम से कम इसे उसी रूप में बना रखे और यदि सम्भव हो तो जो वृद्धि का स्तर प्राप्त हो चुका है उसे ऊपर उठाये।**"[4] शिक्षा सकुचित अर्थ में प्रायः विद्यालय शिक्षण के रूप में ली जाती है। इस

1—Narrow meaning, 2—Wider meaning.

3—John Stuart Mill, Inaugral address at St. Andrews, 1867: "Whatever helps to shape the human being : to make the individual what he is, or hinder him from being what he is not—is part of his education."

4—John Stuart Mill : "the Culture which each generation purposely gives to those who are to be its successors in order to qualify them for at least keeping up, and if possible for raising, the level of improvement which has been attained."

अर्थ में जब हम शिक्षा शब्द का प्रयोग करते हैं तो शिक्षा का उपयोगी रूप हमारे समक्ष आता है। इस प्रकार की शिक्षा द्वारा ही ज्ञान नयी पीढ़ी को हस्तान्तरित किया जाता है। ज्ञान प्राप्त करके तथा उसके उचित उपयोग को सीख कर व्यक्ति अपने चरित्र में सुधार ला सकता है। शिक्षा इस प्रकार मानव के व्यक्तित्व के सर्वतोमुखी विकास से सम्बन्ध रखती है। शिक्षा को व्यक्ति, समाज के सविधिक तथा अविधिक साधनों द्वारा प्राप्त करता है। ये सब साधन जब व्यक्ति का सर्वाङ्गीण विकास करते हैं तभी उसकी शिक्षा पूर्ण मानी जाती है। अतएव शिक्षा इस अर्थ में भी बहुत महत्वपूर्ण है। प्रस्तुत पुस्तक में शिक्षा शब्द का उपयोग हम विस्तृत अर्थ में न करके संकीर्ण रूप में ही करेंगे। हम उन नियमों, सिद्धान्तों, प्रणालियों, योजनाओं इत्यादि का अध्ययन करेंगे जो विद्यालय शिक्षण मे महत्वपूर्ण हैं तथा शिक्षण देने में उपयोगी सहायक सामग्री के सम्बन्ध में विचार करेंगे। परन्तु इससे प्रथम हमें शैक्षणिक प्रक्रिया पर ध्यान देना तथा इसके विभिन्न अङ्गों के सम्बन्ध में स्पष्ट जानकारी प्राप्त करना आवश्यक है।

शैक्षणिक प्रक्रिया

जॉन ऐडम्स महोदय के अनुसार—"शिक्षा एक द्विमुखी प्रक्रिया[1] है।" यह क्रिया शिक्षक एवं शिक्षार्थी दोनों के सहयोग द्वारा ही सम्पन्न होती है। इस प्रकार शैक्षणिक प्रक्रिया में दो व्यक्तियों का होना आवश्यक है—एक शिक्षक तथा दूसरा शिक्षार्थी। दोनों ही मिलकर शैक्षणिक प्रक्रिया को सफलता प्रदान करते हैं। शैक्षणिक प्रक्रिया को इस प्रकार हम द्विविधि या द्विमुखी कह सकते हैं। एक रूप में यह सिखाने वाले पर बल देती है और दूसरे रूप में सीखने वाले पर। परन्तु ये दोनो रूप एक दूसरे से पृथक्-पृथक् नहीं हैं। इन दोनों का घनिष्टतम सम्बन्ध है। सीखने का क्रम बिना सिखाने वाले के नहीं चल सकता। इसी प्रकार बिना सीखने वाले के सहयोग के सीखने वाला अपने कार्य में पूर्ण सफलता प्राप्त नहीं कर सकता। सीखने वाला अपने व्यक्तित्व के प्रभाव से तथा प्रत्यक्ष रूप से ज्ञान देकर सिखाने वाले को सिखाता है। इस प्रक्रिया में यह प्रतीत होता है कि सीखने वाला या शिक्षक सक्रिय रहता है जब कि सीखने वाला या शिक्षार्थी निष्क्रिय श्रोता ही होता है जो शिक्षक द्वारा इधर उधर तोड़ा-मरोड़ा जा सकता है। यह विचारधारा प्राचीन शिक्षकों की थी। परन्तु यदि शैक्षणिक प्रक्रिया के दोनों रूपों पर ध्यान से विचार किया जाय तो इस दृष्टिकोण का हलकापन स्पष्ट हो जायगा। शैक्षणिक प्रक्रिया में शिक्षार्थी भी

1—Bipolar process.

उतना ही महत्वपूर्ण है जितना कि शिक्षक। शिक्षार्थी कोई बेजान वस्तु नहीं होती, वह ईंट-पत्थर की तरह जड़ नहीं है। जब अच्छे मसाले का उपयोग कर के एक अच्छा शिल्पी सुन्दर से सुन्दर आकृति निर्मित कर सकता है तो वह तो एक जीवित, विचार करने वाला, तर्क करने वाला एवं कल्पना करने वाला प्राणी है जो कुछ मूल-प्रवृत्तियों, अभिरुचियों, योग्यताओं एवं प्रेरणाओं को लेकर उत्पन्न होता है। ये तत्त्व उसके जीवन में अत्यन्त महत्वपूर्ण भाग लेते हैं और जो कुछ उसका विकास संभव है वह इन्हीं के आधार पर संभव है। अतएव उसको शिक्षा प्रदान करने में यह आवश्यक है कि उसकी प्रकृति को ध्यान में रखा जाय। शिक्षा उसकी प्रवृत्तियों एवं अभिरुचियों इत्यादि के आधार पर दी जाय। इसके लिए बालक क्रियाशीलता अनिवार्य है। जब तक बालक स्वयं सक्रिय नहीं है वह शिक्षा ग्रहण नहीं कर सकता। शिक्षा द्विमुखी इसी रूप में कही जाती है कि शिक्षक एवं शिक्षार्थी दोनों सक्रिय होकर एक-दूसरे पर प्रतिक्रिया करते हैं। इस प्रतिक्रिया के कारण ही बालक में ज्ञान का उद्‌बोध होता है और उसकी निहित योग्यताओं को प्रकाशन का अवसर मिल जाता है। यह विचारधारा शिक्षा में नवीन विचारधारा मानी जाती है।

प्रयोजनवादी दृष्टिकोण से शैक्षणिक प्रक्रिया मे दो के स्थान पर तीन अङ्ग माने जाते हैं। वे हैं शिक्षक, शिक्षार्थी एवं पाठ्यक्रम। हम यहाँ इन तीनों अङ्गों का स्पष्ट रूप से विवेचन करेंगे।

शिक्षक

जैसा हमने ऊपर वर्णन किया कि शैक्षणिक प्रक्रिया में शिक्षक का एक महत्वपूर्ण स्थान है। प्राचीन समय मे तो अध्यापक ही इस प्रक्रिया का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण अङ्ग माना जाता था। शिक्षा एकाङ्गी थी। अध्यापक का कार्य था अपने व्याख्यानों द्वारा तथा बालक की स्मृति पर जोर डालकर उसके मस्तिष्क को ज्ञान से भर देना। परंतु अब यह ठीक समझा जाता है कि अध्यापन बालक की संभावनाओं पर निर्भर होना चाहिए। अतएव अध्यापक का उतना महत्वपूर्ण स्थान नहीं रहा जितना कि पहिले था। फिर भी यह कहना सर्वथा अनुचित होगा कि शैक्षणिक प्रक्रिया में उसने गौण स्थान ग्रहण कर लिया है। उसका स्थान तो अब भी महत्वपूर्ण है परन्तु इस दृष्टिकोण में अन्तर आगया है कि अध्यापक बालक की शिक्षा में पूर्णतया एक शासक का रूप ग्रहण न करके एक ऐसे संचालक या पथ प्रदर्शक के रूप में हैं जो उचित पथ की ओर बालक को अग्रसर करने के पश्चात उसे स्वतः विकास करने की स्वतंत्रता प्रदान करता है। इसके अतिरिक्त वह बालक की शिक्षा में हर समय सचेत रहता है कि

बालक पथ से भटक न जाय या पथ-भ्रष्ट न हो जाय । जहाँ भी आवश्यकता पड़ती है वह बालक को उचित निर्देशन करता है ।

चौन्से महोदय के अनुसार आज जो सहस्त्रों बालक जो आज हमारे विद्यालयों में पढ़ते हैं यदि किसी प्रेरणादायक, सहानुभूति पूर्ण एवं योग्य अध्यापक के सुसम्पर्क में आते हैं तो उनमें अपने साथियों को प्रभावित करने की शक्ति आजाती है । परन्तु बिना इस सम्पर्क के उनकी शक्तियाँ सुप्त ही रहेंगी, उनके सीखने का उचित समय निकल जायगा, उनके मस्तिष्क कम प्रगतिशील हो पायेंगे और वे एक निम्न बौद्धिक स्तर पर रहने को बाध्य होंगे जबकि वे हर समय इस बात से सचेत रहेंगे कि उनका जीवन कितना विभिन्न होता । अध्यापक का कर्त्तव्य है कि वह बालक को अपने को खोज निकालने में सहायता प्रदान करे अन्यथा बालक अपने ही जीवनकाल में ग्रे की ऐलजी की दुःखद घटना को दोहरायगा ।"[1]

उपरोक्त पंक्तियों से यह स्पष्ट हो जाता है कि गुणी अध्यापक का सम्पर्क सुशिक्षा के लिये अत्यन्त महत्वपूर्ण है । उसका स्थान श्रेष्ठ है और वही एक ऐसा व्यक्ति है जो बालक के व्यक्तिगत एवं सामाजिक विकास में पूर्ण सहयोग प्रदान कर सकता है । शिक्षक ही बालक को अपने-आप को समझने में सहायता प्रदान कर सकता है । उसी के द्वारा महात्मा गांधी द्वारा दिये गये शिक्षा के अर्थ "बालक की शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक शक्तियों के पूर्ण विकास को शिक्षा कहा जा सकता है", के रूप मे शिक्षा की प्राप्ति हो सकती है ।

शिक्षक के गुण—हमने ऊपर संकेत किया है कि शिक्षक को गुणवान् होना आवश्यक है । यदि शिक्षक योग्य है तो वह बालक के ऊपर दो प्रकार से

1—There is no doubt that there are thousands of children in our schools today who, if they come into real living contact with an inspiring, sympathetic, capable teacher, will be a power to influrence their fellowmen. But without such contact and inspiration their powers will be dormant, the favourable time for learning will pass, their brains will become less plastic, and they will be doomed to live on a low intellectual plane, all the time conscious that life might have been so different. The teacher must help the pupil to discover himself. Otherwise the pupil may repeat in his own life the tragedy described in Gray's Elegy."

—Colgrave, Chauncey, p., *The Teacher and the School*, N. Y., Scribner, 1910, p. 67.

सुन्दर प्रभाव डाल सकता है। एक तो वह अपने चरित्र एवं व्यक्तित्व के प्रभाव से बालक मे उचित गुणों का प्रादुर्भाव कर सकता है। दूसरे, वह अपने उच्च ज्ञान द्वारा बालक में विद्या के प्रति अनुराग उत्पन्न कर सकता है। यहाँ ज्ञान से हमारा तात्पर्य है बालक की प्रकृति सम्बन्धी ज्ञान, विषय सम्बन्धी ज्ञान, वातावरण सम्बन्धी ज्ञान, तथा उसमे सुधार लाने के सम्बन्ध मे ज्ञान से। इस प्रकार हम गुणी और योग्य अध्यापक उसे ही कहेंगे जो अच्छे व्यक्तित्व एवं चरित्र वाला है तथा ज्ञानी भी है।

साबिन हेनरी[1] महोदय का कथन है कि **अध्यापक को जानना चाहिए कि क्या पढ़ाये और किस प्रकार पढ़ाये। इसके पश्चात सबसे मुख्य बात यह है कि वह यह जाने कि वह ऐसा क्यों करता है।** एक अध्यापक को यह समझना आवश्यक है कि उत्तम शिक्षण न केवल कला का शिक्षण है न विज्ञान का परन्तु कला के साथ विज्ञान का समवेत अध्यापन है। उत्तम शिक्षण संस्कृति सम्बन्धी होता है। इस प्रकार अध्यापक को शिक्षा, दर्शन, शिक्षाविधि एवं शिक्षा मनोविज्ञान का उत्तम ज्ञान होना आवश्यक है। उसे बालक को बालक समझ कर ही शिक्षा देना होगा न कि कोई छोटा या प्रौढ़ व्यक्ति मानकर। एक कुशल अध्यापक वह है जो बालक के अन्तर मे झाँक सकता है और उसको अपने आप एक ऐसे आदर्श की अनुभूति करा सकता है जो उसके अन्तर से विकसित हुआ हो तथा जिससे जीवन में प्रेरणा ग्रहण करके वह एक उत्तम मानव बन सके।

हॉर्न महोदय के अनुसार अध्यापक के कार्य में कम से कम चार तत्व सम्मिलित होते है। वे हैं—(१) इस प्रकार का शिक्षण देना जिससे विद्यार्थियों का विकास हो। अध्यापक गतिवाही या गत्यात्मक पदार्थों द्वारा विकास करने वाला होता है। (२) अध्यापक का कार्य है कि वह शिक्षार्थी के मस्तिष्क एवं पाठ्य-विषय के बीच में माध्यम बने। वह दोनों को जानने वाला होता है और इस प्रकार वह उन पाठ्य विषयों को चुनता है जिन्हें बालक समझ सकता है और धीरे-धीरे वह बालक के ज्ञान की परिधि बढ़ाता जाता है। अध्यापक जीवन के सत्यों एवं व्यक्तिगत जीवन के बीच में माध्यम है। (३) अध्यापक का यह भी कार्य है कि वह बालकों को जीवन का अर्थ समझाए। जीवन एक उच्च कला है। चूंकि अध्यापक अनुभवी होता है और जीवन के रहस्यों से अवगत होता है, अतएव वह बातचीत द्वारा और दूसरी विधियों को

1—Sabin, Henry, Common sense Didactics for Common School Teachers, Chicago Rand McNally, 1903, pp. 298-299.

अपना कर बालकों को अच्छे और बुरे प्रकार के जीवन की ओर उचित दृष्टिकोण अपनाने में सहयोग देता है। वह बालकों की भाषा में जीवन के गूढ़ रहस्यों को रख देता है जिससे वे उन्हे समझ सकें और इस रूप मे वह जीवन का अनुवादक अथवा व्याख्याकार होता है। (४) अध्यापक का कार्य यह भी है कि वह मस्तिष्क का सम्यक् विकास करे। यह उद्विकास द्वारा प्रगति का अन्तिम यंत्र है। अब उद्विकास का अर्थ मानसिक रूप में लिया जाता है न कि शारीरिक रूप मे। अतएव मानसिक रूप मे विकास ही प्रगति का प्रतीक है और इस ओर मानव को ले जाने मे सबसे महत्वपूर्ण भाग लेने वाला व्यक्ति होता है अध्यापक। वह ही प्रगति का देवता है।[1] अध्यापक में गुण इस प्रकार के होने चाहिए जिससे वह इन चारों कार्यों की पूर्ति कर सके।

एक योग्य शिक्षक के गुणों को निम्न प्रकार से रख सकते है :—

(अ) व्यक्तित्व सम्बन्धी:—अच्छा स्वास्थ्य हो, प्रसन्न चित्त रहता हो, क्रोधपूर्ण मुद्रा न रखता हो, स्वच्छ वस्त्र पहिनता हो जो शिष्ट समाज मे अच्छे समझे जाते हों। उसकी वाणी मधुर हो, वह सरल भाषा का प्रयोग करता हो तथा उसका उच्चारण शुद्ध एव आकर्षक हो। उसकी आदतें अच्छी हों, वह बुरे हाव-भाव से बातचीत न करता हो, उसका स्वभाव निश्छल मधुर हो। उसका व्यवहार सहानुभूति पूर्ण हो, वह सच्चरित्र हो, उसमें बालकों में स्वः अनुशासन के विकास करने की क्षमता हो, वह न्यायप्रिय तथा आदर्शमय जीवन में विश्वास रखता हो। वह बालको को वास्तविकता से परिचित करा सके तथा उनको जीवन के उचित मार्ग की ओर अग्रसर करे, वह दृढ़ निश्चयी हो, परिश्रमशील हो, उत्साही तथा उदार हो। आत्म-विश्वास रखता हो, त्वरित्-निर्णय शक्ति रखता हो, विनोद प्रिय हो और धैर्यवान हो।

(ब) ज्ञान सम्बन्धी—विषय सम्बन्धी ज्ञान उच्च हो, वह बुद्धिमान एवं विचारक हो, उसको मनोविज्ञान सम्बन्धी पर्याप्त जानकारी हो। वह बालकों की प्रकृति समझ सकता हो, वातावरण सम्बन्धी ज्ञान रखता हो, बालकों का वातावरण में समायोजन में सहायता प्रदान करे सकता हो तथा वातावरण में प्रगति लाने की क्षमता रखता हो। वह समाज की रीति-रिवाज तथा परम्पराओं से पूर्णतया अवगत हो। बालक की सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके तथा समाज उत्थान में अपना सहयोग दे सके।

शिक्षार्थी

हमने कहा है कि वर्तमान समय में शिक्षा की प्रक्रिया में शिक्षार्थी का

1—Horne, Herman Marrel, *The Psychological Principles of Education*, N. Y. Macmillan, 1915, pp. 39-41.

महत्व बहुत बढ़ गया है। अध्यापक का कार्य यही समझा जाता है कि वह उचित शैक्षिक परिस्थितियों का निर्माण करके बालक को स्वतंत्र छोड़ दे जिससे वह अपनी योग्यताओं तथा संभावनाओं के अनुकूल ही अपना विकास करने में सफल हो। अतएव बालक को समझे बिना उचित शिक्षा संभव नहीं है। शिक्षा को बाल-केन्द्रित होना नितान्त आवश्यक है। इससे तात्पर्य है कि शिक्षा को आरम्भ बालक की योग्यताओं, क्षमताओं रुचियों तथा शक्तियों के सम्बन्ध में मनोवैज्ञानिक जानकारी प्राप्त करके ही होना चाहिए। शिक्षा द्वारा बालक का सामाजिक अनुकूलन भी आवश्यक है। बालक समाज में उत्पन्न होता है और उसी में उसे अपना जीवन व्यतीत करना होता है। उसकी कौन-सी संभवानाएँ या शक्तियों को शिक्षा द्वारा प्रोत्साहित करना और कौन-सी प्रवृत्तियों एवं प्रेरणाओ का उचित मार्गन्तीकरण या शोधन करना है, यह निश्चित करना सामाजिक अनुकूलन तथा सामाजिक प्रगति पर ही निर्भर होता है। शिक्षा देने में बालक का व्यक्तिगत विकास एवं सामाजिक विकास दोनों को ध्यान मे रखना आवश्यक है। इसी कारण हमने ऊपर कहा है कि शिक्षक को बाल मनोविज्ञान तथा सामाजिक वातावरण सम्बन्धी पूर्ण ज्ञान होना आवश्यक है। बालक के व्यक्तित्व एवं चरित्र का निर्माण शिक्षा का कार्य है। परन्तु यह कार्य शिक्षा बालक के ऊपर कुछ ऊपर से थोप कर नहीं कर सकती वरन् बालक के अन्तर में निहित शक्तियों एवं संभावनाओ के आधार पर ही उनका विकास कर सकती है।

बालक की निहित शक्तियों, योग्यताओं, प्रेरणाओं, प्रवृत्तियों, रुचियों रुझान इत्यादि से हम क्या समझते हैं और कैसे यह चरित्र एवं व्यक्तित्व के निर्माण एवं विकास में महत्वपूर्ण है, यह सब शिक्षा-मनोविज्ञान का विषय है। जिज्ञासु को चाहिए कि किसी किसी अच्छी शिक्षा-मनोविज्ञान की पुस्तक का अध्ययन करे जिसमें वह इन प्रश्नों का समुचित उत्तर पा सकेगा।

पाठ्यक्रम

शैक्षणिक प्रक्रिया का तीसरा अंग है पाठ्य-क्रम। अमेरिका के दार्शनिक जॉन ड्यूवी महोदय के विचारों के प्रभाव से अब पाठ्यक्रम को भी शिक्षा का एक बहुत आवश्यक अंग मान लिया गया है। उन्होंने शैक्षणिक प्रक्रिया के प्रति सामाजिक दृष्टिकोण अपनाया। आजकल सामाजिक प्रगति के लिए पाठ्यक्रम को उचित रूप से निर्धारण करना आवश्यक माना जाता है।

वर्तमान समय में पाठ्यक्रम से तात्पर्य केवल उन पाठ्य-विषयों से नही है जिनकी शिक्षा विद्यालयों में दा जाती है वरन् अब इसका उपयोग कुछ विस्तृत रूप में किया जाता है। विद्यालयों मे बालक को दिये जाने वाले समस्त अनुभवों

दो के स्थान पर तीन अङ्ग माने जाते हैं। वे हैं—शिक्षक, विद्यार्थी एवं पाठ्यक्रम।

शिक्षक :—शिक्षक का गुणवान, योग्य, चरित्रवान एवं ज्ञानी होना आवश्यक है। उसका व्यक्तित्व सुसंगठित होना चाहिए। उसका स्वस्थ और प्रसन्न चित्त होना भी परम आवश्यक है।

शिक्षार्थी :—शिक्षा बाल केन्द्रित होनी चाहिए। इससे तात्पर्य यह है कि शिक्षा का प्रारम्भ बालक की योग्यताओं, क्षमताओं, रुचियों तथा शक्तियों के सम्बन्ध में मनोवैज्ञानिक जानकारी प्राप्त करके ही होना चाहिए।

पाठ्यक्रम :—सामाजिक प्रगति के लिए पाठ्यक्रम को उचित रूप से निर्धारित करना आवश्यक है। शैक्षणिक प्रक्रिया में पाठ्यक्रम को निम्नस्तर नहीं दिया जा सकता वरन् इसका चुनाव अच्छे शैक्षिक सिद्धान्तों पर ही होना चाहिए। वर्तमान प्रचलित पाठ्यक्रम दूषित है। यह ज्ञान-प्रधान है तथा स्मृति पर अधिक बल देता है। इसमें विभिन्न विषयों में सह-सम्बन्ध प्राप्त करने की कोई चेष्टा नहीं की जाती। इस पर परीक्षाओं का एक छत्र आधिपत्य है। इन सब प्रचलित दोषों को दूर करना आवश्यक है। अतः इसका निर्धारण इन सिद्धान्तों पर होना चाहिए :—

(१) प्रत्येक स्तर पर बालकों की मूल आवश्यकताओं, रुचियों इत्यादि का ध्यान रखा जाय।

(२) यह लचीला हो।

(३) जीवन के उद्देश्यों से प्रेरित हो।

(४) विभिन्न विषयों में समन्वय प्राप्त करने की चेष्टा करता हो।

(५) क्रिया पर आधारित हो।

(६) विविध स्तरों की समाप्ति पर अपने आप में पूर्ण होना चाहिए।

अध्ययन के लिए महत्वपूर्ण प्रश्न

१. शिक्षा के विभिन्न अर्थ से आप क्या समझते हैं? शिक्षा के संकीर्ण अर्थों में हम इसका क्या महत्व है। समझा कर लिखिए।

२. शैक्षिणिक प्रक्रिया द्विमुखी होती है इससे क्या तात्पर्य है? शिक्षक तथा शिक्षार्थी के महत्व पर प्रकाश डालिए।

३. शैक्षणिक प्रक्रिया में पाठ्यक्रम का क्या महत्व है? प्रचलित पाठ्यक्रम का मूल्यांकन करके पाठ्यक्रम सुधार के लिए अपने सुझाव प्रस्तुत कीजिए।

४. शिक्षक में किन गुणों का होना आवश्यक है और क्यों?

सहायक पुस्तकों की सूची

(१) ऐडम्स जॉन : **मार्डन डवलपमेन्ट्स इन एप्लीकेशनल प्रेक्टिस**, लन्दन, यूनीवर्सिटी ग्रॉफ लन्दन प्रेस, १९५०

(२) बौसिङ्ग एन० एल० : **टीचिंग इन दी सेकन्डरी स्कूल्स**, न्यूयार्क, हाउटन मिफलन, १९४२

(३) थोकहाम, जी० ए०; सिम्पसन, आर० जी० : **मार्डन मेथड्स एण्ड टैक्नीज ग्रॉफ टीचिंग**, न्यूयार्क, मेकमिलन, १९५१

(४) भाटिया एवं भाटिया : **दि प्रिन्सीपुल्स एण्ड मेथड्स ग्रॉफ टीचिंग**, देहली, दोआबा हाउस

(५) माथुर, एस० एस० : **शिक्षा-सिद्धान्त**, आगरा, विनोद पुस्तक मन्दिर १९६१।

अध्याय ३

शिक्षण तथा सीखने के आधारभूत सिद्धान्त[1]

शिक्षा देना और ग्रहण करना दोनों ही शिक्षा के दो मुख्य रूप हैं। सीखना और सिखाना एक-दूसरे से इतने घनिष्ट सम्बन्धित हैं कि जब हम एक शब्द का प्रयोग करते हैं तो दूसरा उसमें निहित रहता है। जब हम कहते हैं "राजू गणित सीखता है" तो राजू के सीखने के साथ साथ राजू को सिखाने वाले का विचार भी हमारे मस्तिष्क में उठता है। इसी प्रकार जब हम कहते है कि "मास्टर साहिब सिखाते हैं" तो हमारे मस्तिष्क में प्रश्न उठता है, कौन सीखता है? प्रस्तुत पुस्तक में सीखने और सिखाने वाले से हम तात्पर्य विद्यार्थी और शिक्षक से समझते हैं। शिक्षक सिखाता है और विद्यार्थी सीखता है। शिक्षक की सहायता के बिना विद्यार्थी का सीखना यदि असंभव नहीं तो कठिन अवश्य है। शिक्षक किस प्रकार से उचित अध्यापन कर सकता या यह कहा जाय कि सिखाने वाला किस प्रकार सीखने वाले को सबसे अच्छे प्रकार से सिखा सकता है, यह सीखाना चाहे व्यक्तिगत रूप से हो चाहे कक्षा शिक्षण के रूप में? इस प्रश्न का उत्तर हमने इस पुस्तक के विभिन्न अध्यायो के अन्तर्गत दिया है। प्रत्येक अध्याय में ऐसे विषय एवं विषयों पर प्रकाश डाला गया है जो सीखने में अथवा सिखाने में महत्वपूर्ण हैं। परन्तु इससे प्रथम कि हम सीखने और सिखाने के सम्बन्ध में कुछ और कहें, हमें इन दोनों के मूल आधार क्या हैं? इनको समझ लेना आवश्यक है।

1—The Fundamental basis of Teaching and Learning.

शिक्षा की प्रकृति[1]

"शिक्षण से तात्पर्य उस प्रक्रिया से अथवा उस साधन से है जिसके द्वारा जाति के अनुभवी सदस्य अपरिपक्व तथा शिशु सदस्यों को जीवन में अपना व्यवस्थापन करने में पथ-प्रदर्शन करते हैं।"[2] एक बालक को पथ-प्रदर्शन की अत्यन्त आवश्यकता होती है क्योंकि वह जन्म के समय बहुत अपरिपक्व होता है और उसकी बाल्यावस्था का समय काफी लम्बा होता है। एक पशु समुदाय में बालक जन्म के साथ ही परिपक्वता लिए हुए होता है। उसकी बाल्यावस्था यदि होती भी है तो बहुत कम समय की। इस कारण उसका शिक्षण यदि समुदाय या जाति के प्रौढ़ प्राणियों द्वारा होता भी है तो यह बहुत ही सरल तथा साधारण होता है। बालक की शिक्षा जाति या समाज की आकांक्षाओं के अनुकूल ही हो, इसके लिये समाज विद्यालयों का आयोजन करता है और अनुभवी योग्य तथा अध्यापकों की नियुक्ति करता है। ये अध्यापक बालक को इस प्रकार से शिक्षण देते हैं कि वह जीवन मे समायोजन कर सके और उसका व्यष्टिगत विकास हो सके तथा वह समाज के लिए उपयोगी सिद्ध हो सके। इस प्रकार का शिक्षण, विद्यालय शिक्षण के साथ साथ समाप्त हो जाता है परन्तु जीवन के अनुभवों के द्वारा शिक्षा की प्रक्रिया जीवन पर्यन्त चलती रहती है।

विद्यालयों में बालकों को व्यवस्थित तथा अच्छे प्रकार से चुना हुआ वातावरण प्रदान किया जाता है। बालकों को इस वातावरण से व्यवस्थापन करने का शिक्षण प्रदान किया जाता है। इस प्रकार से वे समाज में शीघ्र व्यवस्थापन करना सीख लेते हैं और जीवन की विभिन्न परिस्थितियों का सामना करने के लिए तैयार हो जाते हैं। वर्तमान काल में प्रयोजनवादी विचारधारा के विकास के कारण विद्यालय को समाज का एक लघु रूप माना जाता है। अतएव विद्यालय शिक्षण द्वारा जैसी समाज की व्यवस्था है उसमें बालक व्यवस्थापन करना सीख लेता है। परन्तु अब विद्यालय शिक्षण मे इस बात पर भी बल दिया जाता है कि बालक न केवल समाज जैसा है उसी मे उसके अनुसार रहना सीखे वरन् यह भी सीखे कि समाज में प्रगति किस प्रकार संभव है और

1—The Nature of teaching.

2—Gerad A. Yoakam and Robert G. Simpson, Modern Methods and Techniques of Teaching, N. Y. Macmillan, 1951, "Teaching is the means whereby the experienced members of the group guide the immature and infant members in their adjustment to life."

उसे किस प्रकार लाया जा सकता है। बालक को इस ओर क्रियाशील बनाना विद्यालय का उद्देश्य है।

यहाँ यह याद रखना आवश्यक है कि बालक का शिक्षण विद्यालय आने से प्रथम ही प्रारम्भ हो जाता है। उसके प्रथम शिक्षक उसके माता-पिता ही होते हैं और फिर उसके परिवार के सदस्य। उसका भाषा, आदर्श, अभिरुचियों, बहुत-सी आदतें इत्यादि का सीखना बहुत ही अल्प आयु से आरम्भ हो जाता है और जिस समय वह एक प्रारम्भिक विद्यालय मे प्रवेश करता है उस समय तक बहुत कुछ उसके व्यक्तित्व पर प्रभाव डालने वाली शक्तियों का प्रादुर्भाव हो चुका होता है। इसी कारण इन विद्यालयों में आने से पहिले यह आवश्यक है कि बालक के शिक्षण पर उचित ध्यान दिया जाय। परिवार इसमें सबसे महत्वपूर्ण भाग ले सकता है। विद्यालय मे आने के पश्चात् भी यह नहीं होता कि केवल विद्यालय में ही उसका शिक्षण चलता हो। वह बहुत कुछ सीखता रहता है अपने परिवार के सदस्यों से, अपने समूह से, मित्रों से, मनोरंजन के साधनों से, अपनी धार्मिक परम्पराओं और सामाजिक संस्थाओं आदि से। इस प्रकार बालक को सिखाने वाले दो प्रकार के साधन हैं—(१) सविधिक साधन जैसे विद्यालय, तथा (२) अविधिक साधन, जैसे परिवार, राज्य तथा समाज इत्यादि।

विद्यालयों में बालकों को संगठित रूप से शिक्षण प्रदान किया जाता है। शिक्षण देने वाले होते हैं अध्यापक। ये अध्यापक समाज द्वारा चुने हुए व्यक्ति होते हैं जिन्हे समाज अपने बालकों को सिखाने का कार्य भार सौंपता है।

शिक्षण के नवीन सिद्धान्त—हमने पिछले अध्यायो में यह स्पष्ट करने की चेष्टा की है कि वर्तमान समय मे शिक्षण से यह तात्पर्य कदापि नही है कि बालक के मस्तिष्क को थोथे अव्यावहारिक ज्ञान से भर दिया जाय। सिखाने का अर्थ यह नहीं समझा जाता है कि बालक को किसी आने वाले जीवन के लिये तैयार किया जायँ। अब तो शिक्षण का अर्थ है कि बालक को ऐसे अवसर प्रदान किये जायँ जिससे बालक अपना अवस्था एवं प्रकृति के अनुरूप समस्याओं को हल करने की क्षमता प्राप्त करले। वह अपने आप योजना बना सके, उद्देश्य निर्धारित कर सके, प्रदत्त सामग्री इकठ्ठी कर सके, उसे सुसंगठित कर सके, वर्णन कर सके तथा फल को प्राप्त कर सके जिसे वह फिर प्रयोग में ला सके।

परन्तु वर्तमान शिक्षण से यह तात्पर्य भी नहीं है कि बालक को पाठ्य विषय सिखाये ही नहीं जायँ। वास्तव में पाठ्य-विषय का शिक्षण परम आवश्यक समझा जाता है। नवीन विचारधारा और प्राचीन विचारधारा में जो अन्तर है वह यह है, कि अब अध्यापक से आशा की जाती है कि वह शिक्षण

देते समय बालक की आवश्यकताओं और संभावनाओं को ध्यान में रखे और पाठ्य-विषय को इस प्रकार पढ़ाये कि बालक उसको सीखने में रुचि ले। अध्यापक सिखाने में बालकों को सक्रिय रखे और उन्हें पाठ्य-विषय के सम्बन्ध में बहुत कुछ स्वयं सीखने को प्रोत्साहित करे।

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि वर्तमान समय मे शिक्षण से तात्पर्य बालक का उचित पथ-प्रदर्शन करना है। दूसरे शब्दों में हम यह भी कह सकते हैं कि शिक्षण या अध्यापन ही पथ-प्रदर्शन है। श्रीमती भाटिया महोदया के अनुसार—"बालकों का पथ-प्रदर्शन सही वस्तुओं को सही प्रकार से सही समय पर सीखने के हेतु करना चाहिए।"[1] पथ-प्रदर्शन द्वारा ही बालक में सम्यक् चिन्तन, सम्यक् तर्क एवं समस्या समाधान की क्षमता का विकास हो सकता है। परन्तु पथ-प्रदर्शन उस सीमा तक नही होना चाहिए जिससे बालक की प्रेरणाओं, मौलिकताओं, आत्मबल तथा साहसिक वृत्ति का अन्त हो जाय।

शिक्षण का नवीन अर्थ बालक के संवेगात्मक अनुकूलन के सीखने के अर्थ में भी लिया जाता है। शिक्षण द्वारा बालक का बौद्धिक अथवा सामाजिक विकास ही प्राप्त करना पर्याप्त नहीं समझा जाता वरन् बालक को अपने संवेगों पर नियन्त्रण प्राप्त करना भी शिक्षण का कार्य माना जाता है। बालक का व्यवहार उसी समय उचित और सामाजिक होगा जब वह उचित भाव रखे। उचित भाव के लिए संवेगात्मक अनुकूलन नितान्त आवश्यक है। इस प्रकार शिक्षण का एक कार्य यह भी है कि वह संवेगों को प्रशिक्षित करे।

शिक्षण क्या है ?

हमने इस पुस्तक के प्रथम अध्याय में ही शिक्षण को एक कला की संज्ञा दी है। वास्तव में शिक्षण एक ऐसी कला है जो प्रगतिशील विज्ञान पर आधारित है। शिक्षण, वैज्ञानिक सामग्री प्रदान करने वाला होता हैं। मानव जाति के अनुभव में आने वाले विभिन्न क्षेत्र दर्शन, जीव-विज्ञान, समाज-शास्त्र, मनोविज्ञान, इतिहास इत्यादि प्रत्येक क्षेत्र में शिक्षण विज्ञान में वृद्धि करने वाला है।

शिक्षण-विज्ञान के मुख्य आधार हैं—शिक्षा मनोविज्ञान एवं प्रयोगात्मक मनोविज्ञान। ये दोनों मानव प्रकृति और मानव व्यवहार का अध्ययन करते हैं। किसी शैक्षणिक परिस्थिति में एक प्राणी कितना सीखता है, कैसे सीखता और क्यो सीखता है, ये इस सम्बन्ध में अनुसंधान करते हैं। ये विषय इस बात

1—Children must be guided to learn the right things in

का पता लगाने की चेष्टा करते हैं कि एक ही परिस्थिति में विभिन्न बालक क्यों विभिन्न गति से सीखते हैं। वे बालक के मानसिक, शारीरिक गतिवाही समाजिक एवं संवेगात्मक विकास का अध्ययन करके यह पता लगाने की चेष्टा करते हैं कि बालक का शिक्षण किस ढङ्ग से किया जाय जिससे वह शीघ्र और बिना निम्न कोटि का अथक परिश्रम किए हुए सीख सके। यह सब बालक सम्बन्धी तथा सीखने का प्रकृति सम्बन्धी ज्ञान जब एक अध्यापक को प्राप्त हो जाता है तो वह अपनी शिक्षण कला में शिक्षण विज्ञान से प्रेरणा लेकर कला में वृद्धि करता है।

वर्तमान समय में विज्ञान का प्रभाव प्रत्येक कला पर पड़ा है। एक चित्रकार अब रंग सम्बन्धी रासायनिक क्रिया से परिचित है तथा वह जानता है कि किस प्रकार से Optical illusion प्रगट हो जाते हैं अतएव वह अपनी कलाकृति में इन सब पर ध्यान रखता है और अपनी कला को उच्च कोटि की बनाने में समर्थ होता है। शिक्षण सम्बन्धी विज्ञान भी शिक्षक जो एक कलाकार है, उसको अपनी कला में महानता तथा सुन्दरता लाने में सहायता प्रदान करता है।

अध्यापन कार्य क्या है ?—शिक्षण यदि एक कला है तो अध्यापन कार्य एक प्रविधिक व्यवसाय है। अब हम यह नहीं कह सकते कि प्रत्येक व्यक्ति चाहे वह कोई भी क्यों न हो अध्यापन कार्य के योग्य है। अध्यापन कार्य तो एक वही व्यक्ति कर सकता है जो इस कला में प्रशिक्षित हो। यह कार्य तो एक दक्ष व्यक्ति ही कुशलता पूर्वक सम्पन्न कर सकता है। इसी बात को ध्यान में रखते हुए प्रशिक्षण विद्यालयों की स्थापना की गई है। यह विचार आजकल सर्वथा मान्य है कि एक प्रशिक्षित अध्यापक ही उचित शिक्षा प्रदान कर सकता है।

अच्छे शिक्षण के सिद्धांत[1]

अच्छे शिक्षण के कुछ मूल सिद्धान्त हैं। एक शिक्षक जो शिक्षण कला में पारंगत होना चाहता है उसे इन सिद्धान्तों पर विशेष ध्यान देना चाहिए। नीचे हम जिन सिद्धान्तों का वर्णन कर रहे हैं इनमें से अनेकों का वर्णन योकहाम तथा सिम्पसन महोदय ने बड़ी सुन्दरता से अपनी पुस्तक 'मार्डन मेथड्स एण्ड टेकनीक्स आफ टीचिङ्ग'[2] में किया है।

(१) अच्छा शिक्षण वह है जो सीखने में उचित पथ-प्रदर्शन कर सके:—

1—Principles of good teaching. 2—G. A. Yoakum, R. G. Simpson, "Modern Methods and Techniques of Teaching.

शिक्षण से तात्पर्य है पथ-प्रदर्शन। बालक को सीखने में जो उचित मार्ग दिखाये वही अच्छा शिक्षण है। हम अच्छा शिक्षण उसे नहीं कहेंगे जो बालक को सबसे अधिक ज्ञान प्रदान करे या उसे बुरा कार्य करने से रोके अथवा उसकी दूषित प्रवृत्तियों को दबाये वरन् यह वह है जो बालक को ऐसे मार्ग की ओर अग्रसर करे जिस पर चल कर वह ज्ञान अर्जित कर सके, अपने व्यक्तित्व का विकास कर सके और चरित्रवान बनें। अच्छा शिक्षण वह है जो बालक के मन के द्वार खोलने में सहायता प्रदान करे। वह बालक को संकीर्णता की परिधि से निकाल कर स्वतंत्र रूप से चिन्तन करने में पथ-प्रदर्शन करे। वह उसे अनुसंधान करने, उचित तर्क करने तथा अनुभवों से शिक्षा ग्रहण करने की प्रेरणा दे। योकहाम तथा सिम्पसन महोदय के अनुसार निपुण शिक्षण एक ऐसी नियंत्रित यात्रा है जो अनुभवो के संसार में की जाती है जिसमें अध्यापक यात्रा का संयोजक है। यात्रा की सफलता अध्यापक के पथ-प्रदर्शन पर निर्भर रहती है। अध्यापक के पथ-प्रदर्शन की आवश्यकता यात्रा के हर स्तर पर आवश्यक है। सबसे प्रथम तो इसकी आवश्यकता पड़ती है यात्रा के उद्देश्य निर्धारित करने में तथा योजना बनाने मे, दूसरे यात्रा के साधन जुटाने में, तीसरे यात्रा के समय उन स्थानों की ओर संकेत करने में जो बालकों की रुचि को आकर्षित करें, चौथे इन स्थानों या वस्तुओं को बालकों के लिए अर्थपूर्ण बनाने में, पांचवें यात्रियों के आराम और सुविधा की ओर ध्यान देने में और अन्त में उनको अपने अनुभवों का मूल्यांकन करने में ताकि वह इसी प्रकार की यात्रा पर पुनः जाने को तत्पर रहे।

(२) अच्छा शिक्षण दया तथा सहानुभूति के साथ किया जाता है :— अच्छे शिक्षण के लिए यह आवश्यक है कि बालको के साथ दया तथा सहानुभूति का व्यवहार किया जाय। वह शिक्षण जिसमें अध्यापक एक जल्लाद का रूप ले लेता है या जहाँ अध्यापक अपने को एक न्यायाधीश समझने लगता है जिसे हर अपराध के लिए लिखित नियमों के अनुसार सजा देना ही देना है तो वह कदापि भी अच्छा शिक्षण प्रदान नहीं कर सकता। उसे तो बालकों के साथ सहानुभूतिपूर्ण ढङ्ग से व्यवहार करना चाहिए। बालकों की त्रुटियों पर केवल सजा देना उसका कार्य नहीं है वरन् उनको सुधारना ही उसका कार्य है। अच्छे शिक्षण के लिए यदि न्याय प्रियता की भी आवश्यकता है तो केवल उस न्याय की, जो दया पर आधारित है न कि क्रूरता पर। एक सहृदय अध्यापक ही अच्छा शिक्षण प्रदान कर सकता है। वह व्यवस्था पर बल देते हुए भी बालकों में अपने प्रति उच्च भावनाओं को प्रोत्साहित कर सकता है।

(३) **अच्छा शिक्षण अच्छी योजना पर निर्भर है**[1] :—अच्छा शिक्षण देने के लिये शिक्षण देने की अच्छी योजना बनाना सबसे पहिले आवश्यक है। यदि योजना न बनाई जायगी तो शिक्षक क्या पढ़ाये, कैसे पढ़ाये, कब पढ़ाये ? इन सब प्रश्नों के उत्तर के सम्बन्ध में अस्पष्ट विचार रहेंगे। जब वह शिक्षण देगा तो एक ऐसे व्यक्ति की तरह व्यवहार करेगा जो अन्धेरे मे अपना रास्ता ढूँढ़ रहा है। शिक्षक शिक्षण देने से प्रथम ही योजना बना कर यह निश्चय कर लेता है कि उसे किस प्रकार शिक्षण देना है। क्या-क्या कठिनाइयाँ उसके समक्ष आयेंगीं और कैसे वह उनको हल कर पायेगा। उसके मस्तिष्क में शिक्षण प्रदान करने में आने वाली सब समस्याओं का विवरण होता है। परन्तु अच्छा शिक्षक वही है जो योजना बना कर भी उसको लचीला रखता है। वह समयानुसार या आवश्यकतानुसार योजना मे परिवर्तन ले आता है। वह योजना का स्वामी होता है न कि दास।

(४) **अच्छे शिक्षण में सहयोग की भावना होती है**[2]:—शिक्षण एक मार्गीय नहीं होता उसके लिए अध्यापक तथा विद्यार्थी के बीच सहयोग होना अनिवार्य है। यदि विद्यार्थी का सहयोग अध्यापक को प्राप्त नहीं है तो कभी भी सफल शिक्षण नहीं हो सकता। विद्यार्थी के सहयोग के लिए अध्यापक को चाहिए कि उसके लिये अच्छी क्रियाओं का आयोजन करे।

(५) **अच्छा शिक्षण निर्देशात्मक होता है**[3]:—अच्छे शिक्षण में बालक को निर्देश दिया जाता है न कि आदेश। कक्षा का वातावरण निर्देशात्मक होना चाहिए, वहाँ कठोर अनुशासन को अच्छा नहो समझा जाता। अध्यापक ऐसी स्थितियाँ उत्पन्न करता है जिनमें कार्य करके बालक अनेकों गुण ग्रहण कर लेता है। अध्यापक का आदर उसकी नेतागीरी की क्षमता, निर्देशात्मक स्थितियों को उत्पन्न करने की कुशलता, सहानुभूति पूर्ण व्यवहार तथा कठोर परिश्रम करने की आदत इत्यादि से होता है न कि उसका क्रूर अनुशासन प्रिय होने से।

(६) **अच्छा शिक्षण जनतन्त्रात्मक होता है**[4] :—अच्छे शिक्षण में जनतन्त्रात्मक वातावरण पर बल दिया जाता है। कक्षा में प्रत्येक विद्यार्थी को समानाधिकार दिये जाते हैं। अध्यापक बिना इस बात को ध्यान में लाये हुए कि बालक धनी परिवार या उच्च घराने से आता है या नीच घराने से है अथवा निर्धन है सब बालकों के साथ बराबरी का व्यवहार करता है। वह

1—Good teaching is based on good planning. 2—Good teaching is cooperative. 3—Good teaching is suggestive. 4—Good teaching is democratic.

यह भी समझता है कि उसके अधिकार और उसकी सुविधायें बालकों से अधिक नहीं हैं।

अच्छे शिक्षण का जनतन्त्रात्मक होने से यह भी तात्पर्य है कि शिक्षण द्वारा प्रत्येक बालक को समझा दिया जाता है कि यह उसका कर्त्तव्य है कि वह समाज कल्याण के लिये प्रगतिशील रहे। बालक समझ ले कि उसे अधिकार के साथ-साथ कर्त्तव्य भी करना है। वास्तव में अच्छा शिक्षण वही है जो बालकों में जनतन्त्रात्मक मनोवृत्ति को उत्पन्न कर दे और वह अपने प्रतिदिन के व्यवहार एवं आचरण में जनतन्त्रीय भावनाओं से प्रेरणा ग्रहण करे तथा उसमें जनतन्त्रीय विचारों को जीवन में उतारने की भावना का विकास हो।

(७) **अच्छा शिक्षण प्रेरणादायक होता है**[1]:—अध्यापक जब अपने व्यक्तित्व के प्रभाव से बालकों को अच्छे व्यवहार के लिए प्रेरणा देता है तब ही अच्छा शिक्षण होता है। शिक्षण देने में अध्यापक का कार्य अत्यन्त ही महत्वपूर्ण है। वह बालको को अच्छा वातावरण प्रदान करता है जिससे वे उत्तेजना ग्रहण करते है। वह उनकी क्रियाओं का ऐसा पथ-प्रदर्शन करता है कि बालक सीखने के लिए प्रेरणा ग्रहण करते हैं।

(८) **अच्छे शिक्षण में बालक के पूर्व अनुभवों को ध्यान में रखा जाता है**[2] :—शिक्षण वही अच्छा समझा जाता है जिसमे बालकों के पूर्व अनुभवों को ध्यान में रखा जाय। बालक को नई क्रियायें प्रदान करने मे यह आवश्यक है कि बालक की रुचियों, आदतों, अभिरुचियो इत्यादि के अनुसार ही इन्हें चुना जाय। नया ज्ञान उसी समय ठीक से सीखा जा सकता है जब उसका सम्बन्ध पूर्व ज्ञान से हो अथवा उसकी पृष्ठभूमि पहले से तैयार हो।

(९) **अच्छे शिक्षण में अध्यापक अपने पूर्व अनुभवों से लाभावन्ति होता है**:—अध्यापक को अच्छा शिक्षण प्रदान करने के लिए यह आवश्यक है कि वह अपने शिक्षण देने के पूर्व अनुभवों से सीखे और अपनी शिक्षण देने की विधि मे सुधार लाये। एक अध्यापक जो प्रशिक्षण विद्यालय से उत्तीर्ण होकर निकला है वह केवल शैक्षिक सिद्धान्तों एवं विभिन्न शैक्षणिक विधियों से ही परिचित हो पाता है उसे इनको प्रयोग में लाने के बहुत कम अवसर प्राप्त होते है। उसको शिक्षण का वास्तविक अनुभव तो उसी समय होता है जब वह किसी विद्यालय मे जाकर एक सहायक अध्यापक के रूप मे कार्य करने लगता है। उसके शिक्षा सम्बन्धी विचार उसी समय मँजकर स्पष्टता प्राप्त करते हैं। वही अध्यापक उचित शिक्षा प्रदान कर सकता है जो इस बात के लिये सदैव

1—Good teaching is stimulating. 2—Good teaching takes into account the past experiences of the children.

प्रयत्नशील रहे कि वह अपने शैक्षिक अनुभवों के आधार पर अपनी शिक्षण विधि में सुधार लाये।

(१०) **अच्छा शिक्षण प्रगतिशील होता है**[1]:—अच्छे शिक्षण की विशेषता यह भी है कि यह प्रगतिशील होता है। बालक की व्यक्तिगत प्रगति तथा सामाजिक उन्नति अच्छे शिक्षण का ध्येय होता है। व्यक्तिगत रूप में बालक की रुचियों, आदतों, योग्यताओ, कुशलताओं इत्यादि मे प्रगति होती है। सामाजिक रूप में शिक्षण का ध्येय यह होता है कि व्यक्ति की सामाजिक परिस्थितियों के बीच उन्नति की जाय।

(११) **अच्छे शिक्षण में बालकों की कठिनाइयों का निदान किया जाता है**[2]:—बालक सीखने में त्रुटियाँ क्यो करता है? क्यों वह एक विशेष स्थान पर बार-बार अटक जाता है? क्यों वह गणित सीखने में असफल है जब कि भाषा शीघ्र सीख लेता है? इन और इसी प्रकार के प्रश्नों का उत्तर एक कुशल अध्यापक ढूँढने की चेष्टा करता है। वह बालकों की कठिनाइयों का निदान करता है और उन्हे दूर करने का प्रयास करता है। अच्छा शिक्षण वही है जिसमें बालकों की कठिनाइयो का निदान ठीक-ठीक ढंग से किया जाता है।

(१२) **अच्छा शिक्षण उपचारपूर्ण होता है**[3]:—अच्छे शिक्षण में न केवल निदान होता है अपितु उपचार भी होता है। वर्तमान शिक्षण-कला तथा मापन विधियों की प्रगति ने यह सम्भव कर दिया है कि उपचार के प्रभावशाली उपाय किये जा सकें। एक अध्यापक उसी समय योग्य कहा जा सकता है जब उसे बालकों की व्यक्तिगत रूप से तथा सामूहिक रूप से कठिनाइयों का निदान करने तथा उपचार करने की नवीनतम विधियों की जानकारी है और वह उनका कुशलता पूर्वक प्रयोग कर सकता है।

(१३) **अच्छे शिक्षण में बालकों के ज्ञान का मूल्यांकन ठीक ढग से किया जाता है**:—हमारे विद्यालयों में अच्छा शिक्षण न मिलने का सबसे प्रमुख यही कारण है कि सम्पूर्ण शिक्षण पद्धति पर परीक्षा का अधिपत्य है। क्या पढ़ाया जाय? कैसे पढ़ाया जाय? किस विषय पर बल दिया जाय? किन पाठ्य-पुस्तकों को पढ़ाया जाय? इत्यादि सब प्रश्नों का उत्तर इसी दृष्टिकोण से दिया जाता है कि परीक्षा में बालक उत्तीर्ण हो सके। इसका फल यह होता है अध्यापक बालक को केवल उसी ज्ञान को प्रदान करना अपना कर्त्तव्य समझते हैं जो परीक्षा के दृष्टिकोण से महत्वपूर्ण है और बालक सस्ते बाजार के गैस पेपर या सस्ती पुस्तकें ही केवल पढ़ते हैं। अतएव अच्छे शिक्षण के लिए

1—Good teaching is progressive. 2—Good teaching diagnoses difficulties. 3—Good teaching is remedial.

यह आवश्यक है कि बालकों के अर्जित ज्ञान के मूल्याङ्कन की विधियों में सुधार लाया जाय। वर्तमान काल में इस ओर बहुत प्रगति की गई है और मूल्यांकन विधियों में अनेकों सुधार लाये गये हैं। आज सबसे बड़ी आवश्यकता यह है कि इन सुधारों को हमारे देश के विद्यालयों मे भी व्यवहार में लाया जाय।

(१४) **अच्छा शिक्षण बालक में आत्म-विश्वास उत्पन्न करता है** :—अच्छे शिक्षण का ध्येय बालक में आत्म-विश्वास का उत्पन्न करना होता है, जिससे बालकों में स्वतन्त्रता पूर्वक चिन्तन करने तथा अपनी समस्याओं को स्वय हल करने की क्षमता आ जाय। वह शिक्षण कदापि अच्छा नही समझा जाता जिसमें बालक को मौलिकता से साथ नये-नये कार्यों को करने और साहस की भावना को दबा दिया जाय जिससे वह अपना आत्म-विश्वास खो बैठे।

सीखने का स्वरूप[1] :

व्यक्ति जिस समय से जन्म लेता है उसी समय से सीखना प्रारम्भ कर देता है और वह जीवन पर्यन्त सीखता ही रहता है। बालक जन्म के समय नितान्त असहाय होता है और उसका जीवन दूसरों पर निर्भर रहता है किन्तु वह धीरे-धीरे अपने को वातावरण के अनुकूल व्यवस्थापित करने का प्रयत्न करता है। ये प्रयत्न ही उसके सीखने की प्रक्रिया के चरण बिन्दु है।

प्रत्येक प्राणी कुछ ऐसी जन्मजात प्रवृत्तियों को लेकर उत्पन्न होता है जो उसकी प्रारम्भिक प्रतिक्रियाओं की दिशा निर्धारित करती है। प्राणी इन्हीं प्रतिक्रियाओं के आधार पर अपने को उस सरल वातावरण के अनुकूल व्यवस्थित करता हैं जो उसे जन्म के समय अपने चारों ओर मिलता है। किन्तु मानव तो जटिल परिस्थितियों में रहता है अत: उसके व्यवहार को दिशा देने वाली ये जन्मजात प्रवृत्तियाँ अपूर्ण सिद्ध होती हैं। उसे अपनी प्रतिक्रियाओं एवं व्यवहार को अधिक व्यापक और वातावरण को उपयुक्त बनाने के लिये जीवन के अनुभव से लाभ उठाना पड़ता हैं। उसे कुछ सीखना पड़ता है। इस अर्थ में हम सीखने की परिभाषा इस प्रकार देते हैं कि—"**वातावरण के प्रति उपयुक्त प्रतिक्रिया को अपनाने की प्रक्रिया ही सीखना है।**"

बर्नहर्ट महोदय द्वारा जो सीखने की परिभाषा दी गयी है वह इस प्रकार है—"**सीखना व्यक्ति के कार्यों में एक स्थायी रूपान्तर लाना है जो निश्चित परिस्थितियों में किसी इष्ट को प्राप्त करने अथवा किसी समस्या को सुलझाने के प्रयास में अभ्यास द्वारा लाया जाता है**[2]।" सीखना एक क्रियाशील प्रक्रिया है जो व्यक्ति के अपने कार्यों के ऊपर निर्भर रहती है, जब कि मानसिक अभि-

---

1—The Nature of Learning. 2—Bernhardt.

वृद्धि अथवा प्रौढ़ता विकास की अवस्थाएँ हैं व्यक्ति का जिनसे अपना थोड़ा ही सम्बन्ध रहता है।

गेट्स महोदय के अनुसार 'अनुभव द्वारा व्यवहार में रूपान्तर लाना ही सीखना है[1]।" व्यक्ति को क्या सीखना है? इसका निश्चय उसके शारीरिक स्वास्थ्य एवं परिस्थितियों की आवश्यकता पर आधारित होता है। मनुष्य पर वातावरण का बहुत अधिक प्रभाव पडता है, वह अपने चारों ओर की परिस्थितियों से प्रभावित हुए बिना बच नहीं सकता। वह स्वभाव से ही आनम्य प्रवृत्ति वाला होता है। उसकी प्रतिक्रिया की कुछ निश्चित पित्रागत दिशाएँ होती है। "उसकी रुचि, रुझान, निपुणता, योग्यता एवं श्लाघाशक्ति सभी सीखने की प्रक्रिया की ही उपज है।"

सीखने की उपरोक्त परिभाषाओं के आधार पर यह कहा जा सकता है कि सीखना केवल ज्ञान का अर्जन नहीं है। सीखने के सम्बन्ध में प्राचीन दृष्टिकोण है कि बालक एक ऐसी पटिया है जो कोरी है तथा उस पर चाहे जैसे लिखा जा सकता है यदि लिखने वाला योग्य हो और उस पर कठोरता से लिखने के लिये सदैव तत्पर रहता हो आज यह सिद्धान्त सर्वथा अमान्य सिद्ध हो चुका है। इस दृष्टिकोण को अपनाने वाले अध्यापक बालक को शिक्षा देते समय उसे एक निष्क्रिय श्रोता का ही स्थान देते थे। वे यह समझते थे कि सिखाने के लिए केवल दो बातें ही आवश्यक है—एक तो विषय सम्बन्धी ज्ञान और दूसरे कठोर अनुशासन रखने की क्षमता। विद्यार्थी में भी दो मुख्य गुण होना ही आवश्यक माना जाता था—एक तो तीव्र स्मरण शक्ति और दूसरे अध्यापक के सम्मुख चुपचाप, बिना किसी प्रकार की क्रियाशीलता दिखाये बैठ कर पाठ को सुनना और रट लेना। परन्तु अब सीखने के मनोवैज्ञानिक अध्ययन ने इस दृष्टिकोण को बहुत ही दूषित सिद्ध कर दिया है।

अब सीखना एक उद्देश्यपूर्ण प्रक्रिया माना जाता है। इसे क्रियाशीलता की संज्ञा दी जाती है। सीखने में मानसिक तथा शारीरिक दोनों प्रकार की सक्रियता होती है जिसका केन्द्र प्राणी की आन्तरिक आवश्यकताएँ होती है। सीखना बिना स्वः क्रिया के संभव नही माना जाता। मानव आत्म क्रिया द्वारा ही सीखता है। बाहरी आदेश या बाहरी रूप से जो ज्ञान उस पर थोपा जाता है वह उसको सीखने में कोई भी सहायता नही पहुँचा सकता।

सीखना न केवल व्यष्टिगत प्रक्रिया है वरन् इसकी प्रकृति सामाजिक भी है। सीखने के द्वारा जब हम वातावरण के प्रति उपयुक्त प्रतिक्रिया को अप-

---

1—Gates & others : Educational Psychology, Mc Grow Hill, p. 288.

नाना कहते हैं तब हम इस शब्द का उपयोग सामाजिक दृष्टिकोण से भी करते हैं। वातावरण में अनेकों दूसरे व्यक्ति एवं समूह होते हैं। व्यक्ति को इनके साथ व्यवस्थापन करना होता है। वह सीखता है कि परिवार में, अपने मित्रों के साथ विद्यालय में या खेलने के मैदान में किस प्रकार का व्यवहार करना चाहिए। यह सब सीखने के द्वारा ही उसमें सामाजिकता की भावना का विकास होता है।

सीखने के प्रकार :

सीखने के मुख्य प्रकार हैं—निरीक्षण से सीखना, सूझ से सीखना, अनुकरण से सीखना तथा प्रयास एवं त्रुटि से सीखना। यहाँ हमारा उद्देश्य इन प्रकारों एवं विधियों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करना नहीं है वरन् उन तत्वों पर प्रकाश डालना है जो एक अध्यापक को कक्षा-शिक्षण में व्यावहारिक रूप से जानना आवश्यक है।

(१) **निरीक्षण से सीखना**—निरीक्षण द्वारा सीखने में किसी वस्तु पर अवधान केन्द्रित किया जाता है। शिक्षा के क्षेत्र में निरीक्षण पद्धति का लाभ उठाने के लिए सीखने की क्रिया सर्वप्रथम मूर्त वस्तुओं से प्रारम्भ करनी चाहिए। बालकों को सिखलाने के लिये शिक्षकों को प्रतीकों का प्रयोग नहीं करना चाहिए क्योंकि बालकों का अवधान मूर्त वस्तु पर शीघ्र केन्द्रित होता है, अमूर्त, अशरीरी एवं सूक्ष्म वस्तुओं पर वे अपना अवधान केन्द्रित नहीं कर सकते।

(२) **सूझ से सीखना**—लगभग सभी सीखने की क्रियाओं में सूझ की आवश्यकता पड़ती है, विशेष रूप से उस समय जबकि समस्या के सर्वाङ्गीण स्वरूप को समझने में बाधा उपस्थित होती है। किन्हीं समस्याजन्य परिस्थितियों में सूझ का अभिप्राय होता है तत्संबन्धी पूर्ण हल को प्रस्तुत करने की आवश्यक क्षमता। दूसरे शब्दों में सूझ व्यक्ति को उस समय सहायता देती है जब गन्तव्य तक पहुँचने में विविध बाधाएँ आती हैं। उस समय किसी वस्तु विशेष सम्बन्धी ज्ञानोपार्जन करने में बाधाओं को हटाकर सूझ, सीखने में सहायता पहुँचाती है।

सूझ द्वारा विद्यार्थी को सीखने में सहायता प्रदान करने के लिए अध्यापक को अधोलिखित बातों को ध्यान में रखना चाहिए :—

(i) **संपूर्ण समस्या का प्रस्तुतीकरण**[1]—चूँकि सूझ के द्वारा सीखने में विद्यार्थी को समस्या का हल स्वयं निकालना पड़ता है अतः अध्यापक का यह

1—Presentation of the whole problem.

कर्त्तव्य है कि वह विद्यार्थी के समक्ष समस्या को समग्र रूप से प्रस्तुत करे। जैसे बीजगणित में अध्यापक को पूरा प्रश्न या समस्या ही प्रस्तुत करनी चाहिए उसके कुछ संख्या खंड या सूत्र मात्र नहीं।

(ii) **सीखने में गतिशीलता**[1]—समस्या का प्रारम्भिक प्रस्तुतीकरण और सीखने में अनवरत विकास की क्रिया सीखने वाले की तत्परता तथा शिक्षण के अनुकूल होना चाहिए। सीखने में गतिशीलता से तात्पर्य है सीखने वाले के द्वारा प्रारम्भ से सीखने की प्रक्रिया को अनवरत रूप से बनाये रखने के लिए उसके प्रति ज्ञानात्मक एवं संवेगात्मक रूप से तत्पर रहना। यदि विद्यार्थी में सीखने की क्रिया को अनवरत रूप देने के प्रति तत्परता नहीं है तो अध्यापक का कर्त्तव्य है कि उसमें इस भावना को जाग्रत करे।

(iii) **ज्ञानात्मक एवं संवेगात्मक तत्परता**[2]—ज्ञानात्मक तत्परता से अभिप्राय है कि विद्यार्थी का पूर्व ज्ञान पर्याप्त मात्रा में है जिसके द्वारा वह समस्या को सफलतापूर्वक हल कर सकता है। संवेगात्मक तत्परता से तात्पर्य है कि विद्यार्थी सीखने की परिस्थितियों को ग्रहण करने के लिये पूर्ण तैयार है। उसके मन में उस सीखने की प्रक्रिया के प्रति कोई भी निरोधात्मक वृत्ति अथवा पूर्वधारणा नहीं है जो समस्या को सम्पूर्ण रूप से या खण्ड-खण्ड करके सीखने में बाधा उपस्थित कर सके। एक बालक को परमाणु के टूटने एवं उसके द्वारा परमाणु-बम आदि के निर्माण का सिद्धान्त तब तक नहीं सिखाया जा सकता जब तक कि तत्सम्बन्धी सरल सिद्धान्तों को प्रथम न सिखा दिया जाय। इसी प्रकार जो बालक स्कूल जाने में संवेगात्मक धक्के का अनुभव करता है वह तब तक उस पाठशाला में कुछ नहीं सीख सकता जब तक कि उसे वह पाठशाला एक भयावह स्थान के बदले आनन्द और क्रीड़ा का स्थल न प्रतीत हो। अतः सूझ द्वारा सीखने में तत्परता की परम आवश्यकता होती है।

(iv) **सफलता प्राप्ति के लिये अध्यापक को पर्याप्त सहायता देनी चाहिए**—सूझ से सीखने में बालक को अध्यापक की सहायता की अत्यन्त आवश्यकता होती है। अध्यापक की सहायता से हमारा तात्पर्य यह नहीं है कि अध्यापक बालक को समस्याओं का हल करके बतलादे वरन् समस्या के सम्भव हल को प्राप्त करने के लिये सीखने का उचित वातावरण तैयार करे तथा जब तक विद्यार्थी अपनी सूझ से समस्या का हल ढूँढ न निकाले उसे उसके लिये बराबर प्रोत्साहित करता रहे और उसकी रूचि को समस्या में बनाये रखे। सूझ द्वारा सीखने में अध्यापक दूसरे प्रकार से भी सहायता पहुँचाता है। वह बालकों के समक्ष इस प्रकार से समस्या को प्रस्तुत करता है कि बालकों की जिज्ञासा

1—Pacing. 2—Cognative and Emotional Readiness.

जाग्रत हो जाती है और जिज्ञासा को पूर्ण करने के लिये बालक उसमें दत्त-चित हो जाते हैं। अवधान केन्द्रित करते हैं और उसका हल ढूंढ़ निकालते हैं।

(३) **अनुकरण द्वारा सीखना**[1]—अनुकरण में दूसरे व्यक्तियों के द्वारा किये गये कार्यों की पुनरावृत्ति की जाती है। अनुकरण प्राय: जान-बूझकर और कभी-कभी अनजान में भी होता है। हम बिना जाने ही अज्ञात रूप से दूसरों का अनुकरण करते हैं। शिक्षा में हम ज्ञात रूप से सप्रयास अनुकरण करते हैं जैसे किसी कौशल को प्राप्त करने में, लिखने में तथा चित्र बनाना सीखने आदि में सभी में ज्ञात अनुकरण किया जाता है। वास्तव में 'अनुकरण' शिक्षा के क्षेत्र में एवं सम्पूर्ण जीवन भर महत्वपूर्ण नैतिक, बौद्धिक और सामाजिक सम्पन्न है।

(४) **प्रयास एवं त्रुटि से सीखना**[2]—किसी भी बात को एकदम सीखना सम्भव नहीं। सीखने की क्रिया धीरे धीरे एवं क्रमश: होती है। गलत प्रति-क्रियाओं को प्राणी धीरे-धीरे छोड़ता जाता है और ठीक एवं सफल प्रति-क्रियाओं को चुनकर उन्हें ही सुसंगठित करता जाता है और अपनाता है। यह क्रम तब तक चलता रहता है जब तक उसे तुष्टि नहीं मिलती। यह ही प्रयास एवं सफलता से सीखना या सफल प्रतिक्रियाओं के चुनाव द्वारा सीखना कहलाता है।

सम्पूर्ण अध्यापक वर्ग के लिये, विशेष रूप से उन शिक्षकों के लिये जो विज्ञान, गणित एवं समाज-विज्ञान की शिक्षा देते हैं, यह जानना आवश्यक है कि वे केवल प्रयास एवं त्रुटि की विधि की जानकारी मात्र न रखें वरन् अपने विद्यार्थियों को इस विधि को अपनाने और प्रयोग में लाने पर भी बल दें। उन्हें विद्यार्थियों को ऐसी समस्याएँ एवं प्रश्न हल करने के लिये देना चाहिये जिनकी हल करने की प्रणाली उन्हें मालूम न हो। इस प्रकार विद्यार्थियों को अपना लक्ष्य तो मालूम होगा किन्तु उसे प्राप्त करने की विधि नहीं। अत: अध्यापक प्रयास और त्रुटि की विधि द्वारा विद्यार्थियों में मौलिकता एवं आत्म-निर्भरता का विश्वास जाग्रत कर देंगे तथा वे जीवन में आने वाली उन परिस्थितियों एवं समस्याओं को सरलतापूर्वक हल कर सकेंगे जिनका लक्ष्य तो उन्हें मालूम होगा किन्तु प्राप्त करने का रास्ता नहीं। अत: इस प्रकार प्रयास एवं त्रुटि की सीखने की विधि का उपयोग उत्तम ढङ्ग से किया जा सकता है।

अध्यापक के लिये आवश्यक नहीं है कि वह उपरोक्त शिक्षण विधि और सीखने के प्रकार का उपयोग हर समय एक साथ करें वरन् स्थिति तथा सम-यानुकूल जसे उस प्रकार या प्रकारों को अपनाना चाहिए जो सबसे सरलता तथा

1—Imitation, 2—Learning by trial and error.

सुगमता से बालकों को सिखाने में सहायक हो। शिक्षण में विभिन्न विषयों को पढ़ाते समय सीखने का सर्वाधिक उपयुक्त वही प्रकार होगा जो इच्छित फल की प्राप्ति में सहायता प्रदान करता हो। अतः शिक्षण का प्रकार विषयों के अनुकूल बदलता रहना चाहिए।

सीखने को निबद्ध करने वाले तत्त्व[1] :

एक अध्यापक जो विद्यार्थियों को शिक्षा प्रदान करता है उसे सीखने को निबद्ध करने वाले तत्त्वों के सम्बन्ध में जानकारी रखना भी आवश्यक है। इस जानकारी द्वारा ही वह सिखाने की क्रिया का आयोजन उचित ढङ्ग से कर सकेगा। सीखने की क्रिया में तीन प्रमुख तत्त्व हैं जिन्हें हम इस प्रकार कह सकते हैं—(१) मनोवैज्ञानिक तत्त्व[2], (२) शारीरिक तत्त्व[3], तथा (३) वातावरण सम्बन्धी तत्त्व[4]।

(१) **मनोवैज्ञानिक तत्त्व**—**प्रेरणा** :—शिक्षा में प्रेरणा वह कला है जो बालक के अन्दर रुचि उत्पन्न करती है। अध्यापक उचित शिक्षा उसी समय प्रदान कर सकता है जब वह बालक को सीखने के लिये प्रेरणा प्रदान कर सके। प्रेरकों की शिक्षा में महान् उपयोगिता है किन्तु उनका उचित प्रयोग उचित अवसर पर बहुत ही आवश्यक है। वे प्रेरक जो शिक्षा की दृष्टि से उपयोगी है—रुचि, व्यवहार, आवश्यकताएँ और प्रयोजन हैं।

(२) **शारीरिक तत्त्व**:—सीखने पर प्रभाव डालने वाले प्रमुख शारीरिक तत्त्व हैं:—(i) संवेदना तथा प्रत्यक्षीकरण—सीखने की क्रिया संवेदनाओं के सम्बन्ध की पूर्णता पर आश्रित रहती, है (ii) शारीरिक अवस्था—शारीरिक अवस्था में मुख्य तत्त्व हैं—आयु, तापमान, दिन का समय, मादक पदार्थ और थकान इत्यादि। थकान दोनों प्रकार की हो सकती है शारीरिक और मानसिक। यहाँ यह याद रखना आवश्यक है कि थकान के कारण, बाह्य तथा आन्तरिक दोनों ही हो सकते हैं। अध्यापक को यह जानना चाहिए कि मानसिक थकान सरलता से उत्पन्न नहीं होती है। जिसे हम मानसिक थकान कहते हैं वह बहुधा ऊबना होता है। बालक में जब रुचि की कमी हो जाती है या उसका मन कार्य की तरफ से हट जाता है तो हम इसे ही मानसिक थकान की संज्ञा देने लगते हैं। एक और बात है वह यह कि मानसिक थकान इस बात पर निर्भर नहीं रहती कि सीखने में दिन का समय क्या है। रात्रि के समय भी हम उसी लगन से कोई बात सीख सकते हैं जितना कि प्रातः के समय।

1—Factors that condition learning. 2—Psychological factor. 3—Physiological factor. 4—Environmental factor.

कुछ व्यक्तियों की यह धारणा होती है कि नशीली वस्तुएँ सीखने की योग्यता को बढ़ा देती हैं। अध्यापक को याद रखना चाहिए कि यह धारणा एक दम निर्मूल हैं। नशीली वस्तुएँ कुछ काल के लिए उत्तेजना देने में तो सफल होती हैं किन्तु सीखने की योग्यता स्थायी रूप से उनके द्वारा नहीं बढ़ सकती।

(३) **वातावरण सम्बन्धी तत्त्व**:—सीखने में वातावरण बहुत सीमा तक बालक में कार्य-शक्ति उत्पन्न करने में सहायक होता है। उच्च तापमान और नमी तथा अत्यधिक शीत बालक की कार्य-शक्ति को कम कर देते हैं। परन्तु यदि प्रेरणायें दृढ़ हैं तो वातावरण की दूषित दशाओं में भी सीखने में विजय प्राप्त की जा सकती है।

हमने ऊपर सीखने सम्बन्धी नवीन दृष्टिकोण पर प्रकाश डाला है और सिखाने में जिन बातों पर विशेष ध्यान रखना चाहिए उनके सम्बन्ध में संक्षेप में वर्णन किया है। यहाँ हम सीखने के विभिन्न सिद्धान्त और सीखने सम्बन्धी अन्य तथ्य, जैसे—सीखने का स्थानान्तरण, सीखने में स्मृति का कार्य, समस्या का हल द्वारा सीखना इत्यादि के सम्बन्ध में कुछ नहीं कहेंगे। इसमें संदेह नहीं कि शिक्षण-कला के लिये इनकी जानकारी आवश्यक है परन्तु इनका समीचीन विवेचन प्रस्तुत पुस्तक के क्षेत्र से बाहर की वस्तु है। विद्यार्थी को चाहिए कि इन तथ्यों के अध्ययन के लिये शिक्षा मनोविज्ञान की किसी अच्छी पुस्तक का अध्ययन करे। अब हम अन्त में सीखने की विशेषताओं की ओर एक बार फिर ध्यान देंगे। इन विशेषताओं का योकहम एवं सिम्पसन महोदय ने अत्यन्त रोचक ढङ्ग से अपनी पुस्तक 'माडर्न मेथड्स एण्ड टेकनीक्स आफ टीचिङ्ग[1]' में वर्णन किया है।

सीखने की सामान्य विशेषताएँ[2]

वर्तमान मनोवैज्ञानिक सीखने की सामान्य विशेषताओं का वर्णन इस प्रकार करते हैं—

(१) **सीखना एक अभिवृद्धि है**[3]:—सीखना बालक के वातावरण सम्बन्धी ज्ञान में वृद्धि करता है। व्यक्ति की अभिवृद्धि सदैव होती है चाहे वह शारीरिक रूप में हो चाहे मानसिक रूप में। यह अभिवृद्धि उसी समय रुकती है जब कि वातावरण स्थायित्व लिये हो या व्यक्ति को वे अनुभव न मिल पायें जो उसकी

1—G. A., Yoakam and Robert, G. Simpson, "Modern Methods and Techniques of Teaching", N. Y., Macmillan, 1951. 2—General characteristics of Learning. 3—Learning is growth.

अभिवृद्धि के लिये आवश्यक हैं। जितने धनी अनुभव होगें और जितना सुन्दर वातावरण होगा व्यक्ति की अभिवृद्धि उतनी ही अच्छी होगी। अतएव प्रभवशील सीखने के लिये सम्पन्न वातावरण की आवश्यकता है जिसमें व्यक्ति को अच्छे अनुभव प्राप्त हो सकें। अच्छी शिक्षा उसी समय प्रदान हो सकती है जब व्यक्ति को ऐसा नियंत्रित वातावरण प्रदान किया जाय जो उसकी अभिवृद्धि के लिये उचित हो।

(२) **सीखना व्यवस्थापन है**[1] :—सीखने द्वारा व्यक्ति समाज में अपना व्यवस्थापन कई प्रकार से करता है। वातावरण सरलतम हो या जटिल, व्यक्ति को उसमें व्यवस्थापन करना सीखना होता है। वर्तमान समय में बालक अपने को अत्यन्त जटिल वातावरण में पाता है। विज्ञान के विकास के कारण अनेकों ऐसी वस्तुएँ उसके चारों ओर हैं जिनके सम्बन्ध में उसे अपने जीवन को अच्छा बनाने के लिये समझना आवश्यक है। इसके अतिरिक्त उसके सामाजिक सम्बन्ध भी गूढ़ हो गये हैं जिनमें व्यवस्थापन सीखना भी उसके लिये आवश्यक है।

(३) **सीखना अनुभवों का संगठन है** :— मानव के सीखने और पशु के सीखने में एक बड़ा अन्तर यह है कि मानव अपने अनुभवों से लाभ उठाने की क्षमता रखता है जबकि पशुओं में यह क्षमता बिलकुल नहीं होती। इसी कारण मानव के सीखने में यह आवश्यक है कि उसे अपने अनुभवों का विश्लेषण करने में अभ्यास दिया जाय जिससे वह उनका अर्थ समझ सके और उनके प्रकाश में अपने व्यवहार एवं आचरण में सुधार ला सके। इस प्रकार सीखने के द्वारा व्यक्ति का वातावरण सम्बन्धी ज्ञान बढ़ता है और वह वातावरण पर नियंत्रण रखने में सफल होता है। जैसे-जैसे उसे नये अनुभव प्राप्त होते जाते हैं वह बराबर अपने ज्ञान को सुसंगठित करता रहता है।

(४) **सीखना उद्देश्यपूर्ण है**[2] :—सीखना उसी समम अधिक प्रभावशाली होता है जब उसमें कुछ प्रयोजन होता है। जितना महत्वपूर्ण व्यक्ति के लिए प्रयोजन होगा उसी के अनुसार उसका सीखना होगा। उद्देश्य रहित सीखना अस्थायी होता है और वह बालकों को कोई लाभ नहीं पहुँचा सकता।

(५) **सीखना कौशल तथा सृजनात्मक है**[3]:—सीखने का यांत्रिक सिद्धान्त उचित नहीं प्रतीत होता है। वास्तव में छोटे से छोटा कार्य सीखने में भी कुछ बुद्धि की आवश्यकता होती है। यदि एक ही कार्य को पुनः दुहराया जाता है फिर भी दोनों समय में कार्य की स्थिति में कुछ न कुछ अन्तर आ जाता है।

1—Learning is adjustment. 2—Learning is purposeful. 3—Learning is intelligent and creative.

इस अन्तर के कारण ही दोबारा दोहराने में बुद्धि का उपयोग आवश्यक रूप से होता है। जैसे एक ही पाठ को दोबारा दोहराने में जितना पाठ याद है, जो याद करने का समय है, जिस प्रकार से दोहराया जाता है सब के प्रति अनुकूलन चतुराई के ढंग से करना आवश्यक होता है। अतएव हर प्रकार के सीखने में स्थिति का कुशलतापूर्वक अवलोकन करना आवश्यक है। मानव के सीखने का यह रूप सृजनात्मक विचार को संभव बनाता है। सीखने के सम्बन्ध में अब यह विचार है कि सीखने के द्वारा पुराने विचारों से नये विचारों का सृजन होता है तथा व्यक्ति स्थिति में रूपान्तर लाता है एवं स्वयं भी उससे रूपान्तरित होता रहता है।

(६) **सीखना सक्रिय होता है**[1] :—सीखना क्रियाशील होता है। सीखने के सक्रिय होने के कारण ही सीखने वाले की रुचि जागृत होती है। सक्रिय सीखना उद्देश्य पूर्ण होता है। व्यक्ति स्वयं सक्रिय होकर कुछ प्रयोजनों को सामने रख कर जब सीखता है तभी उसका सीखना प्रभावशाली होता है।

(७) **सीखना व्यक्तिगत तथा सामाजिक दोनों है**[2]:—सीखने की प्रक्रिया व्यक्तिगत रूप में उस सीमा तक होती है जिस तक कि व्यक्ति पर वातावरण के उत्तेजक प्रभाव डालकर उसके व्यक्तिगत व्यवहार में रूपान्तर लाते हैं। प्रत्येक व्यक्ति को स्वयं सीखना होता है। दूसरों के सीखने के द्वारा उसके सीखने पर बहुत ही सीमित दकाओं में प्रभाव पड़ता है फिर भी सीखना केवल व्यक्तिगत ही नहीं होता, इसका स्वरूप सामाजिक भी होता है। सीखना इस कारण सामाजिक कहलाता है क्योंकि सामाजिक वातावरण में किसी न किसी रूप से व्यक्ति द्वारा प्रतिक्रिया हुए बिना सीखना असंभव है।

(८) **सीखना वातावरण की एक उपज है**[3] :—सीखना वातावरण पर निर्भर रहता है। मानव प्राणी वातावरण की विभिन्न स्थितियों से प्रभावित होता है। उसका तन्तु संस्थान इस प्रकार का होता है कि वह वातावरण के उत्तेजकों को ग्रहण करके उनके अनुकूल प्रतिक्रिया करता है। परन्तु यह प्रतिक्रिया यान्त्रिक नहीं होती। मानव की प्रतिक्रियाओं में अनुभवों के आधार पर परिवर्तन हो जाता है और इस प्रकार वह न केवल वातावरण में अपने को व्यवस्थापित करना ही सीखता है वरन् उसमें सुधार लाने के हेतु भी तैयार हो जाता है।

(९) **वास्तविक सीखना :—सीखने वाले के आचरण पर प्रभाव डालता**

1—Learning is AcTive. 2—Learniug is both Individual. and Social, 3—Learning is a product of the environment,

है[1]:—वर्तमान समय में वास्तविक सीखने से तात्पर्य इस प्रकार से सीखना है जो व्यक्ति के आचरण पर सुन्दर प्रभाव डाले। इस प्रकार के सीखने से तात्पर्य यह है कि व्यक्ति अपने जीवन में अनुकूलन करना सीख ले। वह दूषित कार्य करने की विधियों को छोड़ दे एवं दूषित विचारों को अपने मन से बाहर निकाल दे। इस प्रकार का सीखना अत्यन्त मूल्यवान है इसमें कोई संदेह नहीं।

उपरोक्त सीखने के सिद्धान्तों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि सीखने का नवीन दृष्टिकोण पुरातन दृष्टिकोण से बहुत भिन्न है। इस समय आवश्यकता यह है कि सिखाने और सीखने के नये दृष्टिकोण के अनुरूप ही शिक्षण देने की उत्तम विधियों को हमारे अध्यापक अपनायें। हम आगे के अध्यायों में इन्हीं आधारों को जिनका इस पाठ में वर्णन किया गया है, मूल रूप से लेकर इसका वर्णन करेंगे कि अध्यापक द्वारा किस प्रकार से शिक्षण दिया जाय।

सारांश

शिक्षण वह साधन है जिसके द्वारा जाति के अनुभवी सदस्य अपरिपक्व तथा शिशु सदस्यों को जीवन में अपना व्यवस्थापन करने में पथ-प्रदर्शन करते हैं। बालक का शिक्षण विद्यालय में आने से पहिले ही आरम्भ हो जाता है और यह विद्यालय शिक्षण के पश्चात् भी चलता रहता है। विद्यालयों में बालकों को अध्यापकों द्वारा संगठित रूप से शिक्षण दिया जाता है जिसका उद्देश्य उनका व्यक्तिगत समायोजन तथा समाज की प्रगति दोनों होते है।

नवीन शिक्षण के सिद्धान्त : नवीन शिक्षण सम्बन्धी विचारधारा यह है कि—(१) शिक्षण देने में बालक की आवश्यकताओं और संभावनाओं को ध्यान में रखा जाय और पाठ्य विषय को इस प्रकार पढ़ाया जाय कि बालक उसको सीखने मे रुचि ले, (२) बालक का सीखने मे उचित ढङ्ग से पथ-प्रदर्शन किया जाये, एवं (३) बालक अपना सँवेगात्मक अनुकूलन करना सीखे।

शिक्षण क्या है : शिक्षण एक ऐसी कला है जो प्रगतिशील विज्ञान पर आधारित है। शिक्षण-विज्ञान की प्रदत्त सामग्री विभिन्न विषयों के क्षेत्रों द्वारा प्राप्त की जाती है। शिक्षण सम्बन्धी ज्ञान शिक्षक को जो एक कलाकार है अपनी कला को उच्चकोटि की बनाने में सहायता प्रदान करता है।

अध्यापन कार्य : एक निपुण-व्यवसाय है। इसी कारण एक प्रशिक्षित अध्यापक ही उचित शिक्षा प्रदान कर सकता है।

अच्छे शिक्षण के सिद्धान्त : ये हैं—(१) अच्छा शिक्षण वह है जो सीखने

1 —True Learning affect the conducts of the Learner.

में उचित पथ-प्रदर्शन कर सके, (२) अच्छा शिक्षण दया और सहानुभूति पर आधारित होता है, (३) अच्छा शिक्षण अच्छी योजना पर निर्भर है, (४) अच्छे शिक्षण मे सहयोग की भावना होती है, (५) अच्छा शिक्षण निर्देशात्मक होता है, (६) अच्छा शिक्षण जनतन्त्रात्मक है, (७) अच्छा शिक्षण प्रेरणात्मक होता है, (८) अच्छे शिक्षण में बालक के पूर्व अनुभवों को ध्यान में रखा जाता है, (९) अच्छे शिक्षण में अध्यापक अपने पूर्व अनुभवों से लाभवन्ति होता है, (१०) अच्छा शिक्षण प्रगतिशील होता है, (११) अच्छे शिक्षण में बालकों की कठिनाइयों का निदान होता है, (१२) अच्छा शिक्षण उपचार करता है, (१३) अच्छे शिक्षण मे बालकों के ज्ञान का मूल्यांकन ठीक ढंग से किया जाता है, तथा (१४) अच्छा शिक्षण बालक में आत्मविश्वास उत्पन्न करता है।

सीखने का स्वरूप : सीखने की परिभाषा इस प्रकार दी जाती है कि "वातावरण के प्रति उपयुक्त प्रतिक्रिया को अपनाने की प्रक्रिया ही सीखना है।" सीखना एक सक्रिय प्रक्रिया है। यह उद्देश्यपूर्ण होता है। यह प्रक्रिया व्यष्टिगत तथा सामाजिक दोनों है।

सीखने के मुख्य प्रकार हैं : (१) निरीक्षण से सीखना, (२) सूझ से सीखना। इस प्रकार से सीखने में अध्यापक को इन बातों को ध्यान में रखना चाहिए—(i) पूर्ण समस्या का प्रस्तुतीकरण किया जाय, (ii) सीखने में गतिशीलता बनी रहे, (iii) ज्ञानात्मक एवं संवेगात्मक तत्परता रहे, (iv) अध्यापक पर्याप्त सहायता दे। (३) अनुकरण द्वारा सीखना, तथा (४) प्रयास एवं त्रुटि से सीखना।

सीखने को निबद्ध करने वाले तत्त्व : (१) मनोवैज्ञानिक तत्त्व—प्रेरणा (२) शारीरिक तत्त्व, जिसमें मुख्य हैं—(i) संवेदना तथा प्रत्यक्षीकरण, (ii) शारीरिक अवस्था, इसके मुख्य तत्त्व हैं—आयु, तापमान, दिन का समय, नशीले पदार्थ एवं थकान तथा (iii) वातावरण सम्बन्धी तत्त्व।

सीखने की सामान्य विशेषताएं हैं : (१) सीखना अभिवृद्धि है, (२) सीखना व्यवस्थापन है, (३) सीखना अनुभवों का संगठन है, (४) सीखना उद्देश्यपूर्ण है, (५) सीखना कुशलता तथा सृजनात्मक है, (६) सीखना सक्रिय होता है, (७) सीखना व्यक्तिगत तथा सामाजिक दोनों है, (८) सीखना वातावरण की एक उपज है, एवं (९) वास्तविक सीखना सीखने वाले के आचरण पर प्रभाव डालता है।

अध्ययन के लिए महत्वपूर्ण प्रश्न

१. वर्तमान जटिल वातावरण में शिक्षण की आवश्यकता क्यों अधिक है ?
२. अच्छे शिक्षण की क्या विशेषताएँ हैं ? हमारे विद्यालयों में दिये जाने वाले शिक्षण का मूल्यांकन इन विशेषताओं के आधार पर कीजिये।
३. शिक्षण-कला और शिक्षण विज्ञान में क्या सम्बन्ध है ? एक शिक्षक शिक्षण-विज्ञान से किस प्रकार लाभान्वित हो सकता है ?
४. सीखने का नवीन दृष्टिकोण क्या है ? इस दृष्किोण के आधार पर हमारे देश के विद्यालयों में शीघ्र से शीघ्र क्या परिवर्तन लाना चाहिए ?
५. सीखने के लिये किन तत्त्वों पर ध्यान देना आवश्यक है । इन तत्त्वों का विश्लेषण कीजिये और यह बताइये कि हमारे देश के शिक्षक देश की वर्तमान स्थिति में किस प्रकार उनको व्यावहारिक रूप मे रख सकते हैं।
६. निम्नलिखित पर टिप्पणी लिखिए :—

(i) सीखना अभिवृद्धि है, (ii) सीखना व्यवस्थापन है, (iii) सीखना अनुभवों का पुनर्संङ्गठन है, (iv) सीखना ज्ञान प्रदान करना है, (v) सीखना उद्देश्यपूर्ण है।

सहायक पुस्तकों की सूची

(१) बोड, बी० एच० : **हाऊ वी लर्न**, बोस्टन, डी० सी० हीथ, १९४०
(२) बौसिङ्ग, एन० एल० : **टीयचीङ्ग इन दी सेकन्डरी स्कूल्स**, न्यूयार्क, हाउटन मिफलन कम्पनी, १९४२
(३) बुक, डब्यु, एफ० : **एकोनोमी एण्ड टेक्नीक आफ लर्निङ्ग**, बोस्टन, हीथ, १९३२
(४) योकहाम, जी० ए०, सिम्पसन, आर० जी०: **मार्डन मेथ्डस एण्ड टेक्नीक्स आफ टीयचिंग**, न्यूयार्क, मेकमिलन, १९५१
(५) भाटिया एवं भाटिया : **दी प्रिन्सीपल्स एण्ड मेथ्डस आफ टीयचिंग**, देहली दोआबा हाउस,
(६) माथुर, एस० एस० : **शिक्षा मनोविज्ञान**, आगरा, विनोद पुस्तक मन्दिर, १९६०।

अध्याय ४

शिक्षण के सामान्य सिद्धान्त एवं विधि-सूत्र[1]

अध्यापक शिक्षा किस प्रकार दे ? वह किन-किन सिद्धान्तों को ध्यान में रख कर बालक को शिक्षा प्रदान करे ? शिक्षा देने में वह कौन-सी विधि अपनाये ? विधि सूत्र क्या हैं जिनके बारे में जानकारी प्राप्त करे ? इन सब प्रश्नों का उचित उत्तर एक ऐसे विद्यार्थी के लिये जानना जो अध्यापन कार्य अपनाने जा रहा है, परमावश्यक है। इस अध्याय मे हमारा प्रयास यह रहेगा कि इन प्रश्नों एवं समस्याओ का हल समुचित रूप मे प्रस्तुत करें।

अध्यापक के शिक्षण का प्रकार बहुत कुछ विद्यार्थी, पाठ्य-विषय, वातावरण इत्यादि के ऊपर निर्भर होता है। यदि बालक की आयु कम है तो जो शिक्षण विधि उसके साथ अपनायी जायगी वह उस शिक्षण विधि से भिन्न होगी जो बड़ी आयु वाले बालक के साथ अपनायी जानी चाहिए। इसी प्रकार विभिन्न विषय और विभिन्न प्रकरण पढ़ाने में शिक्षण विधि में हेर-फेर होना अनिवार्य है। परन्तु इस विभिन्नता को ध्यान में रखते हुए भी हम कुछ ऐसे सामान्य सिद्धान्तों का वर्णन कर सकते हैं जो हर प्रकार के पाठ और हर प्रकार के प्रकरण में अध्यापक को ध्यान में रखना चाहिए।

सामान्य सिद्धान्त

(१) रुचि को जाग्रत करने का सिद्धान्त :—बालक को शिक्षण उस समय तक उत्तम रूप से नही दिया जा सकता जब तक पढ़ने में उसकी रुचि को

1—General Principles of Teaching and Maxims of Methodical Procedure.

जाग्रत न किया जाय। पुरातन शिक्षा और वर्तमान शिक्षा प्रणाली में मुख्य अन्तर यही है कि अब नवीन शिक्षा पद्धति के प्रवर्तक रुचि को अधिक महत्व देते हैं। पहिले यह समझा जाता था कि शिक्षा देने में कठोर अनुशासन तथा स्मृति ही आवश्यक है। यदि बालक को दबा धमका कर विभिन्न विषयों सम्बन्धी कुछ ज्ञान को रटा दिया जाता था तो यह समझा जाता था कि अध्यापक का उत्तरदायित्व पूर्ण हो गया परन्तु इस रूप में बालक का ज्ञान अपूर्ण और अधूरा ही रहता था और उसके व्यक्तित्व का सर्वाङ्गीण विकास संभव न था। अब मनोविज्ञान के विकास के कारण यह सिद्धान्त सर्वमान्य है कि बालक को शिक्षा प्रदान करने में उसकी रुचि को जाग्रत करना आवश्यक है।

बालक को ज्ञान प्राप्त करने के लिए विषय की ओर अपना अवधान केन्द्रित करना होगी। उसका अवधान उसी समय केन्द्रित हो सकता है जब उसे विषय में रुचि होगी। यदि हम अपने व्यवहार को अधिक जानकारी प्राप्त करें तो हमे पता चलेगा कि किसी वस्तु की ओर हमारा ध्यान लगाने के प्रेरणा रुचि ही है। यदि रुचि का अभाव होगा तो अवधान का भी अभाव रहेगा और बालक उस विषय का ज्ञान प्राप्त करने में असफल रहेगा जिसमे उसे रुचि नहीं है। कुछ शिक्षकों का यह मत है कि बालक की रुचि इत्यादि पर ही केवल जब हम बल देते है तो बालक बहुत कुछ विषय-सम्बन्धी आवश्यक ज्ञान से वंचित रहता है। उसका ज्ञान पूर्णता प्राप्त नहीं कर पाता क्योंकि अध्यापक का कर्त्तव्य केवल यही रह जाता है कि वह उन्हीं प्रकरणों को सिखाये जो रोचक हैं। अरोचक विषय सम्बन्धी सिद्धान्त या नियम अथवा अन्य ज्ञान चाहे वह विषय के ज्ञान की दृष्टि से कितना ही आवश्यक क्यों न हो बालक को नहीं सिखाये जा सकते। जैसे इतिहास सम्बन्धी कहानियों में बालक रुचि लेता है परन्तु कालक्रम इत्यादि में उसे अरुचि है तो बालक को केवल ऐतहासिक कहानियाँ ही सिखाई जायँ और किस समय में क्या ऐतिहासिक परिवर्तन हुए या कालक्रम सम्बन्धी ज्ञान को उसे न दिया जाय। परन्तु ऐसा करने से बालक का ऐतिहासिक का ज्ञान केवल कहानियों का ही रूप ले लेगा और वह इसके महत्वपूर्ण प्रकरणों के सम्बन्ध में कोरा ही रहेगा। वास्तव में यदि हम इस दृष्टिकोण पर ध्यानपूर्वक विचार करें तो उसका थोथापन स्पष्ट हो, जायगा। रुचि और ज्ञान को हम पृथक् नहीं कर सकते। जब हमें किसी भी वस्तु में रुचि है तो हम उसके सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त करने की पूर्ण चेष्टा करेंगे। एक बालक जो क्रिकेट के खेल मे रुचि रखता है वह खेल का ज्ञान, खेल के उत्तम खिलाड़ियों के नाम तथा यहाँ तक कि किस टीम ने कितने रन बनाये या कब

आस्ट्रेलिया ने इंग्लैंड को हराया या किस खिलाड़ी ने भारत और आस्ट्रेलिया के बीच में सबसे अधिक रन बनाये और दूसरे खेल सम्बन्धी विवरण को याद रखता है तथा अपने ज्ञान में पूर्णता लाने की चेष्टा करता है । इसी प्रकार यदि बालक को इतिहास में रुचि है तो वह इतिहास सम्बन्धी ज्ञान प्राप्त करने के लिए क्रियाशील रहेगा । यदि वह कालक्रम में रुचि नहीं लेता तो दोष उसको प्रेरणा प्रदान करने की विधि का है, न कि इस सिद्धान्त का कि शिक्षण रुचि को जाग्रत करके देना चाहिए ।

हमारी वास्तविक प्रत्यक्ष रूचियाँ मूलप्रवृत्यात्मक रूचियाँ हैं, जैसे जनता के मत का भय, आर्थिक कष्ट का भय, अपने साथियों को पराजित करने की रुचि, कठिनाइयों से संघर्ष करने की रुचि इत्यादि । यह हमारी इस समस्या का समाधान करने वाला उत्तर है कि बालकों को विद्यालय में उन विषयों के प्रति जो पूर्ण रूप से या व्यक्तिगत रूप से बलात् रुचिकारक नहीं हैं, किस प्रकार ध्यान लगाने मे सहायता प्रदान की जाय । इस प्रकार के विषयों को हमें इस प्रकार से व्यवस्थित रूप में रखना चाहिये जिससे कि बालकों में मूल प्रवृत्यात्मक रुचि पैदा हो जाय । इस प्रकार जो बालक मॉडल बनाने में रुचि रखता है तो वह इससे सम्बन्धित गणित के प्रमेयों के प्रति रुचिपूर्ण ध्यान लगायेगा । इस प्रकार उसकी सृजनात्मक मूलप्रवृत्ति, गणित के प्रमेयों के साथ सम्बन्धित हो जाती है, और यह उनको उस समय की अपेक्षा, अधिक जोश के साथ सीखने लगता है, जब उसे उन प्रमेयों को परम्परागत पाठ्य पुस्तकों की विधि द्वारा सिखाया जाता है ।

(२) **प्रेरणा का सिद्धान्तः**—रुचि के सिद्धान्त के साथ ही साथ हम एक और सिद्धान्त का वर्णन कर सकते हैं, वह है प्रेरणा का सिद्धान्त । वास्तव में रुचि और प्रेरणा के सिद्धान्तों को दो अलग सिद्धान्तों का रूप न देकर एक ही सिद्धान्त मानना अधिक ठीक है क्योंकि रुचि जागृत करने का तात्पर्य ही यह है कि बालक को सीखने की प्रेरणा मिले । परन्तु प्रेरणा का सीखने में क्या महत्व है, इसको और अधिक सष्ट रूप से समझाने के लिये यहाँ हम इसे एक अलग सिद्धान्त के रूप में ले रहे हैं । प्रेरणा ही सीखने की क्रिया का हृदय है अतएव एक अध्यापक को इसके सम्बन्ध में सम्यक् जानकारी रखना अति आवश्यक है ।

शिक्षा में प्रेरणा वह कला है जो बालक के अन्दर रुचि को जन्म देती है । जब भी बालक किसी कार्य या वस्तु में रुचि अनुभव नहीं करता तो प्रेरणा द्वारा उसकी रूचि को उसमें जागृत किया जा सकता है । हमने ऊपर कहा है कि यदि बालक इतिहास की तिथियाँ याद करने में असमर्थ है तो इसका तात्पर्य

है कि उसकी इस सम्बन्ध में रुचि जागृत नहीं की गई है, या दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि उसे इस विषय पर उचित प्रेरणा नहीं मिली है । यहाँ अध्यापक का कर्त्तव्य है कि बालक को प्रेरित करे ताकि वह इतिहास सम्बन्धी कठिन प्रकरणों में भी रुचि लेने लगे । अध्यापक किसी भी ऐतिहासिक घटना-चक्र को बालक के समक्ष इस प्रकार से रख सकता है कि वह स्वतः इस बात को जानने की चेष्टा करने लगे कि किस सन् में या अब से कितने साल पहिले वह घटना हुई थी और इस प्रकार वह कालक्रम को सीखने की प्रेरणा ग्रहण कर लेगा ।

प्रेरणा का सिद्धान्त—सीखने में अत्यन्त महत्वपूर्ण और उपयोगी है तथा प्रेरकों की शिक्षा में महान् उपयोगिता है किन्तु उनका उचित प्रयोग उचित अवसर पर बहुत ही आवश्यक है । वे प्रेरक जो शिक्षा की दृष्टि से उपयोगी हैं—रुचि, व्यवहार, आवश्यकताएँ और प्रयोजन हैं । अध्यापक को चाहिए कि वह बालकों के व्यवहार को ध्यान में रखकर शिक्षा दे । उसे बालकों की आवश्यकताओं के साथ पाठ का सम्बन्ध जोड़ देना चाहिए । जब बालक की आवश्यकताओं की पूर्ति किसी विशेष प्रकार के पाठ के पढ़ने से होती है तो वह उस पाठ को सीखने को तत्पर रहता है । इसके अतिरिक्त बालक उस कार्य को करने की प्रेरणा ग्रहण करते हैं जिनमें कुछ प्रयोजन होता है । निरुद्देश्य तथा प्रयोजन रहित कार्य उनके अन्दर मानसिक शिथिलता उत्पन्न करते हैं जबकि प्रयोजनशीलता उनमें स्फूर्ति को उत्पन्न करती है । अतएव शिक्षक को प्रयोजनशील तथा सोद्देश्य कार्यों में बालकों को संलग्न किये रखना चाहिए ।

(३) क्रिया द्वारा सीखने का सिद्धान्त :—सीखने का तीसरा अत्यन्त महत्वपूर्ण सिद्धान्त है—क्रिया द्वारा सीखना । बालक को सीखने में उसी समय आनन्द आता जब वह क्रिया द्वारा स्वतः सीखता है । फ्रोबेल महोदय ने इस सिद्धान्त को केन्द्र बनाकर ही अपनी किन्डर-गार्टेन पद्धति का प्रतिपादन किया था । सीखना अच्छी प्रकार होने के लिए उन्होंने शरीर और मस्तिष्क दोनों की क्रियाशीलता पर बल दिया था ।

क्रिया द्वारा सीखने से तात्पर्य यह है कि जो कुछ भी बालक को सिखाया जाय वह उसको निष्क्रिय श्रोता बनाकर न सिखाया जाय वरन् बालक की क्रियाशीलता पर बल देकर सिखाया जाय । इस सिद्धान्त को हम कुछ उदाहरणों द्वारा स्पष्ट करेंगे । अंकगणित की शिक्षा देने में यदि बालक को कोरे प्रश्न दिये जायँ और एक प्रश्न हल करने की विधि श्यामपट पर समझा कर उस पर आधारित सारी प्रश्नावली को हल करने को बालक को कहा जाय तो उसका सीखने का उत्साह मन्द पड़ जाएगा । परन्तु यदि इसके स्थान पर कुछ

आस्ट्रेलिया ने इंग्लैंड को हराया या किस खिलाड़ी ने भारत और आस्ट्रेलिया के बीच में सबसे अधिक रन बनाये और दूसरे खेल सम्बन्धी विवरण को याद रखता है तथा अपने ज्ञान में पूर्णता लाने की चेष्टा करता है । इसी प्रकार यदि बालक को इतिहास में रुचि है तो वह इतिहास सम्बन्धी ज्ञान प्राप्त करने के लिए क्रियाशील रहेगा । यदि वह कालक्रम में रुचि नहीं लेता तो दोष उसको प्रेरणा प्रदान करने की विधि का है, न कि इस सिद्धान्त का कि शिक्षण रुचि को जाग्रत करके देना चाहिए ।

हमारी वास्तविक प्रत्यक्ष रूचियाँ मूलप्रवृत्यात्मक रूचियाँ हैं, जैसे जनता के मत का भय, आर्थिक कष्ट का भय, अपने साथियों को पराजित करने की रुचि, कठिनाइयों से संघर्ष करने की रुचि इत्यादि । यह हमारी इस समस्या का समाधान करने वाला उत्तर है कि बालकों को विद्यालय में उन विषयों के प्रति जो पूर्ण रूप से या व्यक्तिगत रूप से बलात् रुचिकारक नहीं हैं, किस प्रकार ध्यान लगाने मे सहायता प्रदान की जाय । इस प्रकार के विषयों को हमें इस प्रकार से व्यवस्थित रूप में रखना चाहिये जिससे कि बालकों में मूल प्रवृत्यात्मक रुचि पैदा हो जाय । इस प्रकार जो बालक मॉडल बनाने में रुचि रखता है तो वह इससे सम्बन्धित गणित के प्रमेयों के प्रति रुचिपूर्ण ध्यान लगायेगा । इस प्रकार उसकी सृजनात्मक मूलप्रवृत्ति, गणित के प्रमेयों के साथ सम्बन्धित हो जाती है, और यह उनको उस समय की अपेक्षा, अधिक जोश के साथ सीखने लगता है, जब उसे उन प्रमेयों को परम्परागत पाठ्य पुस्तकों की विधि द्वारा सिखाया जाता है ।

(२) **प्रेरणा का सिद्धान्तः**—रुचि के सिद्धान्त के साथ ही साथ हम एक और सिद्धान्त का वर्णन कर सकते हैं, वह है प्रेरणा का सिद्धान्त । वास्तव में रुचि और प्रेरणा के सिद्धान्तों को दो अलग सिद्धान्तों का रूप न देकर एक ही सिद्धान्त मानना अधिक ठीक है क्योंकि रुचि जागृत करने का तात्पर्य ही यह है कि बालक को सीखने की प्रेरणा मिले । परन्तु प्रेरणा का सीखने में क्या महत्व है, इसको और अधिक सष्ट रूप से समझाने के लिये यहाँ हम इसे एक अलग सिद्धान्त के रूप में ले रहे हैं । प्रेरणा ही सीखने की क्रिया का हृदय है अतएव एक अध्यापक को इसके सम्बन्ध में सम्यक् जानकारी रखना अति आवश्यक है ।

शिक्षा में प्रेरणा वह कला है जो बालक के अन्दर रुचि को जन्म देती है । जब भी बालक किसी कार्य या वस्तु में रुचि अनुभव नहीं करता तो प्रेरणा द्वारा उसकी रूचि को उसमें जागृत किया जा सकता है । हमने ऊपर कहा है कि यदि बालक इतिहास की तिथियाँ याद करने में असमर्थ है तो इसका तात्पर्य

है कि उसकी इस सम्बन्ध में रुचि जागृत नहीं की गई है, या दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि उसे इस विषय पर उचित प्रेरणा नहीं मिली है । यहाँ अध्यापक का कर्त्तव्य है कि बालक को प्रेरित करे ताकि वह इतिहास सम्बन्धी कठिन प्रकरणों में भी रुचि लेने लगे । अध्यापक किसी भी ऐतिहासिक घटना-चक्र को बालक के समक्ष इस प्रकार से रख सकता है कि वह स्वतः इस बात को जानने की चेष्टा करने लगे कि किस सन् में या अब से कितने साल पहिले वह घटना हुई थी और इस प्रकार वह कालक्रम को सीखने की प्रेरणा ग्रहण कर लेगा ।

प्रेरणा का सिद्धान्त—सीखने में अत्यन्त महत्वपूर्ण और उपयोगी है तथा प्रेरकों की शिक्षा में महान् उपयोगिता है किन्तु उनका उचित प्रयोग उचित अवसर पर बहुत ही आवश्यक है । वे प्रेरक जो शिक्षा की दृष्टि से उपयोगी हैं—रुचि, व्यवहार, आवश्यकताएँ और प्रयोजन हैं । अध्यापक को चाहिए कि वह बालकों के व्यवहार को ध्यान में रखकर शिक्षः दे । उसे बालकों की आवश्यकताओं के साथ पाठ का सम्बन्ध जोड़ देना चाहिए । जब बालक की आवश्यकताओं की पूर्ति किसी विशेष प्रकार के पाठ के पढ़ने से होती है तो वह उस पाठ को सीखने को तत्पर रहता है । इसके अतिरिक्त बालक उस कार्य को करने की प्रेरणा ग्रहण करते हैं जिनमें कुछ प्रयोजन होता है । निरुद्देश्य तथा प्रयोजन रहित कार्य उनके अन्दर मानसिक शिथिलता उत्पन्न करते है जबकि प्रयोजनशीलता उनमें स्फूर्ति को उत्पन्न करती है । अतएव शिक्षक को प्रयोजनशील तथा सोद्देश्य कार्यों में बालकों को संलग्न किये रखना चाहिए ।

(३) क्रिया द्वारा सीखने का सिद्धान्त :—सीखने का तीसरा अत्यन्त महत्वपूर्ण सिद्धान्त है—क्रिया द्वारा सीखना । बालक को सीखने में उसी समय आनन्द आता जब वह क्रिया द्वारा स्वतः सीखता है । फ्रोबेल महोदय ने इस सिद्धान्त को केन्द्र बनाकर ही अपनी किन्डर-गार्टेन पद्धति का प्रतिपादन किया था । सीखना अच्छी प्रकार होने के लिए उन्होंने शरीर और मस्तिष्क दोनों की क्रियाशीलता पर बल दिया था ।

क्रिया द्वारा सीखने से तात्पर्य यह है कि जो कुछ भी बालक को सिखाया जाय वह उसको निष्क्रिय श्रोता बनाकर न सिखाया जाय वरन् बालक की क्रियाशीलता पर बल देकर सिखाया जाय । इस सिद्धान्त को हम कुछ उदाहरणों द्वारा स्पष्ट करेगें । अंकगणित की शिक्षा देने में यदि बालक को कोरे प्रश्न दिये जायँ और एक प्रश्न हल करने की विधि श्यामपट पर समझा कर उस पर आधारित सारी प्रश्नावली को हल करने को बालक को कहा जाय तो उसका सीखने का उत्साह मन्द पड़ जाएगा । परन्तु यदि इसके स्थान पर कुछ

क्रियायें उसे करने को दी जायं और उनके द्वारा अङ्कगणित उसे सिखाया जाय तो वह शीघ्रता से विषय को सीख लेता है; जैसे लाभ हानि के प्रश्नों को नीरस ढङ्ग से हल करना सिखाने के स्थान पर कक्षा में दूकान खुलवाकर बालकों को बेचने और खरीदने के ढङ्ग को सिखाया जाय तो इसी क्रिया द्वारा बालक लाभ-हानि सम्बन्धी प्रश्नों के हल करने की विधि सीख लेते हैं । इस प्रकार वह खेल ही खेल में अंकगणित के अनेकों मूल नियम सीखने में सफल होते है । जो बात अंकगणित के लिए ठीक है वह दूसरे विषयों के लिए भी उचित है । बालक इतिहास का बहुत कुछ ज्ञान नाटक इत्यादि में भाग लेने से सीख जाता है । भाषा-ज्ञान वादविवाद द्वारा या कक्षा की मैगज़ीन या और कुछ शब्द-कोष सम्बन्धी खेल द्वारा बहुत अच्छी तरह से बढ़ाया जा सकता है ।

क्रिया द्वारा सीखने का सिद्धान्त छोटी कक्षाओं एवं बड़ी कक्षाओं दोनों मे लागू हो सकता है । छोटी कक्षाओं में इस सिद्धान्त को शारीरिक क्रियाओं को प्रोत्साहन करने के रूप में लिया जा सकता है । छोटे बालकों की शिक्षा सर्व प्रथम ज्ञानेन्द्रियों की शिक्षा होनी चाहिए । ज्ञानेन्द्रियों के शिक्षण द्वारा ही आगे चलकर उनके व्यक्तित्व का विकास संभव है । इन कक्षाओं मे बालकों को मिट्टी के मॉडल बनाना, कागज काटना, ऐसे गीत या कविता याद करना जिसमें शरीर को काफी हिलाया डुलाया जाय, रंग भरना या इसी प्रकार की अनेकों क्रियायें करने को दी जाती हैं । मॉन्टेसरी तथा किन्डरगार्टन शिक्षण पद्धतियाँ इसी प्रकार की क्रियाओं द्वारा बालक को शिक्षा देने पर बल देती हैं ।

उच्च स्तर पर अधिक शारीरिक क्रियाशीलता न होकर मानसिक क्रिया-शीलता होना अच्छा है । इस स्तर पर कार्य करके सीखने की विधि में बालकों को कार्य दे दिये जाते हैं और उनसे आशा की जाती है कि वे अनेकों पुस्तकों इत्यादि को पढ़ कर उस कार्य को सम्पन्न करेंगे । बालक इस प्रकार अपने कार्य को एक निश्चित अवधि के भीतर समाप्त करने के लिये सक्रिय रहता है । डाल्टन पद्धति इसी प्रकार की क्रियाशीलता पर बल देती है । ह्यूरिस्टिक प्रणाली भी बालकों को सक्रिय बनाये रखने के सिद्धान्त पर ही आधारित है ।

(४) **जीवन से सम्बन्ध जोड़ने का सिद्धांत** :—रुचि, प्रेरणा, क्रिया द्वारा सीखने के सिद्धान्तों के साथ एक और सिद्धान्त भी आता है जिसे हम जीवन से सम्बन्ध जोड़ने का सिद्धान्त कहते हैं । इस सिद्धान्त से तात्पर्य यह है कि किसी भी विषय को पढ़ाने के समय यह ध्यान रखना चाहिए कि वह जीवन में आने वाली परिस्थितियों से सम्बन्धित है अथवा नहीं । बालक उन विषयों को सरलता से सीख लेते हैं जो उनके जीवन से सम्बन्धित होते हैं । यदि कोई

विषय इस रूप में पढ़ाया जाता है कि वह बालक के जीवन में कोई अर्थ नहीं रखता तो बालक उसको सीखने में कोई रुचि नहीं लेता।

बहुधा ऐसा होता है कि हम भूगोल पढ़ाते समय बालक के निवास स्थान की जलवायु पर तो कोई ध्यान नहीं देते परन्तु संसार के विभिन्न देशों की जलवायु बालकों को रटा देने पर बल देते हैं। अथवा बालक के निवास-स्थान या स्कूल की भौगोलिक स्थिति की ओर से तो उदासीन रहते हैं परन्तु यह चाहते हैं कि वह देश के विभिन्न शहरों इत्यादि की भौगोलिक स्थिति को पढ़ ले। इसी प्रकार बालक को विभिन्न देशों के इतिहास का थोथा ज्ञान देना अच्छा समझते हैं अपेक्षाकृत इसके कि उसे अपनी मातृभूमि के इतिहास से प्रथम अवगत करायें। गणित मे भी हम ऐसे प्रश्नों का हल करना सीखने पर बल देते हैं जिनका बालक के जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं। शिक्षा देने के ये सभी ढङ्ग दोषपूर्ण हैं। बालक का सम्यक् विकास इस प्रकार की शिक्षा से कदापि संभव नहीं, और न उसके अन्दर रुचि ही जागृत हो सकती है। इन्हीं कारणों से एक अध्यापक के लिये यह आवश्यक है कि वह जो कुछ भी शिक्षा दे उसे बालक के जीवन से सम्बन्धित करने की चेष्टा करे।

(५) **कुछ अन्य सिद्धांत** :—उपरोक्त चार सामान्य सिद्धान्त अत्यन्त महत्व-पूर्ण है। परन्तु इनके अतिरिक्त शिक्षण प्रदान करने में अध्यापक को कुछ अन्य सिद्धान्तों को भी ध्यान में रखना चाहिए।

सर्व प्रथम उसे यह ध्यान रखना चाहिए कि **शिक्षण उद्देश्यपूर्ण** हो। बिना उद्देश्य के शिक्षण सफल नहीं हो सकता। शिक्षा का, हर विषय का, हर एक पाठ का पृथक् उद्देश्य होता है अध्यापक को इनको ध्यान में रख कर ही शिक्षा प्रदान करनी चाहिए। उसके शिक्षण की सफलता इसी बात से आँकी जा सकती है कि जो कुछ उद्देश्य लेकर उसने किसी विषय या पाठ का शिक्षण आरम्भ किया उसे वह प्राप्त कर सका या नहीं।

दूसरा सिद्धान्त जो उसे ध्यान में रखना चाहिए वह है **चुनाव का सिद्धान्त**। इस सिद्धान्त से तात्पर्य यह है कि अध्यापक पाठ्यक्रम का चुनाव इस प्रकार करे कि शिक्षा के जो उद्देश्य उसने अपने सम्मुख रखे है उन्हें प्राप्त करने में वह सफल हो। अनेको विषयों में से वह उस विषय को और उन विषयों में से उन प्रकरणों का चुनाव करे जो बालक के लिये उपयोगी हों और उसे उद्देश्य प्राप्त करने में सहायता भी प्रदान करें।

दूसरे सिद्धान्त के साथ ही आता है तीसरा सिद्धान्त जिसे हम **विभाजन का सिद्धान्त** कहते हैं। इस सिद्धान्त से तात्पर्य यह है कि पाठ्यक्रम को ऐसी अन्वितियों अथवा पाठों में बाँटा जाय कि बालक सरलता से एक

स्तर से दूसरे स्तर पर चढ़ता चला जाय। बालक एक अन्विति समाप्त करके दूसरी अन्विति पर स्वाभाविक रूप से आ जाय यही पाठ्यक्रम का उत्तम विभाजन माना जाता है।

अन्तिम सिद्धान्त जिसका ध्यान अध्यापक को रखना चाहिए वह है- **पुनरावृत्ति का सिद्धान्त**। बालक को जब तक पाठ को बार-बार दोहराने का अवसर न दिया जायगा तो वह पाठ को भूल जायगा। अतएव अध्यापक का यह कर्त्तव्य है कि वह किसी पाठ को पढ़ाने के बाद बिलकुल छोड़ न दे वरन् उसकी अनेकों बार पुनरावृत्ति करने का अवसर बालक को प्रदान करे।

विधि-सूत्र

अध्यापन के सामान्य सिद्धान्तों के अतरिक्त कुछ सिद्धान्त सूत्र भी प्रतिपादित किये गये हैं जिनका वर्णन अब हम यहाँ करेगें :—

(१) **ज्ञात से अज्ञात की ओर**[1]: —ज्ञात से अज्ञात की ओर से तात्पर्य यह है कि बालकों को जो ज्ञान प्राप्त है उसी पर नये ज्ञान को आधारित करना चाहिए। जो कुछ बालक जानते हैं उसी को आधार लेकर जो कुछ वे नहीं जानते उसे सिखाया जाय। अध्यापक को चाहिए कि जो बालक जानता है उसे नये ज्ञान से सम्बन्धित करे। इसके लिए उसे सर्वप्रथम बालक के पूर्व ज्ञान के सम्बन्ध में जानकारी होना आवश्यक है। वह पूर्व ज्ञान को बालक की चेतना में लाए और फिर इसे नये ज्ञान से सम्बन्धित करे। कैसा भी पाठ क्यों न हो अध्यापक को पहिले ज्ञात से ही अज्ञात की ओर बढ़ना चाहिए। गणित में ब्याज पढ़ाते समय बालक का महाजन द्वारा रुपया उधार दिये जाने के ज्ञान को आधार बनाना चाहिए। इसी प्रकार शाहजहाँ के सम्बन्ध में पढ़ाते समय ताजमहल से पाठ को आरम्भ किया जा सकता है। इस सबसे तात्पर्य यह है कि बालक जो कुछ भी जानते हैं अध्यापक को उसी स्तर से आगे बढ़ना चाहिए।

बाल की रुचि उस समय जागृत हो जाती है जब उसे ज्ञात और अज्ञात के बीच का सम्बन्ध स्पष्ट हो जाता है। यदि ऐसा न हो तो वह कुछ भी समझने में असमर्थ होता है और पाठ की ओर से उसकी रुचि हट जाती है।

(२) **सहज से कठिन की ओर**[2] :—यह सिद्धान्त स्पष्ट रूप से इस ओर संकेत करता है कि बालक को पहिले सरल का ज्ञान देना चाहिए फिर कठिन की ओर उसे अग्रसर करना चाहिए। यहाँ सरल से तात्पर्य यह है कि बालक

1—From known to unknown.

2—From simple to complex,

को प्रथम वह सिखाना चाहिए जो वह सरलता से समझ सके फिर जैसे-जैसे वह उन्नति करे उसे कठिन या जटिल की ओर ले जाना चाहिए। यहाँ पर यह ध्यान रखना चाहिए कि सरल वह है जो बालक के दृष्टिकोण से सरल हो न कि एक प्रौढ़ व्यक्ति के लिये। प्रायः जो प्रौढ़ों को सरल दीखता है वह बालकों के लिये जटिल होता है। इसलिए अध्यापक को सरल और कठिन का निर्णय करने में विशेष सावधानी बरतनी चाहिए। जो विषय बालक के बौद्धिक स्तर के अनुरूप हो उसे ही सरल समझा जाना चाहिए। किसी विषय की मोटी-मोटी बातें बालक शीघ्र समझ लेता है परन्तु यदि उसको विस्तार से पढ़ने पर बल दिया जाय तो बालक के लिए वह जटिल हो जायगा। हमारे देश का सारा इतिहास छोटी कहानियों के रूप में बालकों को सरल लगेगा परन्तु यदि यही इतिहास राजाओं का शासन-प्रबन्ध, युद्धों का वर्णन इत्यादि के विस्तृत रूप में पढ़ाया जाय तो अत्यन्त जटिल हो जायगा।

सरल से जटिल या सहज से कठिन के सिद्धान्त को ध्यान में रखकर जब शिक्षा दी जाती है तो बालकों की रुचि विषय में बढ़ जाती है। वे एक बात सीख कर दूसरी को सीखने को तत्पर हो जाते हैं। अध्यापकों को चाहिए कि सारे पाठ्यक्रम को ऐसे विभाजित करें कि एक क्रमशील रूप में बालक ज्ञान प्राप्त करता चला जाय। वह सरल से सीखना आरम्भ करे और जटिल की ओर बढ़ता जाय।

(३) **अनिश्चित से निश्चित की ओर**[1] :—बालक के विचार आरम्भ में अनिश्चित होते हैं। वह विभिन्न वस्तुओं, व्यक्तियों इत्यादि की ओर अपनी रुचियों, प्रवृत्तियों एवं आवश्यकताओं के आधार पर धारणाएँ बना लेता है। ये धारणाएँ प्रायः दूषित होती हैं। वे अस्पष्टता तथा अनिश्चितता लिये हुए होती हैं। वास्तव मे शिक्षा का कार्य है कि इस अस्पष्टता में स्पष्टता लाये और उसके विचारों को नियमित तथा निश्चित करे। यही तात्पर्य इस विधि-सूत्र का है। बालक की दूषित धारणाओं को दूर करके उनको उचित मार्ग पर ले जाना शिक्षक का कर्त्तव्य है।

हमारे विद्यालयों में बहुधा अध्यापकगण इस विधि-सूत्र की ओर से उदासीन रहते हैं। वे बालक के रटने पर अधिक जोर देते हैं। वे इस ओर ध्यान नहीं देते कि बालक के अनुभवों में जब तक स्पष्टता नहीं आयेगी, उसका ज्ञान अपूर्ण ही रहेगा। बालक बहुत सी ग़लत धारणाएँ लिए हुए ही अपनी शिक्षा समाप्त कर देता है। ये धारणाएँ ही अन्ध-विश्वास और दूषित मनोवृति की पोषक बनी रहती हैं। एक शिक्षित व्यक्ति को जब हम अन्ध-विश्वास में

1 —From Indefinite to definite,

आस्था रखने वाला पाते हैं तो हमें उसके सम्बन्ध में यह कह देने में कोई आपत्ति नहीं है कि उसके अध्यापन काल में उसके अनिश्चित विचार निश्चितता की ओर नहीं ले जाये गये।

(४) **स्थूल से सूक्ष्म की ओर**[1]—बालक को शिक्षा देते समय यह याद रखना आवश्यक है कि उसका मानसिक विकास इतना नहीं होता कि वह सूक्ष्म को समझ सके। वह तो केवल स्थूल के सम्बन्ध में ही विचार कर सकता है और समझ सकता है। शिक्षा द्वारा उसमें सूक्ष्म को समझने की शक्ति का विकास किया जाता है। शिक्षा, सूक्ष्म को समझने की शक्ति का विकास उसी समय कर सकेगी जब वह बालक को स्थूल के ज्ञान से सूक्ष्म के ज्ञान की ओर ले जाय। कुछ उदाहरणों से यह बात स्पष्ट हो जायगी। यदि बालक को अहिंसा के सम्बन्ध मे कुछ सिखाना है तो प्रथम उसे गौतम बुद्ध, महात्मा गाँधी इत्यादि की जीवनी से अवगत कराना होगा। जब वह इन महान् पुरुषों के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त कर लेगा तब उसे अहिंसा क्या है? या इससे क्या तात्पर्य है? समझने में कठिनाई नहीं होगी। इसी प्रकार यदि बालक को जोड़ सिखाना है; जैसे ३+२=५ के, तो उसे ऐसी गोलियों की सहायता से सिखाना आरम्भ करना चाहिए। पहिले बालक ३ गोलियाँ +२ गोलियाँ=५ गोलियाँ सीखेगा फिर इस क्रिया में से गोलियाँ हटा कर केवल अङ्क रहने दिये जायेंगे और वह जोड़ केवल अङ्कों द्वारा करना सीख जायेगा।

यहाँ यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि कभी-कभी जब ज्ञान स्थूल से देना आरम्भ होता है तो स्थूल पर ही समाप्त हो जाता है, वह सूक्ष्म की ओर नहीं बढ़ पाता। बालक महात्मा गांधी और गौतम बुद्ध सम्बन्धी कहानियाँ तो समझ लेता है परन्तु अहिंसा के सम्बन्ध में उसके ज्ञान अस्पष्ट रहते हैं। इसी प्रकार से बालक अंगुलियों पर गिनना जो आरम्भ में सीखता है वैसा ही वह बड़े होकर करता रहता है। ऐसी दशा में शिक्षा अपूर्ण ही कही जायगी। जैसे ही बालक को अंगुलियों पर गिनना आ जाय और वह जोड़ करना सीख जाये, वैसे ही उसको अंगुलियों पर गिनने की आदत को छुड़ा देना चाहिए। बालक को उच्च ज्ञान उसी समय प्राप्त हो सकता है जब उसमें सूक्ष्म को समझने की क्षमता आ जाय। इसलिये ज्ञान को स्थूल से सदैव सूक्ष्म की ओर ले जाना चाहिए। बालक को अधिक समय तक स्थूल पर अटकाये रखना उचित नहीं है। न ही यह उचित है कि जब बालक सूक्ष्म को समझ सकता है तब भी उसे स्थूल ही के सम्बन्ध में बताया जाय। गणित में बालक जब नियमीकरण कर चुका और उसे समझ गया तब कोई भी आवश्यकता नहीं रह जाती कि

1—From concrete to abstract.

बालक को फिर आरम्भ से प्रश्न हल करना सिखाया जाय। उसे तो अब नियम का प्रयोग करना सीखना ही अच्छा होगा।

(५) **विशेष से सामान्य की ओर**[1]:—बालक को विशिष्ट ज्ञान से सामान्य ज्ञान की ओर ले जाना चाहिए। इससे तात्पर्य यह है कि बालक को पहिले विशेष उदाहरण इत्यादि देने चाहिए और फिर इन्हीं उदाहरणों के आधार पर उसे सामान्यीकरण करने को प्रोत्साहित करना चाहिए। औसत निकालने का नियय इस प्रकार है:

$$\text{औसत} = \frac{\text{संख्याओं का योग}}{\text{संख्याओं की गणना}}$$

इस सामान्य नियम को बालकों को पहिले नहीं सिखाना चाहिए वरन् विशिष्ट उदाहरण लेकर बालकों को पहिले औसत निकालना सिखाना चाहिए और फिर उनकी ही सहायता से यह नियम निकलवाना चाहिए। यही क्रम प्रत्येक विषय में प्रयुक्त करना चाहिए। इस विधि-सूत्र को कार्यान्वित करने में बालकों की तर्क-शक्ति विकसित होती है और जो ज्ञान वे ग्रहण करते हैं वह स्थायी हो जाता है। गणित, विज्ञान, व्याकरण इत्यादि के नियमों को सीखने के लिए सदैव इसी सिद्धान्त का प्रयोग करना चाहिए।

(६) **पूर्ण से अंश की ओर**[2]:—इस सिद्धान्त के अनुसार बालक को पहिले जो कुछ भी सिखाना है वह पूर्ण रूप से सिखाना चाहिए फिर उसके अंश करने चाहिए। यह सिद्धान्त गेस्टाल्ट मनोवैज्ञानिकों के परीक्षणों पर आधारित है। गैस्टाल्टवादियों का कहना है कि हमारा प्रत्यक्षीकरण पहिले पूर्ण की ओर ही होता है फिर उसके पूर्ण अंशों का प्रत्यक्षीकरण होता है। जैसे यदि हम एक पहाड़ी पर खड़े हैं और वहाँ से नीचे के दृश्य का अवलोकन कर रहे हैं तो हम पहिले सम्पूर्ण दृश्य का रसास्वादन करेंगे फिर यह देखेंगे कि जो दृश्य हम देख रहे हैं उसमें क्या-क्या अंश है। यदि पहाड़ी से नीचे दूर एक सुन्दर मकान बना है जिसके चारों ओर बड़े पेड़ लगे हैं तो हम सम्पूर्ण दृश्य का प्रत्यक्षीकरण करने के पश्चात् मकान की ओर ध्यान देंगे और फिर पेड़ इत्यादि हमारे प्रत्यक्षीकरण के विषय बनेंगे। हम अब यह विचार करेंगे कि यह कैसे दृश्य की सुन्दरता में सहायक होता है। इसी सिद्धान्त के आधार पर हम बालक को सिखाने में पूर्ण से आरम्भ करना अच्छा समझते हैं। देश का पूरा नकशा दिखाकर ही देश की आकृति के सम्बन्ध में बालक को ज्ञान प्राप्त कराया

1—From particular to general.

2—From whole to parts

जा सकता है न कि पृथक-पृथक भाग दिखाकर। जब पूरा नकशा बालकों के सामने है तब इसके विभिन्न अंश—पहाड़, नदियाँ, समुद्र, तथा अन्य स्थानों के सम्बन्ध में सिखाया जा सकता है।

परन्तु पूर्ण से यहाँ यह अर्थ कदापि नहीं है कि बालकों को जटिल वस्तुओं को पहिले सिखाना चाहिए। वयस्क किसे पूर्ण समझता है और बालक किसे ? इसमें स्पष्ट अन्तर करना होगा। जिसे वयस्क पूर्ण समझता है वह बालक के लिए बहुत जटिल हो सकता है और इस प्रकार हम ऐसे पूर्ण को लेकर बालक को शिक्षा नहीं दे सकते, जैसे भूगोल पढ़ाने मे हम भू-मण्डल के ज्ञान से बालक का शिक्षण आरम्भ नहीं कर सकते क्योंकि इस दिशा में यह पूर्ण जटिल होता है जिसे बालक नहीं समझ सकते।

(७) **विश्लेषण से संश्लेषण की ओर**[1] : यह सिद्धान्त और पहिले वाले सिद्धान्त 'पूर्ण से अंश की ओर' में विरोधाभास प्रतीत हो सकता है पर वास्तव में ऐसा नहीं है। हम इन दोनों सिद्धान्तों को इस प्रकार समझ सकते हैं। बालक को पहिले पूर्ण का ज्ञान दिया जाय। फिर इस पूर्ण का अंशों में विश्लेषण किया जाय। इस विश्लेषण के पश्चात् फिर उसे पूर्णता की ओर संश्लेषण कर दिया जाय। बालक ने अनेकों बार त्रिभुज की आकृति देखी होगी। हम उस पाठ का, जिसमें त्रिभुज के तीनों कोणों का योग दो समकोण सिद्ध करना है, आरम्भ में त्रिभुज की सम्पूर्ण आकृति दिखाकर कर सकते हैं। त्रिभुज दिखाने के बाद उसमें कितने कोण हैं इत्यादि अंशों में उसके विभाजन की ओर बालक का ध्यान आकृष्ट कर सकते हैं। फिर विभिन्न त्रिभुजों के तीनों कोणों को बालकों से नपवा कर विश्लेषण विधि को अपना सकते हैं और जब वे इस निष्कर्ष पर आते हैं कि किसी भी त्रिभुज के तीनों कोणों का योग दो समकोण होता है तो संश्लेषण हो जाता है। परन्तु यह क्रिया चलती रहनी चाहिए। संश्लेषण के पश्चात् फिर विश्लेषण आना चाहिए जो फिर एक नये संश्लेषण की ओर ले जायेगा। इस विधि-सूत्र के उपयोग से बालक में तर्क तथा विचार शक्ति का विकास होता है।

(८) **अनुभव से तर्क की ओर**[2] :—बालक ज्ञान अपने अनुभवों द्वारा ग्रहण करता है। वह अपनी ज्ञानेन्द्रियों द्वारा विभिन्न अनुभव प्राप्त करता है। ये ही अनुभव उसके ज्ञान की प्रदत्त सामग्री बन जाते हैं। परन्तु इन अनुभवों के कारणों को बहुधा वह समझने में असफल रहता है। शिक्षा का कार्य है कि बालक को अपने अनुभवों को समझने में सहायता दे। यह कार्य 'अनुभव से

1—From Analysis to Synthesis.
2—From Empirical to Rational.

तर्क की ओर' सिद्धान्त के अनुसार शिक्षा देकर ही सम्पन्न किया जा सकता है; जैसे बालक अनुभव करता है कि विभिन्न मौसम आते हैं या रात-दिन होते हैं। अध्यापक इन अनुभवों को आधार मान कर इनके कारणों पर प्रकाश डाल सकता है। बालक की रुचि अपने अनुभवों को समझने के लिए शीघ्र जागृत हो जाती है। उसके पहिले प्रश्न ही होते हैं—क्यों ? क्या ? कैसे ? इस सिद्धान्त का अनुसरण करने से अध्यापक बालकों की जिज्ञासा शान्त करने में सफल होता है और उनकी रुचि को सक्रिय रखता है।

(६) आगमन विधि का उपयोग[1]—आगमन विधि में अनेकों उदाहरण लेकर सिद्धान्त निरूपण किया जाता है। यदि बालकों को सीखना है कि दो सरल रेखाएँ जब एक-दूसरे को काटती हैं तो सम्मुख कोण बराबर होते हैं तो बहुत से विशेष उदाहरणों से बालकों को यह पता लगाने को प्रोत्साहित किया जाता है कि जब दो सरल रेखाएँ एक-दूसरे को काटती हैं तो सम्मुख कोंण प्रत्येक दशा में बराबर होते हैं फिर उनसे सामान्य नियम निकलवा लिया जाता है। यह विधि विश्लेषण से संश्लेषण सिद्धान्त सूत्र के अनुरूप ही है। अध्यापक इस विधि का उपयोग विभिन्न विषयों के शिक्षण में कर सकता है; जैसे व्याकरण के पाठ में इसका उपयोग सुन्दरता से इस प्रकार किया जा सकता है—विभिन्न वाक्य लेकर उनमें संज्ञा छाँटने को बालकों को दी जा सकती है फिर इन संज्ञाओं के स्थान पर किन शब्दों को लिखा गया है यह निकलवा लिया जाता है। बालकों को इस प्रकार प्रोत्साहित किया जाता है कि वे विश्लेषण इत्यादि की परिभाषायें निकाल सकें।

आगमन विधि के विपरीत है निगमन विधि। इसमें 'सामान्य से विशिष्ट की ओर चला जाता है। इस विधि में सामान्य के आधार पर विशिष्ट के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त किया जाता है। जैसे यह जान कर कि दो सरल रेखाओं के एक-दूसरे के काटने पर सम्मुख कोण बराबर होते हैं, बालक जहाँ दो सरल रेखाएँ एक-दूसरे को काटती हैं समझ लेता है कि सम्मुख कोण बराबर होंगे। आगमन विधि से निगमन विधि सरल है परन्तु आगमन विधि अधिक मनोवैज्ञानिक है। इसमें बालक के पूर्व ज्ञान के आधार पर ही शिक्षा केन्द्रित होती है जबकि निगमन विधि में यह कोई आवश्यक नहीं है। बालक को यह सामन्यीकरण बता दिया जाता है कि सम्मुख कोण बराबर होते हैं। यह कोई आवश्यक नहीं कि वह सम्मुख कोण के सम्बन्ध में अच्छा ज्ञान रखे। अतएव उसे सामान्य सिद्धान्त को बिना समझे रट कर ही याद करना पड़ता है। इस प्रकार उसमें विचार एवं तर्क-शक्ति का विकास नहीं हो पाता।

2—Follow Inductive Method.

आगमन विधि के अनुसरण में बालक की रुचि जागृत रहती है । प्रत्येक स्तर पर कार्य करने के पश्चात् उसे आगे कार्य करने की प्रेरणा मिलती रहती है। निगमन विधि में इसका अभाव है।

इसमें कोई संदेह नहीं कि आगमन विधि से सिखाने में शिक्षक को अधिक परिश्रम करना पड़ता है। उसे अपने पाठ की अच्छी प्रकार से तैयारी करके बालकों को सामान्यीकरण की ओर ले जाना होता है । निगमन विधि में उसका कार्य सरल होता है। यहाँ वह एक सिद्धान्त प्रतिपादित कर देता है और बालकों को उस पर आधारित पाठ को पढ़ा देता है या कुछ कार्य करने को दे देता है जो उसी सिद्धान्त को जानकर कर सकते हैं परन्तु यह विधि बालकों को सिखाने के लिए उत्तम नहीं है क्योंकि इस विधि द्वारा सीखे हुए नियम बालक शीघ्र भूल जाते है। बालक का ज्ञान स्पष्टता नहीं प्राप्त कर पाता है।

शिक्षा देने में एक अध्यापक को इस बात को ध्यान में रखना चाहिए कि आगमन तथा निगमन दोनों विधियाँ महत्वपूर्ण हैं। पाठ का आरम्भ आगमन विधि से होना चाहिए परन्तु इसका अन्त निगमन विधि से होना चाहिए। वास्तव में आगमन विधि की सहायक निगमन विधि है। आगमन विधि द्वारा जब बालक यह पता लगा लेता है कि—"जब दो सरल रेखाएँ एक-दूसरे को काटती हैं तो सम्मुख कोण बराबर होते हैं" तब उसे इस सिद्धान्त को लेकर निगमन विधि द्वारा विशिष्ट उदाहरणों में इसका प्रयोग करना चाहिए। जब तक ऐसा नहीं होगा, पाठ पूर्ण नहीं होगा। अन्त में हम कह सकते हैं कि सफल पाठ वही होगा जो आगमन विधि तथा निगमन विधि दोनों की सहायता से पढ़ाया जाय।

(१०) मनोवैज्ञानिक क्रम से चलो:—हमें बालक के विकास के क्रम को ध्यान में रखकर शिक्षा देनी चाहिए। एक छोटे बालक के अनुभव सीमित होते हैं । उसकी तर्क-शक्ति निम्न कोटि की होती है। उसके लिए पाठ्यक्रम का आयोजन इस प्रकार किया जाय कि वह उसके मानसिक विकास के अनुकूल ही हो। यदि उसे उच्च सिद्धान्त या जटिल कार्य सिखाने की चेष्टा की जायगी तो सारे प्रयत्न असफल रहेंगे। शिक्षा बालक की प्रकृति के अनुसार होनी आवश्यक है।

यहाँ एक कठिनाई आती है। यदि पाठ्यक्रम के चुनाव में मनोवैज्ञानिक क्रम की ध्यान में रखा जाता है तो तार्किक क्रम की अवहेलना होती है क्योंकि पाठ्यक्रम का विभाजन तार्किक ढंग पर ही किया जाता है। बहुधा अध्यापक कठिनाई में पड़ जाते हैं जैसे बालकों को भाषा सिखाने में तार्किक क्रम है—पहिले वर्ण-

माला सीखना फिर शब्द और उसके पश्चात् वाक्य। परन्तु मनोवैज्ञानिक क्रम के अनुसार यह ठीक नहीं। बालक अक्षर द्वारा यदि सीखना आरम्भ करेगा तो कुछ नहीं समझ सकेगा। अक्षर तो उसके लिए केवल सूक्ष्म ही रहेंगे जिनको समझने में वह असफल रहेगा। वह तो जब बोलना आरम्भ करता है तो "अ, आ, इ, ई" से नही वरन् शब्दों और वाक्यों से करता है। अतएव यदि भाषा शिक्षा उसके लिए अर्थपूर्ण बनानी है तो इसका पढ़ाना शब्द-ज्ञान से ही आरम्भ होना चाहिए।

हम विश्वास के साथ कह सकते है कि मनोवैज्ञानिक क्रम को बालकों को सिखाने में तार्किक क्रम से अधिक महत्ता देनी चाहिए क्योंकि तभी बालक को शिक्षा अर्थपूर्ण ढङ्ग से दी जा सकती है। ऊपर हमने जिन दस विधि-सूत्रों का वर्णन किया इन सूत्रों के अतिरिक्त और भी कई विधि-सूत्र विभिन्न शिक्षा शास्त्रियों ने दिये हैं परन्तु उनमें कोई नई बात का उल्लेख नहीं किया गया है जिन बातों पर वे सिद्धान्त प्रकाश डालते हैं वे सब यहाँ वर्णित किए हुए सिद्धान्त-सूत्रों में सम्मिलित हैं।

सारांश

कुछ सामान्य सिद्धान्त जिनको अध्यापक को हर प्रकार के पाठ और पाठ्य-विषय में ध्यान रखना चाहिए, वे हैं :—

(१) **रुचि को जागृत करने का सिद्धान्त**—जब तक बालक में नवीन ज्ञान को प्राप्त करने के लिये रुचि जागृत न की जायेगी वह कुछ न सीख सकेगा।

(२) **प्रेरणा का सिद्धान्त**—शिक्षा में प्रेरणा वह कला है जो बालक के अन्दर रुचि को जन्म देती है। जब भी बालक किसी कार्य या वस्तु में रुचि अनुभव नहीं करता प्रेरणा द्वारा उसकी रुचि को उसमें जागृत किया जा सकता है।

(३) **क्रिया द्वारा सीखने का सिद्धान्त**—बालक को सीखने में उसी समय आनन्द आता है जब वह क्रिया द्वारा स्वत: सीखता है।

(४) **जीवन से सम्बन्ध जोड़ने का सिद्धान्त**—बालक उन विषयों को सरलता से सीख लेते हैं जो उनके जीवन से सम्बन्धित होते है।

(५) **कुछ अन्य सिद्धान्त**—जिनको अध्यापक को शिक्षा प्रदान करते समय ध्यान में रखना चाहिए, वे हैं—शिक्षण उद्देश्यपूर्ण हो, पाठ्यक्रम का चुनाव इस प्रकार हो कि जो उद्देश्य अध्यापक ने अपने सम्मुख रखे हैं उन्हे प्राप्त करने में वह सफल हो। पाठ्यक्रम का विभाजन ऐसी अन्वितियों इत्यादि में हो

कि बालक सरलता से एक स्तर से दूसरे पर चढ़ता चला जाय तथा बालक को पाठ की पुनरावृत्ति करने का अवसर प्राप्त हो।

विधि-सूत्र

(१) **ज्ञात से अज्ञात की ओर**—बालक के पूर्व ज्ञान पर ही नये ज्ञान को अधारित करना चाहिए।

(२) **सहज से कठिन की ओर**—जो बालक के लिए सरल है उसे पहिले सिखाना चाहिए और फिर जटिल की ओर बढ़ना चाहिए।

(३) **अनिश्चित से निश्चित की ओर**—इस सूत्र से तात्पर्य है कि बालक के अस्पष्ट तथा अनियमित विचारों में स्पष्टता तथा नियमितता लायी जाय।

(४) **स्थूल से सूक्ष्म की ओर**—बालक को प्रथम स्थूल का ज्ञान देना चाहिए और फिर उसके विचारों को सूक्ष्म की तरफ मोड देना चाहिए।

(५) **विशेष के सामान्य की ओर**—बालक को पहिले विशेष उदाहरण इत्यादि देने चाहिए और फिर इन्हीं उदाहरणों के आधार पर उसे सामान्यीकरण करने को प्रोत्साहित करना चाहिए।

(६) **पूर्ण से अंश की ओर**—बालक को पहिले जो कुछ भी सिखाना है वह पूर्ण रूप से सिखाना चाहिए और फिर उसके अंशों पर ध्यान केन्द्रित करना चाहिए।

(७) **विश्लेषण से संश्लेषण की ओर**—पूर्ण का अंशों में विश्लेषण किया जाय और फिर इस विश्लेषण से संश्लेषण किया जाय। इस संश्लेषण के पश्चात् फिर विश्लेषण का क्रम आना चाहिए।

(८) **अनुभव से तर्क की ओर** :—बालकों के अनुभवों के आधार पर ही उनकी तर्क-शक्ति का विकास करना चाहिए।

(९) **आगमन विधि का उपयोग**—आगमन विधि अधिक मनोवैज्ञानिक है और इसमें बालक की रुचि जागृत रहती है। परन्तु आगमन विधि को निगमन विधि की सहायता प्राप्त करना आवश्यक है। पाठ आगमन विधि से आरम्भ होना चाहिए और निगमन विधि पर समाप्त होना चाहिए।

(१०) **मनोवैज्ञानिक क्रम से चलो**—बालक के विकास के क्रम के अनुसार उसे शिक्षा दी जानी चाहिए। पाठ्यक्रम का विभाजन तार्किक ढंग पर निर्भर न होकर मनोवैज्ञानिक ढङ्ग पर होना चाहिए और शिक्षा उसी के अनुकूल दी जानी चाहिए।

अध्ययन के लिए महत्वपूर्ण प्रश्न

१. "ज्ञात से अज्ञात की ओर," "स्थूल से सूक्ष्म की ओर" इन सूत्रों से आप क्या समझते हैं ? शिक्षण में इनका क्या महत्व है ? सोदाहरण व्याख्या कीजिये।

२. "शिक्षा में रुचि सबसे बड़ा शब्द है"—इस वाक्य से आप क्या समझते हैं ? रुचि जागृत करने के सिद्धान्त की पूर्ण व्याख्या कीजिये ।

३. क्रिया द्वारा सीखने का सिद्धान्त क्यों महत्वपूर्ण है । आप इस सिद्धान्त का प्रयोग शिक्षण देते समय किस प्रकार करेंगे ? विभिन्न विषयों से उदाहरण लेकर समझाइये ।

४. प्रेरणा का क्या महत्व है ? क्यों बिना प्रेरणा के अच्छा शिक्षण संभव नहीं है ? कुछ प्रेरकों का उदाहरण लेकर स्पष्ट कीजिये कि उनके द्वारा अच्छा शिक्षण क्यों संभव है ?

५. आगमन विधि से आप क्या समझते हैं ? किन्हीं भी विषयों में से दो उदाहरण लेकर इस पर प्रकाश डालिये ।

६. पाठ्यक्रम के चुनाव में क्यों मनोवैज्ञानिक क्रम आवश्यक है ? तार्किक क्रम की अवहेलना करने से क्या हानियाँ हो सकती हैं ? क्या ये हानियाँ इतनी गम्भीर होंगी कि बालक की शिक्षा दूषित हो जायेगी ? अपने विचार व्यक्त कीजिए ।

सहायक पुस्तकों की सूची

(१) रेमॉएट, टी · प्रिंसिपल्स ऑफ एजूकेशन, बोम्बे, लोंगमेन्स, १९५७ ।
(२) राइवर्न : प्रिंसिपल्स आफ टीचिंग, ऑक्सफोर्ड यूनीवर्सिटी प्रेस ।
(३) आत्मानन्द मिश्र : शिक्षण कला, प्रयाग, गर्ग ब्रदर्स ।
(४) सरयूप्रसाद चौबे : शिक्षण सिद्धान्त की रूपरेखा, आगरा, भारत पब्लिकेशन्स, १९५७ ।
(५) भाटिया, बी० डी०, कमला भाटिया : शिक्षण पद्धति और सिद्धान्त, दिल्ली, दोआबा हाऊस, १९५४ ।

अध्याय ५

हर्बर्ट[1] के पाँच पद

शिक्षा के जिन सिद्धान्त सूत्रों का वर्णन हमने पिछले अध्याय में किया है उन्हें हरएक प्रकार के पाठन के समय में ध्यान रखना चाहिए । परन्तु इन सिद्धान्तों को समझ लेना ही पर्याप्त नहीं होगा । अच्छे शिक्षण के लिए यह भी आवश्यक है कि अध्यापक कक्षा में पाठ पढ़ाने से पहिले उसकी ठीक प्रकार से योजना बनाये । पाठ पढ़ाने के लिए पूर्व तैयारी नितान्त आवश्यक है । अध्यापक यदि बिना पाठ की तैयारी के कक्षा में जाता है तो उसका शिक्षण असंगठित तथा बेतुका होगा । पाठ की तैयारी के लिए उसे चाहिए कि वह बालकों के पूर्व ज्ञान के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करे । पूर्व ज्ञान की आधार-शिला पर ही वह नये ज्ञान का भवन खड़ा कर सकता है ।

अध्यापक के लिए इस बात की जानकारी भी आवश्यक है कि पाठ में कितना भाग पढ़ाना है और वह कैसे पढ़ाना है ? तात्पर्य यह है कि एक विशेष पाठ के शिक्षण में कितनी पाठ्य सामग्री ली जाय और कौन-सी विधि उसे पढ़ाने के लिये अपनायी जाय । अध्यापक को पाठ्य सामग्री सम्बन्धी पर्याप्त ज्ञान होना आवश्यक है । यदि वह एक पाठ के लिए अधिक या कम पाठ्य सामग्री जो निश्चित समय में पढ़ानी चाहिए, का चुनाव करेगा तब वह पाठ को या तो उस समय में समाप्त न कर सकेगा या उसके पास बहुत अधिक समय बच जायेगा । उसकी प्रगति पाठ्य विषय पढ़ाने में बहुत ही धीमी होगी। दूसरी बात जो हमने ऊपर कही है वह पाठ्य-विधि का चुनाव करना है । विभिन्न शिक्षा शास्त्रियों ने विभिन्न प्रकार की शिक्षा-विधियों का उल्लेख किया

1—Five formal Steps of Herbert.

है। इन्हीं में से एक महान् शिक्षा शास्त्री हर्बर्ट ने पाठ्य सामग्री को बालकों के सम्मुख प्रस्तुत करने की एक विधि प्रतिपादित की है जिसका आधार उन्होंने मनोविज्ञान के ज्ञान पर माना है। इन्होंने अध्यापन सामग्री को बालकों को प्रस्तुत करने के लिये चार पदों का उल्लेख किया। फिर इनके शिष्यों ने इन पदों को सुव्यवस्थित किया और पाँच पदों का प्रतिपादन किया। वर्तमान समय में हमारे प्रशिक्षण विद्यालयों में पाठ्य सूत्र का निर्माण[1] इन्हीं पाँच पदों पर आधारित है। अतएव यह आवश्यक है कि हम हर्बर्टीय पंचपदी का सम्यक् ज्ञान प्राप्त करें।

हर्बर्ट-पंचपदी के आधार हर्बर्ट द्वारा प्रतिपादित मनोविज्ञान पर रखे गये है। परन्तु शिक्षा के उद्देश्य इस पंचपदी विधि से प्राप्त करने का ध्येय रखा गया, वह हर्बर्ट के दर्शन पर आधारित हैं। इसीलिए हर्बर्ट की पंचपदी की आधार भूमि को समझने के लिए हम यहाँ संक्षेप में हर्बर्ट के शिक्षा दर्शन तथा मनोविज्ञान का उल्लेख करेंगे। यहाँ यह कह देना भी आवश्यक है कि हालाँकि हर्बर्ट का मनोविज्ञान अब हमें मान्य नहीं है फिर भी उसकी पंचपदी शिक्षण देने में अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हो चुकी है और इसलिए उसका अनुसरण अब तक कक्षा-शिक्षण में किया जा रहा है।

हर्बर्ट का शिक्षा-दर्शन

हर्बर्ट ने शिक्षा के उद्देश्य को आचार-शास्त्र[2] की सहायता से प्रतिपादित किया। उनके अनुसार शिक्षा प्रदान करने में सबसे महत्वपूर्ण तथा मूल प्रश्न शिक्षा के उद्देश्य का है। इस प्रश्न का उत्तर आचार शास्त्र ही प्रदान कर सकता है। इस प्रकार हम—"शिक्षा के एकमात्र एवं सम्पूर्ण कार्य को संक्षेप में नैतिक आचरण कह सकते हैं।[3] वह शिक्षा का उद्देश्य जो और सब गौण उद्देश्यों को सम्मिलित करता है "अच्छे व्यक्तियों का निर्माण कहा जा सकता है।"[4] किसी भी व्यक्ति के गुणों की माप उसकी बुद्धि पर न होकर उसकी इच्छा-शक्ति पर होनी चाहिए।

इच्छा-शक्ति—हर्बर्ट महोदय के अनुसार इच्छा-शक्ति मस्तिष्क की एक स्वतंत्र शक्ति नहीं है जो कार्यों को, विचारों या प्रत्यक्षीकरण से स्वतंत्र होकर, करवा सकती है। यह विचारों से ही पनपती है और मस्तिष्क में जो विचार या प्रत्यय वर्तमान होते हैं पूर्णतया उन्हीं पर निर्भर रहती है। मस्तिष्क में जो

1—Lesson Planning. 2—Ethics. 3—The one task and the whole task of education be may summed up in the conduct of morality. 4—"The aim of ducation that includes all minor aims is the production of good men."

विचार केन्द्रित हो जाते हैं उन्हीं से इच्छा-शक्ति का निर्माण होता है। अतएव जब हम किसी व्यक्ति की इच्छा-शक्ति में दोष पाते हैं तो उसका कारण यही होता है कि उसको उत्तम विचार नहीं मिले हैं। उत्तम विचार न मिलने से उसके विचारों का केन्द्रीकरण नहीं होता और केन्द्रीकरण न होने से इच्छा शक्ति का निर्माण ठीक प्रकार से नहीं होता। इस प्रकार हर्बर्ट इच्छा-शक्ति को अनुभवों पर आधारित मानते हैं।

हर्बर्ट महोदय शिक्षा का उद्देश्य चरित्र निर्माण मानते हैं। चरित्र निर्माण उसी समय संभव है जब मनुष्य में विवेक हो। विवेकवान् व्यक्ति दुष्कर्मों के प्रलोभनों से बच सकता है। परन्तु व्यक्ति विवेकवान् उसी समय हो सकता है जब उसके ज्ञान का क्षेत्र पर्याप्त मात्रा में विस्तीर्ण हो। ज्ञान का क्षेत्र विस्तृत होने के लिए उसमें बहुमुखी रुचि का विकास होना आवश्यक है। बहुमुखी रुचि होने से वह नवीन विचारों को ग्रहण कर लेगा। ये विचार उसके मस्तिष्क में जाकर केन्द्रित हो जायेंगे जिनसे उसकी इच्छा शक्ति पनप उठेगी।

शिक्षक का सबसे महत्वपूर्ण कार्य यह है कि वह बालक को शिक्षण इस प्रकार से दे कि उसे उत्तम विचार और अनुभव प्राप्त हो जायें। और जब उसे ये अनुभव उसके शिक्षण द्वारा प्राप्त हो जायें तो विचार-चक्र पूर्ण हो जाय। उत्तम अनुभवों एवं विचारों के लिए बहुमुखी रुचि को जागृत करना आवश्यक है। बहुमुखी रुचियाँ होने से उसमें बहुमुखी अनुभवों को प्राप्त करने की प्रेरणा मिलेगी और जब ये बहुमुखी विचार, मस्तिष्क में संगठित होकर विचार-चक्र को घनी बनायेंगे तो व्यक्ति में हर स्थिति में उचित कार्य करने की क्षमता आजायेगी। यही नैतिक चरित्र का मूल अर्थ है।

इन सब विचारों को संक्षेप में हम इस प्रकार रख सकते हैं : (१) शिक्षा का उद्देश्य चरित्र-निर्माण है।

(२) चरित्र निर्माण के लिए विवेक का इच्छा-शक्ति के साथ संयोग होना आवश्यक है। अच्छी इच्छा-शक्ति ही अच्छे चरित्र का कारण हो सकती है।

(३) इच्छा-शक्ति मस्तिष्क में विचार-चक्र[1] की सम्यक्ता तथा सम्पूर्णता पर निर्भर है। विचार-चक्र से तात्पर्य है विभिन्न प्रकार के विचार इत्यादि जो मस्तिष्क में रहते हैं वे क्रमबद्ध हैं और एक चक्र के रूप में हों न कि अलग-अलग जिनका आपस में कोई सम्बन्ध नहीं है।

(४) विचार-चक्र का निर्माण, जो अनुभव या विचार व्यक्ति को प्रदान

1—Circle of thought.

किये जाते हैं उन पर निर्भर रहता है। यह विचारचक्र कैसे बनता है? इसका हम आगे चलकर हर्बर्ट के मनोविज्ञान के अन्तर्गत वर्णन करेंगे।

(५) विचारों एवं अनुभवों को प्रदान करने के लिए अध्यापन की आवश्यकता है। अध्यापन के द्वारा बालक की बहुमुखी रूचियाँ जाग्रत की जा सकती हैं और उसको इन्हीं रुचियों के अनुकूल अनुभव प्रदान किये जा सकते है। यह विचार-चक्र के उत्तम निर्माण के लिए आवश्यक है।

अतएव चरित्र निर्माण के लिए अध्यापन आवश्यक है। अच्छे अध्यापन के आधार पर ही अच्छा विचार-चक्र बनेगा और यही अच्छे चरित्र को निर्मित करेगा।

हर्बर्ट का शिक्षा-मनोविज्ञान

हर्बर्ट प्रथम शिक्षा शास्त्री थे जिन्होंने एक शिक्षा-विज्ञान आचार शास्त्र तथा मनोविज्ञान के आधार पर प्रतिपादित किया। आचार शास्त्र के आधार पर उन्होंने शिक्षण के उद्देश्यों पर प्रकाश डाला और मनोविज्ञान के आधार पर शिक्षण-विधि को प्रतिपादित किया।

हर्बर्ट महोदय जॉन लॉक के इस सिद्धान्त के समर्थक थे कि बालक का मन जन्म के समय एक कोरी पटिया की भाँति होता है। वह संस्कार हीन होता है। जो कुछ भी मानसिक जीवन का विकास होता है वह प्राथमिक प्रत्यक्षीकरण के कारण होता है। हमारी ज्ञानेन्द्रियों द्वारा अनुभव प्राप्त किये जाते हैं और मस्तिष्कीय-नाड़ी-संस्थान के माध्यम द्वारा हम वातावरण के संपर्क में आते हैं। ये ही सब हमारे मस्तिष्क की प्रदत्त सामग्री बन जाती है। मस्तिष्क का विकास इस प्रकार अनुभवों द्वारा एकत्रित किए हुए प्रत्यक्षीकरण एवं विचारों द्वारा होता है। जो विचार मन ग्रहण करता जाता है उन्हे अपने में आत्मसात करने की शक्ति भी इसमें स्वाभाविक होती है। मन नवीन विचारों को पुरानों को साथ आत्मसात करता जाता है। यह ऐसा किस प्रकार करता है, इस सम्बन्ध में हर्बर्ट ने विस्तारपूर्वक प्रकाश डाला है।

हर्बर्ट के अनुसार हमारा मन दो भागों में विभिक्त रहता है—(१) चेतन मन, और (२) अचेतन मन। जो भी विचार हमें आते हैं वे चेतन मन में आते हैं। परन्तु यहाँ यह स्थायी न होकर कुछ ही समय बाद अचेतन मन में चले जाते हैं वहाँ ये सुसुप्त अवस्था में रहते है। जब कोई विचार अचेतन मन में ढकेला जाता है तो उसके स्थान पर चेतन मन में कोई दूसरा विचार आ जाता है। चेतन मन में कोई भी विचार देर तक नहीं रह पाता, यह बराबर अचेतन की ओर ढकेल दिया जाता है। इस प्रकार अचेतन मन में अनेकों प्रकार के विचार इकट्ठे रहते हैं जो चेतन मन में आने को उत्सुक रहते हैं। ये विचार

परस्पर समान, असमान या विरोधी हो सकते हैं। किसी भी समय में चेतन मन में विचार आते ही रहते है। जो विचार इनसे सम्बन्धित अचेतन मन में होते हैं वे उठ कर चेतन मन में आजाते है और ये दोनों मिलकर सम्बद्ध हो जाते हैं। यह क्रिया निरन्तर चलती रहती है। जब कई विचार परस्पर विरोधी होते हैं तो एक चेतन मन से निकाल दिया जाता है और दूसरा ग्रहण कर लेता जाता है। जब वे न विरोधी और न समान होते हैं तो दोनों बिना मिले हुए गूढ़ रूप में स्थिर रह जाते हैं। परन्तु जब नये विचार पुराने विचारों के साथ सम्बद्ध हो जाते हैं तभी ज्ञान का क्षेत्र विकसित एवं विस्तृत हो जाता है। जब ये विचार न सम्बद्ध होते हैं और एक विचार दूसरे को बाहर निकाल फेंकने में सफल होता है तो मन का विकास रुक जाता है और मानव का ज्ञान बढ़ नहीं पाता। ऐसी दशा में व्यक्ति निर्णय नहीं ले पाता और उसका चरित्र निम्न कोटि का रह जाता है। हर्बर्ट के अनुसार शिक्षा का यह कार्य है कि वह नये और पुराने विचारों में सम्बद्धता स्थापित करे। जो यह निश्चय करे कि किन विचारों को मन ग्रहण करता है और यह भी कि किस एकार वे उच्च मानसिक क्रियाओं में सम्बद्ध होते हैं वही दोनों मन और चरित्र के निर्माण की मुख्य निर्धारित करने वाली शक्ति शिक्षा है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हर्बर्ट की शैक्षिक विचारधारा मन के सम्बद्ध करने के कार्य पर निर्भर है जिसे नैन महोदय पूर्वानुवर्तन[1] के नाम से सम्बोधित करते हैं। संक्षेप मे पूर्वानुवर्तन से हम एक नये अनुभव के विचारों को उन विचारों से जो पहिले ही अर्जित किये जा चुके है, सम्बद्धता प्राप्त करना समझते हैं। अध्यापक इस क्रिया में सहायता पहुँचा सकता है। वह पूर्वानुवर्तन पर नियंत्रण रख कर मन का विकास कर सकता है। नये अनुभव को पुराने से सम्बद्ध करने के लिए वह बालक की रुचि जागृत कर सकता है। वह नयी पाठ्यवस्तु को इस प्रकार प्रस्तुत कर सकता है कि वह जो विचार बालक के मन में स्थित ही उनसे सम्बन्ध रखने वाला हो।

हर्बर्ट अध्यापन की महत्ता को मानने वाले थे। उनके विचारानुसार पूर्वानुवर्तन द्वारा ही मन का विकास सम्भव है जिसके आधार पर उत्तम चरित्र का निर्माण होता है। अध्यापन किस प्रकार उचित ढङ्ग से किया जा सकता है जो मनोविज्ञान पर आधारित हो और जिसके द्वारा शिक्षा का उद्देश्य प्राप्त किया जा सके, इसके लिए उन्होने कुछ पदो का प्रतिपादन किया। अब हम इन पदों के सम्बन्ध में विचार करेंगे।

1—Apperception.

हर्बर्टीय पंच

हर्बर्ट महोदय के अनुसार मानसिक एकता प्राप्त करने के लिए दो प्रकार की मानसिक क्रियाओं का होना आवश्यक है। प्रथम तो धीमे-धीमे अलग-अलग विचारों का ग्रहण करना और द्वितीय इन अलग-थलग विचारों का इनके ग्रहण करने से साथ-साथ एक चक्र के रूप में सम्बद्ध करना। प्रथम को वह विश्लेषण,[1] या वस्तु की गहराई में जाना तथा द्वितीय को वह तुलना एवं सामान्य निर्धारण[2] कहते हैं जिसमें विचार को मन की दूसरी प्रदत्त सामग्री से सम्बद्ध किया जाता है।

इन्हीं विचारों को और अधिक स्पष्टता देने के लिए उन्होंने आगे चलकर चार पदों का उल्लेख किया। ये पद थे—

(१) स्पष्टता[3]

(२) सम्बन्ध[4]

(३) प्रणाली[5]

एवं (४) विधि[6]

स्पष्टता—हर्बर्ट का प्रथम पद था स्पष्टता। जिस पाठ्य वस्तु को पढ़ाना है उसे उसके तत्वों में तोड़ दिया जाये जिससे सीखने वाला वस्तु के हर सत्य तथा विवरण पर एक-दूसरे से अलग प्रकार से ध्यान दे सके। यह पद वही है जिसे हमने ऊपर विश्लेषण कहकर पुकारा है। हर्बर्ट के शिष्य जुल्लर[7] ने इस पद को दो पदों में विभाजित कर दिया। वह हैं।

स्पष्टता : (१) **प्रस्तावना**[8]—मन में उन विचारों को स्मरण करना जो नये दिये जाने वाले ज्ञान से सम्बन्धित हैं और उनको इस प्रकार से सुव्यवस्थित करना कि वह नये ज्ञान के अर्थ की व्याख्या कर सकें।

(२) **प्रस्तुतीकरण**[9]—नये ज्ञान को वास्तविक रूप से प्रस्तुत करना।

हर्बर्ट के एक दूसरे शिष्य राइन ने जुल्लर के दो पदों के बीच एक और पद 'उद्देश्य कथन" जोड़ दिया। इस प्रकार अब पद हो गये :—

(१) प्रस्तावना

1—Analysis. 2—Comparison and generalisation. 3—Clearness. 4—Association. 5—System. 6—Method. 7—Zuller. 8—Prepration. 9—Presentation, Statement of aim.

(२) उद्देश्य कथन,
तथा (३) प्रस्तुतीकरण

प्रस्तावना में जो प्रसंग पढ़ाना है उसके सम्बन्धी पूर्व ज्ञान पर अधारित विचार चेतन मन में लाये जाते हैं। प्रस्तावना पद का प्रयोजन यही है कि इस स्तर पर पूर्व ज्ञान निश्चित एवं व्यवस्थित रूप में बालक के सम्मुख आ जाय ताकि नया ज्ञान जो दिया जाने वाला है उससे यह सम्बन्धित हो सके। इस पद पर उद्बोधन के लिए अध्यापक बहुधा प्रश्न पूछता है, या कुछ वर्णन करता या कोई कहानी इत्यादि सुनाता है। ये सब बालकों ने जो कुछ सीख लिया है उसी पर केन्द्रित होते हैं जैसे यदि शिक्षक को त्रिभुज के तीनों कोणों का योग दो समकोण के बराबर सिखाना है तो वह इस पद पर इस प्रकार से प्रश्न कर सकता है।

(१) त्रिभुज की आकृति बनाओ।
(२) इसमें कितनी भुजाएँ हैं।
(३) इसमें कितने कोण हैं? इत्यादि।

यहाँ यह मान लिया गया है कि त्रिभुज के सम्बन्ध में बालक को पूर्व ज्ञान है। क्योंकि बालक पुराने ज्ञान के पुनरावलोकन में अधिक रुचि नहीं लेता अतएव यह पद अधिक लम्बा नहीं होना चाहिए। इसमे वही प्रश्न पूछे जाने चाहिए जो बालक को पाठ के उद्देश्य की ओर ले आयें। यह प्रश्न भी क्रमिक रूप में होने चाहिए। एक के बाद दूसरा स्वाभाविक रूप से आना चाहिए। विभिन्न प्रश्नों में कुछ सम्बन्ध होना आवश्यक है।

उद्देश्य कथन—उद्देश्य कथन प्रस्तावना के तुरन्त बाद आता है। वास्तव में प्रस्तावना द्वारा बालक को उद्देश्य कथन की ओर ले जाना चाहिए। इस पद पर पाठ का उद्देश्य स्पष्ट शब्दों में बालकों के सम्मुख रख दिया जाता है। इससे उन्हें नये ज्ञान को सीखने की प्रेरणा मिलती है। वह पाठ में रुचि लेने लगते हैं। उद्देश्य कथन में अध्यापक को यह ध्यान में रखना चाहिए कि वह इस प्रकार से दिया जाय कि बालक यह समझ ले कि नये पाठ को पढ़ने से ही उनकी जिज्ञासा शान्त होगी। जो प्रश्न या जो समस्यायें उस समय उनके सम्मुख उठ खड़ी हैं उनका हल नये पाठ को पढ़ने से उन्हें मिल सकेगा। उद्देश्य कथन पर ही पाठ की बहुत कुछ सफलता निर्भर होती है। यदि अध्यापक इसे बेढंगे या अरोचक ढङ्ग से देता है जिससे बालकों को कोई प्रेरणा नहीं मिलती तो बालकों की रुचि पाठ में जागृत नहीं हो पाती। शिक्षक को उद्देश्य कथन सरल भाषा में देना चाहिए। भाषा का निश्चित सरल एवं प्रभावपूर्ण होना भी आवश्यक है। उद्देश्य कथन को उत्तम पुरुष के रूप में

देना ही अच्छा है। हम ऊपर दिये हुए उदाहरण में उद्देश्य कथन इस प्रकार दे सकते हैं—"आज हम त्रिभुज के तीनों कोणों का योग ज्ञात करना सीखेंगे। यह कथन प्रस्तावना के अन्तिम प्रश्न "त्रिभुज के तीनों कोणों का योग कैसे ज्ञात करोगे"—के एकदम बाद में दिया जायगा।

प्रस्तुतीकरण : इस पद में विद्यार्थियों को नया ज्ञान दिया जाता है। इस पद में बालक नये ज्ञान को सीखता है तथा जो कुछ वह सीख चुका है उससे सम्बन्ध स्थापित करने की चेष्टा करता है। इस पद में बालक को आवश्यक सहायक सामग्री; जैसे—चित्र, मॉडल, नकशे इत्यादि की सहायता से नवीन ज्ञान प्रस्तुत करना चाहिए। इनसे बालक की रुचि पाठ में बनी रहती है और वह इसे समझता रहता है। वह इन्हीं के द्वारा निष्कर्ष, नियम, सिद्धान्त आदि निकालने में सफल होता है।

सम्बन्ध

हर्बर्ट का दूसरा पद था, सम्बन्ध। सम्बन्ध से तात्पर्य था नये का पुराने से सम्बन्ध। जो कुछ ज्ञान सीखा जाता है और पुराना ज्ञान जो बालक को है, दोनों इस पद पर सम्बद्ध हो जाते हैं। इस पद को अब अलग पद न मान कर प्रस्तुतीकरण पद के अन्तर्गत ही रख देते हैं। प्रस्तुतीकरण के पद में सम्बद्धता होती रहती है। बालक जो कुछ सीखता जाता है उसे अपने मन में सम्बद्ध भी करता जाता है।

प्रणाली—हर्बर्ट का तीसरा पद था, प्रणाली। इस पद पर विशिष्ट से सामान्य को अलग कर लिया जाता है और सामान्य को एक प्रणाली के रूप में पूर्ण ज्ञान से सम्बद्ध कर दिया जाता है ताकि एक पूर्ण का रूप तैयार हो जाय। इस पद पर तथ्यों का उचित सम्बन्ध दिखाई पड़ने लगता है। सम्बन्ध के पद में जो सम्बन्ध प्रतीत होते हैं वे कभी-कभी हो सकते हैं परन्तु इस पद पर क्या आवश्यक है और क्या असामयिक है स्पष्ट हो जाता है और तथ्यों का संकलन इकाई के रूप में हो जाता है। अब पूर्वानुवर्तन पूर्ण हो जाता है। यह पद भी अब अलग से नहीं माना जाता वरन् यह और सम्बन्ध वाला पद दोनों प्रस्तुतीकरण के पद में साथ-साथ सम्पन्न होते रहते हैं।

विधि—हर्बर्ट का अन्तिम पद था विधि, जिसे बाद में हर्बर्ट के शिष्यों ने 'प्रयोग के नाम से सम्बोधित किया। इस पद में बालक को अपने सीखे हुए विचारों का प्रयोग करना होता है। जो ज्ञान बालक ने अर्जित कर लिया है उसका नये उदाहरणों में प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार से नये सीखे हुए ज्ञान का नई परिस्थितियों में प्रयोग करने से नये ज्ञान को पुराने ज्ञान से सम्बद्ध

करने की क्रियापूर्ण हो जाती है। नया ज्ञान सम्बद्ध होकर घुल मिल जाता है और इस प्रकार मानसिक जीवन की एकता में वृद्धि होती है।

हर्बर्टीय पद जिनका उपयोग अब हम करते हैं—

ऊपर हमने हर्बर्ट द्वारा प्रतिपादित किये हुए पदों का वर्णन किया और यह बताने की चेष्टा की कि प्रत्येक पद का क्या महत्व है। हमने यह भी वर्णन किया कि बाद के हर्बर्टीय प्रवर्तकों ने इनके नाम में क्या हेर फेर किये। अब हम यहाँ क्रमिक रूप से उन पदों का वर्णन करेंगे जिन्हें हम पाठ-सूत्र निर्माण में प्रयुक्त करते हैं। यह पद हर प्रकार और हर विषय के पाठ में इसी रूप में नहीं रहते वरन् इनमें हेर फेर हो जाता है। इस सम्बन्ध में हम कुछ अगले पाठ में चर्चा करेंगे। जिन पदों का हम एक ज्ञान के पाठ में अनुसरण करते हैं वे हैं—

(१) प्रस्तावना	(१) (अ) प्रस्तावना
(२) उद्देश्य कथन	(ब) उद्देश्य कथन
(३) प्रस्तुतीकरण	(२) प्रस्तुतीकरण
(४) सामान्यीकरण	(३) तुलना
(५) पुनरावृत्ति	(४) सामान्यीकरण
(६) प्रयोग	(५) प्रयोग

हर्बर्ट के पदों में कुछ शिक्षा शास्त्री उद्देश्य कथन को अलग पद न मान कर प्रस्तावना का ही एक अंग मानते हैं। कुछ प्रस्तुतीकरण के पश्चात् के पद को तुलना का पद मानते हैं जिसके बाद सामान्यीकरण के और प्रयोग के पद आते हैं। हम प्रस्तावना, उद्देश्य कथन एवं प्रस्तुतीकरण के सम्बन्ध में ऊपर प्रकाश डाल चुके हैं और इस ओर भी संकेत कर चुके हैं कि प्रस्तुतीकरण के अन्त में **सामान्यीकरण** का पद आता है। इस पद में बालक द्वारा जो कुछ ज्ञान अर्जित किया गया है उसे विशिष्ट से अलग कर सामान्य का रूप दे देता है। यह पद हर्बर्ट की प्रणाली पद के अनुकूल ही है। बालक का सामान्य निर्धारण प्रस्तुतीकरण के साथ-साथ चलता रहता है परन्तु इस पद पर आकर बालक स्पष्ट रूप में सामान्य नियम या सामान्य सिद्धान्त निकाल कर रख देता है।

पुनरावृत्ति के पद में पाठ की मुख्य-मुख्य बातें दोहराई जाती हैं। इससे बालक का ध्यान पाठ की महत्वपूर्ण बातों पर फिर दिला दिया जाता है। बालक ने जो कुछ सीखा है वह सम्बद्ध हो गया है या नहीं, इसका पता इस पद पर लग जाता है। पुनरावृत्ति के पद से यह निश्चित हो जाता है कि

बालकों ने पाठ को आत्मसात कर लिया या नहीं। यहाँ शिक्षण की सफलता की परीक्षा हो जाती है।

प्रयोग के सम्बन्ध में भी हम ऊपर कह ही चुके हैं। यहाँ जो सिद्धान्त, निष्कर्ष या परिणाम छात्रों ने ज्ञात किए हैं उन्हें नये उदाहरणों में प्रयोग करने को दिया जाता है। इस पद द्वारा बालक नये ज्ञान का व्यवहारिक प्रयोग सीख लेते हैं।

हर्बर्टीय पंचपदी की उपयोगिता—

हर्बर्ट के पद आगमन-निगमन विधियों का सामञ्जस्य करते हैं। इस कारण इनका प्रयोग प्रत्येक ऐसे पाठ में जिसमें ये दोनों विधियाँ अपनानी हैं हो सकता है। हर्बर्ट के प्रथम चार पद आगमन विधि के हैं और अन्त का एक पद निगमन विधि का है। व्याकरण, ज्यौमित, गणित, विज्ञान इत्यादि के पाठों में प्रायः आगमन तथा निगमन विधियों का संयोग आवश्यक समझा जाता है ऐसे पाठों के लिये ऊपर वर्णन किये हुए पद प्रयोग में लाये जा सकते हैं। परन्तु ऐसे पाठों में जहाँ नियम, सिद्धान्त आदि निकालना नहीं होता या वे रसात्मक अनुभूति के पाठ होते हैं तो इन पदों में आवश्यक संशोधन करके ही इनका उपयोग किया जा सकता है।

हर्बर्ट के पदों की आलोचना

हर्बर्ट के पदों की कड़ी आलोचना भी की गयी है। विभिन्न शिक्षा शास्त्री इनकी आलोचना मुख्यतः इस आधार पर करते हैं—

(१) सबसे प्रथम तो इन पदों की आलोचना हर्बर्ट के इस सिद्धान्त के आधार पर की जाती है कि इन पदों द्वारा मानसिक जीवन में एकता लाना संभव है। इन पदों द्वारा विभिन्न विषय पढ़ाये जा सकते हैं। एक विषय के ज्ञान में सम्बद्धता हो सकती है। परन्तु विभिन्न विषयों का ज्ञान के एक सूत्र में बनने का कोई उपाय नहीं। ये पद विभिन्न विषयों में सामान्जस्य स्थापित करने के लिए कुछ नहीं करते हैं। इस प्रकार मानसिक जीवन की एकता हर्बर्ट की विधि का पूर्ण उपयोग करने पर भी संभव नहीं क्योंकि विभिन्न विषयों का ज्ञान मन में अलग थलग पड़ा रहेगा। इस कठिनाई को दूर करने के लिए हर्बर्ट के बाद के शिक्षा शास्त्रियों ने समन्वय के सिद्धान्त को प्रतिपादित किया। विभिन्न विषयों में समन्वय प्राप्त करके शिक्षा देने पर बल दिया गया। परन्तु फिर भी हर्बर्टीय विधि में यह एक बड़ा दोष बना रहा।

(२) हर्बर्ट के पद पर ज्ञान के पाठ में तो उत्तम ढङ्ग से प्रयोग किये जा

सकते हैं परन्तु इनका प्रयोग कौशल, रसानुभूति, प्रत्ययात्मक पाठों में बिना बड़े संशोधन किए हुए नहीं सकता।

(३) ये पद अध्यापन को एक निश्चित ढङ्ग से करने पर बल देते है जिससे इसमें लचीलापन नहीं रहता है। लचीलापन नष्ट होने से कभी-कभी जो पाठ अध्यापक इन पदों के आधर पर पढ़ा रहा है वह अरोचक हो जाता है।

(४) इन पदों के आधार पर अध्यापन करने में शिक्षक को अधिक सक्रिय रहना पड़ता है। इनका स्वरूप तार्किक[1] एवं उद्घाटनात्मक[2] होता है। इस कारण छात्र अधिक सक्रिय नहीं रह पाता।

(५) प्रस्तुतीकरण पर अधिक बल देने के कारण से ये पद पाठ्य-वस्तु की ओर अधिक झुके होते हैं। छात्र कितना ज्ञान ग्रहण कर सकता है इस ओर इन पदों का प्रयोग करते समय कम ध्यान दिया जाता है।

(६) स्वशिक्षण के लिए ये सर्वथा प्रतिकूल हैं। इनमें बालक की आवश्यकता के स्थान पर अध्यापक की आवश्यकता से पाठ का आरम्भ होता है। जिससे बालक को स्वः सीखने की प्रेरणा कम मिल पाती है।

(७) इन पदों के अनुसरण करने में क्रिया को प्रधानता नहीं रहती। स्वः क्रिया द्वारा सीखना, इन पदों द्वारा उपयुक्त ढङ्ग से नहीं सीखा जा सकता। यही कारण है कि शिक्षा की नवीन पद्धतियों में इनको महत्वपूर्ण स्थान नहीं मिला है।

(८) अन्त में इन पदों में जो सबसे बड़ा दोष है वह है इनका दूषित मनोवैज्ञानिक आधार। ये पद इस सिद्धान्त पर बनाये गये हैं कि बालक का मस्तिष्क जन्म के समय एक कोरी पट्टी के समान होता है परन्तु वर्तमान मनोविज्ञान के विकास ने यह बात सिद्ध कर दिया है कि यह विचार सर्वथा मिथ्या है। बालक में कुछ जन्मजात प्रवृत्तियां होती हैं और उसके जीवन में वंशानुक्रम बहुत महत्व पूर्ण भाग लेता है। बालक को चाहे कैसी भी शिक्षा दी जाय हम जो चाहें वह उसे नहीं बना सकते। उसका विकास उसकी मूल संभावनाओं की ओर ही संभव हो सकता है।

सारांश

उत्तम शिक्षण के लिए अध्यापक को अच्छी शिक्षण-विधि अपनाना आवश्यक है। इस सम्बन्ध में हर्बर्ट द्वारा प्रतिपादित विधि अत्यन्त उपयोगी सिद्ध

1—Logical, 2—Expositional.

हो चुकी है। हर्बर्ट की विधि में चार पदों का उल्लेख किया गया जिन्हें आगे चलकर उनके शिष्यों ने पाँच पदों में सुव्यवस्थित किया। हर्बर्ट के पदों का आधार उनका मनोविज्ञान तथा दर्शन था।

हर्बर्ट का शिक्षा दर्शन—उन्होंने शिक्षा का एकमात्र उद्देश्य चरित्र निर्माण माना। चरित्र निर्माण के लिए उत्तम इच्छा शक्ति के विकास को अच्छा समझा गया। इच्छा शक्ति मस्तिष्क में विचार चक्र की सम्यकता तथा सम्पूर्णता पर निर्भर मानी गई तथा विचार चक्र का निर्माण अनुभव या विचार पर निर्भर माना गया। और विचारों एवं अनुभवों को प्रदान करने के लिए अध्यापन की आवश्यकता समझी गई।

हर्बर्ट का शिक्षा-मनोविज्ञान—हर्बर्ट जॉन लॉक के इस सिद्धान्त के समर्थक थे कि बालक का मन जन्म के समय एक कोरी पट्टी के भाँति होता है। जो अनुभव, प्रत्यक्षीकरण एवं विचार उसे प्राप्त होते हैं उन्हीं के द्वारा उसके मन का विकास होता है। जो नये विचार मन ग्रहण करता जाता है उन्हें पुराने विचारों के साथ आत्मसात भी करता है। शिक्षा का यह कार्य है कि वह नये और पुराने विचारों में सम्बद्धता स्थापित करे। इस प्रकार हर्बर्ट की शैक्षिक विचारधारा मन के सम्बन्ध करने के कार्य पर निर्भर है जिसे नंन महोदय पूर्वानुवर्तन के नाम से सम्बोधित करते हैं।

हर्बर्टीय पद—हर्बर्ट ने जिन पदों का प्रतिपादन किया वे थे—(१) स्पष्टता, (२) सम्बन्ध, (३) प्रणाली तथा (४) विधि। इनको इनके शिष्यों ने परिवर्द्धित तथा संशोधित करके पाँच पदों का रूप दिया। वे हैं (१) प्रस्तावना, उद्देश्य कथन, (२) प्रस्तुतीकरण, (३) तुलना, (४) सामान्यीकरण तथा (५) प्रयोग। कुछ शिक्षा शास्त्री उद्देश्य, कथन को एक अलग पद मानते हैं और तुलना और सामान्यीकरण को प्रस्तुतीकरण के पद में ही सम्मिलित कर देते हैं। वह पुनरावलोकन का एक अन्य पद प्रस्तुतीकरण तथा सामान्यीकरण के पश्चात् जोड़ देते हैं।

प्रस्तावना—में बालक का प्रसंग के सम्बन्ध में पूर्वज्ञान बालक के सम्मुख लाने की चेष्टा की जाती है।

उद्देश्य कथन—पद में पाठ का उद्देश्य स्पष्ट शब्दों में बालकों के सम्मुख रख दिया जाता है।

प्रस्तुतीकरण—में बालकों को नया ज्ञान दिया जाता है तथा उसका पुराने के साथ सम्बन्ध स्थापित करके सामान्य निरूपण किया जाता है।

सामान्यीकरण—पद में जो ज्ञान अर्जित किया जाता है उसे विशिष्ट से अलग कर सामान्य का रूप दे दिया जाता है।

पुनरावृत्ति—के पद में पाठ की मुख्य-मुख्य बातें दोहराई जाती है।

प्रयोग—पद में जो सिद्धान्त इत्यादि बालक ने ज्ञात कर लिये हैं उन्हें नये उदाहरणों में प्रयुक्त करते हैं।

हर्बर्टीय पंचपदी को ऐसे पाठों में प्रयुक्त किया जा सकता है जिनमें आगमन-निगमन विधियों का प्रयोग होता है। अन्य पाठों में इनमें संशोधन करके ही इनका उपयोग किया जा सकता है।

हर्बार्ट के पदों की आलोचना—(१) इन पदों द्वारा एक विषय की पाठ्य सामग्री में तो सम्बद्धता हो सकती है परन्तु विभिन्न विषयों के ज्ञान में समन्वय नहीं प्राप्त हो पाता—

(२) इनका प्रयोग उत्तम ढंग से ज्ञान के पाठों में ही हो सकता है।

(३) ये शिक्षण में लचीलेपन को नष्ट कर देते हैं।

(४) शिक्षक अधिक सक्रिय रहता है।

(५) ये पद पाठ्य वस्तु की ओर अधिक झुके होते हैं।

(६) स्व-शिक्षण के लिए ये पद प्रतिकूल है।

(७) क्रिया को प्रधानता नहीं देते।

तथा (८) इनका मनोवैज्ञानिक आधार दूषित है।

अध्ययन के लिए महत्वपूर्ण प्रश्न

१. हर्बर्ट की शिक्षण विधि क्या है? हर्बर्टीय पदों को प्रयोग में लाने की क्या सीमाएँ हैं। उनको आप कैसे दूर कर सकते हैं।

२. हर्बर्ट के चार पदों के दार्शनिक तथा मनोवैज्ञानिक आधारों पर प्रकाश डालिए। इन आधारों की आलोचना किस प्रकार की जाती है।

३. हर्बर्ट के शिष्यों ने हर्बर्ट के पदों में क्या संशोधन एवं परिवर्द्धन किये। उनके पद हर्बर्ट के पदों से किस रूप में अधिक उत्तम है?

४. प्रस्तावना, उद्देश्य-कथन तथा प्रस्तुतीकरण पदों की महत्ता पर प्रकाश डालिए।

५. पुनरावलोकन पद की आवश्यकता क्यों है? पुनरावलोकन के पश्चात् प्रयोग का आना क्यों आवश्यक है।

६. बहुधा अध्यापक सामान्यीकरण के पद का अनुसरण भद्दे ढङ्ग से करते हैं। इस कथन से आप क्या समझते है। कुछ उदाहरण देकर समझाइये। सामान्यीकरण क्यों आवश्यक है इसकी भी व्याख्या कीजिये।

सहायक पुस्तकों की सूची

(१) भाटिया एवं भाटिया : प्रिन्सिपुल्स एण्ड मैथड्स आफ टीचिंग, देहली, दो आबा हाऊस, १९५९
(२) आत्मानन्द मिश्र : शिक्षण कला, प्रयाग, गर्ग ब्रदर्स, १९५७
(३) सिंह एवं शास्त्री : अध्यापन सिद्धान्त एवं विशिष्ट पद्धतियाँ, आगरा, गयाप्रसाद एण्ड सन्स ।
(४) टी रेमन्ट : दि प्रिन्सिप्लस आफ एडूकेशन, ओरियन्ट लांगमैन्स, १९५७ ।
(५) बौसिन्ड : टीचिङ्ग इन सेकन्डरी स्कूल्स
(६) वेल्टन : प्रिन्सिपुल्स एण्ड मैथड्स आफ टीचिंग,

अध्याय ६

विभिन्न प्रकार के पाठों का अध्यापन

(ज्ञान-पाठ)

पिछले अध्याय में हमने इस ओर संकेत किया है कि पाठों की विभिन्नता के कारण हर्बर्टीय पदों मे संशोधन और परिवर्धन लाना आवश्यक है। इस अध्याय में हम देखेंगे कि विभिन्न प्रकार के पाठ क्या हैं और उनके अध्यापन में हर्बर्टीय पदों में किस प्रकार से परिवर्तन करना आवश्यक है।

पाठों के प्रकार—

सीखना मानसिक क्रिया पर अधारित है। जब यह मानसिक क्रिया उचित ढङ्ग से सम्पन्न होती है तभी सीखना भी उत्तम ढङ्ग से होता है। सिखाने के लिये अध्यापक पाठ्यसामग्री का विभाजन विभिन्न विषयों एवं पाठों मे कर लेता है। इस विभाजन करने में उसका उद्देश्य यही रहता है कि बालक की मानसिक क्रिया उचित ढङ्ग से हो सके। इस कार्य के सम्पन्न करने में वह मनोविज्ञान की सहायता लेता है। मनोवैज्ञानिकों के अनुसार मानसिक क्रिया के तीन पहलू होते हैं। इन तीन पहलुओं का नाम है (१) ज्ञानात्मक[1] (२) क्रियात्मक[2] (३) भावात्मक या रागात्मक[3]। ज्ञानात्मक पक्ष या पहलू से तात्पर्य है उस क्रिया से है जिसके द्वारा ज्ञान अर्जित किया जाता है। पदार्थ का प्रत्यक्षीकरण करके जब हम उसके सम्बन्ध में ज्ञान ग्रहण करते हैं तो यह ज्ञानात्मक पहलू की क्रियाशीलता के कारण ही होता है। दूसरा पहलू उस समय क्रियाशील होता है जब हम उस पदार्थ के सम्बन्ध में किसी प्रकार की क्रिया करें

1—Cognition, 2—Conation, 3—Affection.

चाहे उसमें परिवर्तन लाने की चाहे उसे वैसा ही रहने देने की। तीसरा पहलू है भावात्मक इससे तात्पर्य है प्रभाव, अच्छा या बुरा जो भी हम पदार्थ के सम्बन्ध में अनुभव करते हैं। इन तीनों पहलूओं के आधार पर ही पाठों का विभाजन तीन प्रकार से किया जाता है। यह विभाजन इस प्रकार होता है—

मानसिक जीवन का पक्ष	पाठ का प्रकार
(१) ज्ञानात्मक	ज्ञान-पाठ
(२) क्रियात्मक	कौशल-पाठ
(३) भावात्मक	रसानुभूति-पाठ

ज्ञानात्मक, क्रियात्मक तथा भावात्मक पहलू सर्वथा एक दूसरे से अलग होकर नही रहते। वास्तव में हम उस मानसिक क्रिया को जिसमें ज्ञान अर्जित करना प्रधान है और क्रियात्मक तथा भावात्मक पहलू गौण उसे ज्ञानात्मक पहलू कहते हैं। इसी प्रकार क्रियात्मक पहलू क्रियाप्रधान होता है और भावात्मक पहलू भावप्रधान इनमें अन्य दो पहलू गौण होते हैं। इसी के अनुरूप ज्ञान पाठ, कौशल-पाठ एवं रसानुभूति-पाठ में ज्ञान या कौशल या रसानुभूति कमशः प्रधान होती है और शेष कोई भी दो पाठ गौण होते हैं। हम इस अध्याय में ज्ञान-पाठ के अध्ययन का वर्णन करेंगे और अगले दो अध्यायों में कौशल एवं रसानुभूति पाठों के अध्यापन पर प्रकाश डालेंगे।

ज्ञान-पाठ के अन्तर्गत, इतिहास, भूगोल, अर्थशास्त्र, गणित एवं विज्ञान इत्यादि के पाठ आते हैं। कौशल-पाठ के अन्तर्गत लिखना, पढ़ना, चर्मकारी, ललित कलाओं के कर्माभ्यास पाठ इत्यादि आते हैं और रसानुभूति पाठों में ऐसे पाठ आते है जो संगीत, कविता, साहित्य आदि का रसास्वादन करने के लिए होते हैं।

ज्ञान-पाठ

ज्ञान-पाठ का मुख्य उद्देश्य बालकों के ज्ञान में वृद्धि करना होता है। इस प्रकार के पाठों में तथ्यों की स्पष्ट व्याख्या की जाती है। ज्ञानात्मक पाठ के दो उप विभाग किये जा सकते है : (१) विकासात्मक (२) दृढ़ात्मक।

विकासात्मक पाठ वे पाठ होते हैं जिनमें अध्यापक स्वयं सक्रिय रह कर ज्ञान प्रदान करता है। इन पाठों में तथ्यों की व्याख्या करके बालकों को स्पष्ट रूप से ज्ञान दिया जाता है। दूसरे प्रकार के पाठ में ज्ञान को मस्तिष्क में दृढ़ता से बैठाना होता है। कुछ शिक्षा शास्त्री विकासात्मक पाठ के भी दो उपविभाग करते है—(१) आगमन पाठ, तथा (२) निगमन पाठ।

दृढ़ात्मक पाठ के भी दो उपविभाग किये जाते हैं : (१) अभ्यास पाठ[1] तथा पुनर्निरीक्षण।[2] विकासात्मक पाठों के अध्यापन के लिए आगमन विधि या निगमन विधि का उपयोग किया जाता है। चौथे अध्याय में हमने वर्णन किया है कि आगमन तथा निगम विधि दोनों ही एक पाठ में प्रयुक्त की जा सकती हैं। वास्तव में शिक्षण देने की उत्तम विधि वह है जो आगमन से आरम्भ होकर निगमन पर समाप्त हो। जो पाठ आगमन विधि पर अधारित होते हैं वे इस प्रकार के पाठ होते हैं, जिनमें वस्तुओं, तथ्यों, उदाहरणों, परिस्थितियों इत्यादि की तुलना द्वारा नियम, सिद्धान्तों, परिभाषाओं आदि का निर्धारण होता है। व्याकरण, अलङ्कार-शास्त्र, शैली-निर्णय, विज्ञान तथा गणित के अधिकतर पाठ इसी श्रेणी में आते हैं। ऐसे पाठों में हर्बर्टीय पदों का क्रम यह होता है।

(१) प्रस्तावना, उद्देश्य कथन।
(२) प्रस्तुतीकरण।
(३) तुलना।
(४) सामान्यीकरण।
तथा (५) प्रयोग { अभ्यास / गृह कार्य

ऐसे पाठ जिनमें कोई नियम इत्यादि नहीं खोजा जाता वरन् यदि आगमन पाठों से कोई सामान्य-नियम खोजे गये हैं तो उनका परीक्षण या सीमा निर्धारण होता है ये पाठ निगमन पाठ कहलाते हैं। इस प्रकार के पाठों में पदक्रम रहता है।

(१) प्रस्तावना।
(२) प्रस्तुतीकरण (समस्या-निर्धारण, विश्लेषण-संश्लेषण, निष्कर्ष)।
(३) प्रयोग।

ज्ञान के पाठों में जो हर्बर्टीय पद प्रयुक्त किये जाते हैं उनका वर्णन हम पिछले अध्याय में कर चुके हैं। परन्तु यहाँ यह ध्यान देना आवश्यक है कि विकासात्मक ज्ञान पाठों में हर्बर्टीय पंचपदी में थोड़ा रूप परिवर्तन हो जाता है जैसा कि हमने ऊपर वर्णन किया है। भाषा में ऐसे पाठ जो पाठ्य-पुस्तक पाठ हैं, द्रुत-पठन पाठ हैं, अदृष्ट पाठ हैं, रचना पाठ हैं अथवा कहानी पाठ हैं, इतिहास, नागरिक-शास्त्र अथवा अर्थ-शास्त्र के तथ्य सीखने के पाठ हैं इनमें पंचपदी, त्रिपदी के रूप में रह जाती है। इन पाठों में तुलना और सामान्य

1—Drill Lesson 2—Review lesson.

निरूपण पदों का उपयोग नहीं होता है। जो पद इस प्रकार के पाठों में प्रयुक्त किये जाते हैं वे ये हैं—

(१) प्रस्तावना एवं उद्देश्य कथन।

(२) प्रस्तुतीकरण।

(३) पुनरावृत्ति।

इन पाठों में प्रस्तुतीकरण को कई छोटे पदों में विभक्त कर देते हैं। पाठ विभिन्न अन्विति यों में विभक्त कर दिया जाता है। भाषा के पाठ की एक अन्विति का प्रस्तुतीकरण निम्न पदो के अनुकूल होता है—

(१) आदर्श वाचन—अध्यापक द्वारा।

(२) अनुवाचन—छात्रों द्वारा।

(३) बोध-परीक्षा—अध्यापक द्वारा।

(४) विस्तृत व्याख्या—अध्यापक द्वारा।

(५) मौन वाचन—छात्रों द्वारा।

(६) विचार विश्लेषण—अध्यापक की सहायता से छात्रों द्वारा ज्ञान पाठ के दो अन्य प्रकार के पाठ हैं जो दृढ़ात्मक वर्ग के अन्तर्गत आते हैं अभ्यास एवं पुनरीक्षण पाठ। इन पाठों की विशेषता एवं शिक्षण विधि की ओर अब हम ध्यान देंगे।

अभ्यास पाठ

इस प्रकार के पाठ के द्वारा बालकों में वांछित आदतें दृढ़ की जाती हैं। ये पाठ बालक की आवश्यकताओं एवं रुचियों को बिना ध्यान में रखे हुए केवल किसी क्रिया का अभ्यास इसलिए नही कराते रहते हैं कि उस कार्य को बालक बहुत अच्छी तरह से सीखले। वरम इन पाठों का उद्देश्य यह होता है कि विद्यार्थी किसी कुशलता में पूर्णता प्राप्त करें या जो कुछ सम्बन्ध उसने सीख लिए हैं उनमें स्थायित्व ले आए। अभ्यास पाठ केवल सीखे हुए पाठ का यांत्रिक रूप में दोहराना मात्र नहीं है।

अभ्यास के लिए दोहराना तो आवश्यक है परन्तु ये दोनों शब्द पर्याय-वाची नहीं हैं। दोहराना तो एक विधि है जो सम्बन्धों आदतों इत्यादि को दृढ़ बनाती है। अभ्यास का कर्त्तव्य यही है कि वह सम्बन्धों आदि को दोहराने की विधि को अपना कर दृढ़ बनाये। यदि अभ्यास उचित ढङ्ग से किया जाय तो ये सम्बन्ध इत्यादि इतने दृढ़ हो जाने चाहिए कि मस्तिष्क उनको बिना अधिक शक्ति व्यय किए हुए तत्काल स्मरण कर सके।

अभ्यास द्वारा तथ्यों में तथा सम्बन्धों में दृढ़ता उसी समय आ पाती है जब बालक उन्हें समझ कर तथा उद्देश्यों का स्पष्ट विचार रख कर दोहराता है।

जैसे यदि गणित में पहाड़े सिखाने हैं तो जब तक बालक उन्हें समझ कर न दोहरायेगा कुछ भी नहीं सीख पायेगा। इसी प्रकार भाषा में वर्तनी (हिज्जे) सीखना उसके मस्तिष्क में तब तक दृढ़ नहीं होगा जब तक उसमें बौद्धिक रूप से उसे समझने का समावेश नहीं है। बिना समझे हुए बार-बार दोहराने से अभ्यास का उद्देश्य प्राप्त नहीं हो सकता। कुछ व्यक्तियों की यह धारणा हैं कि यदि बालक कुछ समझने में असमर्थ हैं तो उसे बार बार दोहरा कर रटा दिया जाय। अभ्यास के पाठ से उनका यही तात्पर्य होता है। परन्तु यह धारणा अशुद्ध है। इस प्रकार से रटा हुआ पाठ कभी मस्तिष्क में दृढ़ता प्राप्त नहीं कर पाता और बालक पाठ को अनेकों बार पढ़ने के उपरान्त भी उसको स्मरण रखने में असफल रहता है। जैसे कुछ बालक ज्यौमित के प्रमेय को जब नहीं समझ पाते तो उसे बार बार दोहरा कर रट लेते हैं परन्तु परीक्षा के समय वे उन प्रमेयों को स्मरण करने में असफल ही रहते हैं। अतएव अभ्यास पाठ को हम यांत्रिक रूप में चलने वाला पाठ नहीं कहेंगे। इस प्रकार के पाठ में भी बुद्धि की उपयोगिता बिना कोई उद्देश्य प्राप्त नही हो सकता। अभ्यास पाठ मे विश्लेषण, तुलना, समन्वय आदि का उपयोग किये जाने पर आदतों और सम्बन्धों इत्यादि में दृढ़ता लाई जा सकती है।

अभ्यास पाठ के शिक्षण में हमको कुछ महत्वपूर्ण बातो को ध्यान में रखना चाहिए। वे हैं—

(१) अभ्यास पाठ का उद्देश्य प्रतिक्रियाओं को दृढ़ करके स्वयं चालित बनाना है अतएव इसका उपयोग ऐसी पाठ्य वस्तु के शिक्षण में होना चाहिए जो स्वयं चालित हो सके। जैसे गणित मे पहाड़े सीखना या भाषा में शब्द भाण्डार बढ़ाना या वर्तनी (Spelling) सीखना या सही लिखना या पढ़ना सिखाना या ड्राइंग का अभ्यास देना इत्यादि।

(२) जो कुछ पाठ्य वस्तु अभ्यास पाठ के लिये ली जाय वह अर्थपूर्ण हो। अर्थ हीन वस्तु का अभ्यास कराने से कोई लाभ नही प्राप्त हो सकता।

(३) अभ्यास पाठ को रोचक ढङ्ग से पढ़ाया जाना चाहिए। यह कोई आवश्यक नहीं है कि अभ्यास पाठ को इतना यांत्रिक बना दिया जाय कि बालक केवल तथ्यों को दोहराने के अलावा और किसी भी प्रकार की रुचि उसमें न ले। उसको पाठ सीखने की उचित प्रेरणा मिलनी चाहिए।

(४) अभ्यास पाठ इतने अधिक लम्बे या अधिक समय के लिये नहीं होने चाहिए कि बालक मानसिक थकावट का अनुभव करने लगे। ये पाठ छोटे होने चाहिए।

(५) अभ्यास पाठ में व्यक्तिगत शिक्षण को अधिक महत्व देना चाहिए।

प्रत्येक बालक जो पाठ का अभ्यास कर रहा है उसकी ओर विशेष ध्यान देकर पाठ की सफलता के लिए उसे प्रेरणा देनी चाहिए और पाठ का नियोजन इस प्रकार करना चाहिए कि वह अपनी सफलता से अवगत रहे।

(६) अभ्यास पाठों में विभिन्नता लाना आवश्यक है। यदि सब अभ्यास पाठ एक ही ढङ्ग से दिये जाते हैं तो वे नीरस हो जाते हैं।

(७) अभ्यास पाठ का शिक्षण उसी समय उचित ढङ्ग से हो सकता है जब बालक को सक्रिय प्रेरणा दी जाय। प्रेरणा द्वारा बालक पाठ को सीखने के लिए तत्पर हो जाता है। प्रेरणा प्रदान करने के लिए यह आवश्यक है कि बालक को पाठ के आरम्भ में ऐसी प्रस्तावना दी जाय जो पाठ्यवस्तु को बालक की किसी आवश्यकता, उद्देश्य या प्रयोजन से सम्बन्धित कर दे। प्रेरणा बनी रखने के लिये यह भी आवश्यक है कि बालक को अपनी प्रगति से अवगत कराया जाय। इसके अतिरिक्त बालक को अभ्यास करने का प्रयोजन मालूम होना चाहिए।

(८) अभ्यासार्थ क्रिया को ठीक-ठीक समझना भी आवश्यक है। बालक को केवल अभ्यास का प्रयोजन ही नहीं मालूम होना चाहिए वरन् अभ्यास करने की विधि से भी परिचित होना चाहिए। इसके लिए उसे आरम्भ से ही अभ्यास करने की विधि उत्तम ढङ्ग से सिखानी चाहिए। अभ्यास करने में वही विधि बालक को आरम्भ से सिखानी चाहिए जिसका उसे बाद में उपयोग करना है।

(९) अभ्यास में रुचि बनाये रखने के लिए विभिन्न प्रकार के उपाय करने चाहिए। जैसे शैक्षणिक खेल खिलाना, व्यक्तिगत प्रोत्साहन इत्यादि।

अभ्यास पाठों में हर्बर्टीय पद इस प्रकार प्रयोग किये जा सकते हैं। परन्तु यह कोई आवश्यक नहीं कि प्रत्येक अभ्यास पाठ में इन सब पदों का उपयोग किया जाय। कुछ अभ्यास पाठों मे प्रस्तुतीकरण बहुत ही छोटा होगा।

(१) प्रस्तावना।

(२) प्रस्तुतीकरण।

(३) अभ्यास एवं निरीक्षण।

तथा (४) गृह कार्य।

पुनरीक्षण पाठ[1]

पुनरीक्षण-पाठ का उपयोग पुरातन काल से अध्यापक करते चले आये हैं। इन पाठों द्वारा चेष्टा यही की जाती है कि सीखा हुआ पाठ मस्तिष्क में

1—Review lesson.

दृढ़ हो जाय। परन्तु जो विधियाँ पुराने अध्यापक गण प्रयोग करते थे उस दृष्टि से सर्वथा दूषित थे। अध्यापक उन विधियों का प्रयोग करके पुनरीक्षण पाठ का उद्देश्य प्राप्त करने में असफल थे।

पुनरीक्षण पाठ की उपयोगता में कोई संदेह नहीं। परन्तु कुछ अध्यापक जब उन्हें कुछ भी पढ़ाने को नहीं होता या नवीन पाठ को ठीक से तैयार नहीं कर पाते हैं तो वे पढ़ाये हुए पाठ का पुनरीक्षण करवाना आरम्भ कर देते हैं। इस प्रकार पुनरीक्षण पाठ का किसी उद्देश्य से पढ़ाये जाने की अपेक्षा केवल इसलिए पढ़ाये जाने लगते हैं कि अध्यापक को कक्षा में समय बिताना है। यह बात अत्यन्त दुखपूर्ण हैं। वास्तव मे प्रभावशाली शिक्षण के लिए पुनरीक्षण पाठ के उद्देश्य और प्रयोग करने की विधि का अध्यापक को जानना आवश्यक है।

पुनरीक्षण से तात्पर्य—पुनरीक्षण से तात्पर्य है दोबारा अवलोकन करना अथवा देखना।[1] पुनरीक्षण मे उन अनुभवों का फिर पुनःस्मरण किया जाता है जो पहिले प्राप्त किये जा चुके हैं पुनरीक्षण में पाठ समाप्त करने के पश्चात् पुनः उसका अवलोकन किया जाता है परन्तु पुनरीक्षण पुनः अवलोकन तक ही सीमित नहीं है वरन् पुनरीक्षण कहलाने के लिए इस अवलोकन मे दूसरी तरह की पृष्ठ भूमि का होना आवश्यक है। ज्ञान-पाठ के विकासत्मक रूप में तो नये अनुभव प्रदान किये जाते हैं जो नये सम्बन्ध स्थापित करते हैं, नये ज्ञान को अर्जित करते हैं तथा नयो समस्याओं को हल करते हैं। परन्तु पुनरीक्षण पाठों में सीखे हुए अनुभवों का पुनर्स्मरण एक नयी प्रकार की पृष्ठ भूमि को आधार मान कर किया जाता है। इनका उद्देश्य यही होता है कि सीखा हुए ज्ञान मस्तिष्क में दृढ़ता से सम्बन्द्ध हो जाय।

यहाँ हमारा अन्य प्रकार की पृष्ठ भूमि से क्या तात्पर्य है ? इसे भी स्पष्ट करना आवश्यक है। जब हम किसी पाठ्य विषय को विभिन्न पाठों की एक श्रेणी के अन्तर्गत सीखते हैं तो एक उस श्रेणी के पाठ मे उस पाठ्य विषय के उन अंगों पर ही बल दिया जाता है जो उस पाठ में पढ़ाये जाते हैं। इस पाठ मे न तो उस पाठ्य विषय के समग्र रूप पर ही प्रकाश पड़ जाता है न ही उसके बिभिन्न अङ्गों पर जो विभिन्न पाठों मे पढ़ाये गये उनमें सम्बन्ध ज्ञात हो पाता है परन्तु पुनरीक्षण पाठों में सम्पूर्ण पाठ्य विषय की पृष्ठभूमि बनाकर पुनराबलोकन किया जाता है। इस प्रकार बालक पाठ्य विषय की महत्ता तथा उसके विभिन्न अंगों में सम्बन्ध समझ लेता है। इस बात को और अच्छी तरह समझने के लिए हम थ्रेटोर्स्ट के एक दृष्टान्त का वर्णन करेंगे। वह एक ऐसे

1—To view again.

भ्रमण करने वाले से पुनरीक्षण की तुलना करते है जो एक पहाड़ी पर चढ़ रहा है। जब वह पहाड़ी की चढ़ाई पर जा रहा है तो वह जो कुछ भी दृश्य की सुन्दरता उसके सामने आती जाती है उसका अवलोकन करता जाता है जैसे झरना या गाँव या पेड़ इत्यादि की सुन्दरता पर ध्यान देता चला जाता है। यही पर्यटक जब पहाड़ी के ऊपर पहुँच जाता है तो मुड़ कर सारे दृश्य का पुनरावलोकन करता है। अब वह विभिन्न देखे हुए दृश्यों को एक नये स्वरूप में देखता है। इस प्रकार पहिले देखी हुई वस्तुऐं—झरने, गाँव, पेड़ इत्यादि सब एक नयी पृष्ठभूमि मे पर्यटक के सम्मुख आते हैं। पुनरीक्षण पाठ पहाड़ी से घूम कर देखे हुए दृश्य के स्वरूप की भाँति है जिसके विभिन्न अंगों को देखने के पश्चात् पुनः एक नयी पृष्ठभूमि में देखा जाता है। इस प्रकार देखी हुई वस्तुओं का सम्बन्ध एक नये रूप में दिखाई पड़ने लगता है।

पुनरीक्षण पाठों तथा अभ्यास पाठों में अन्तर—पुनरीक्षण पाठ तथा अभ्यास पाठ दोनों एक समान नहीं है। हालाँकि दोनों ज्ञान को दृढ़ करने के लिए ही पढ़ाये जाते हैं। मुख्य अन्तर अभ्यास एवं पुनरीक्षण पाठों में यह है कि अभ्यास में तो जो सामग्री सीखी जा चुकी है उसे पूर्ववत् ढंग से दोहराया जाता है जबकि पुनरीक्षण में पढ़े हुए पाठ्य विषय का एक नये तथा भिन्न ढंग से पुनरावलोकन किया जाता है। अभ्यास पाट में मुख्य बल इस बात पर दिया जाता है कि पाठ को उसी प्रकार से तथा उसी रूप में बार बार दोहरा कर याद कर लिया जाय जबकि पुनरीक्षण पाठ में उसी पाठ्य सामग्री को एक नये दृष्टिकोण से हृदयंगम कर लिया जाता है। इस प्रकार पुनरीक्षण पाठों में सामग्री का ज्ञान अधिक सुसंगठित ढंग से दृढ़ता को प्राप्त कर लेता है।

यहाँ यह भी याद रखना आवश्यक है कि पुनरीक्षण पाठ तथा परीक्षण में भी अन्तर है। पुनरीक्षण पाठ द्वारा परीक्षा लेना उद्देश्य नहीं होता है। यह तो अध्यापन प्रदान करने तक ही सीमित रहता है। परीक्षण पाठ केवल पुनः स्मरण तक ही सिमित रहता है जबकि पुनरीक्षण पाठ एक नवीन पृष्ठभूमि के आधार पर पुनस्मरण पर बल देते हैं।

पुनरीक्षण के प्रयोजन - पुनरीक्षण पाठ के प्रयोजनों को हम इस प्रकार व्यक्त कर सकते हैं—

(१) तथ्यों को पुनर्संगठित करके नए ढङ्ग से समझकर मस्तिष्क में धारण करना।

(२) तथ्यों को जो छोटी छोटी इकाईयों में पढ़ाये गये हैं उन्हें समग्र रूप से सीखने में बालक को सहायता देनी।

(३) बालकों को जो पाठ्य सामग्री सीखी जारही है उसकी पृष्ठभूमि को

एक विस्तिर्त रूप में समझने में सहायता देना। इससे तात्पर्य यह है कि पुनरीक्षण द्वारा बालक को यह पता लग जाता है कि पाठ्य सामग्री का सामग्र रूप क्या है। जब बालक छोटी छोटी इकाइयों में पाठ को सीखता है तो वह विभिन्न दिनों में पढ़ाये जाने वाले पाठों में जो अन्तरंग सम्बन्ध होता है उसे नहीं समझ पाता। पाठ्य विषय जो इकाईयों के रूप में विभिन्न पाठों में पढ़ाया जा रहा है उसकी पृष्ठभूमि प्रत्येक पाठ मे सीमित होती है। इस कारण बालक सम्पूर्ण पाठ्य विषय की पृष्ठभूमि को समझने में असमर्थ रहता है। पुनरीक्षण पाठ में बालक के समक्ष पाठ्य विषय की पृष्ठभूमि विस्तृत रूप मे रखी जाती है जिसके फलस्वरूप बालक यह समझने में सफल होता है कि जो पाठ्य विषय वह पढ़ रहा है उसका समग्रतः रूप क्या है।

(४) पुनरीक्षण पाठ द्वारा पाठ्य सामग्री को अधिक रोचक ढंग से प्रस्तुत करना होता है। ऐसे पाठ में नवीन एवं पूरक बात बताने के अवसर प्राप्त होते हैं। बालक जब पाठ्य सामग्री को समग्र रूप से देखता है तथा उसकी विभिन्न इकाईयों में सम्बन्ध ज्ञात करता है तो उसकी पाठ्य विषय में रुचि बढ़ जाती है।

(५) पुनरीक्षण पाठ द्वारा शिक्षक के अध्यापन की तथा छात्र के अध्ययन की जो त्रुटियाँ होती हैं उनका पता लगाना होता है। इन पाठों द्वारा अध्यापक क्या त्रुटियाँ पाठ योजना बनाने में तथा शिक्षण में करता है इसका पता चल जाता है तथा यह भी पता चल जाता है कि विद्यार्थियों ने किस बात को ठीक से नहीं समझा और उसे समझने में क्यों असमर्थ रहे।

पुनरीक्षण पाठ के प्रकार—यदि पुनरीक्षण पाठ द्वारा हमें ऊपर वर्णन किये हुए प्रयोजनों को प्राप्त करना है तो इनकी उचित ढंग से योजना बनाना अत्यंत आवश्यक है। पुनरीक्षण पाठ को हम जैसे चाहे वैसे नहीं पढ़ा सकते। क्योंकि ऐसी दशा में यह पाठ अरुचिकर हो सकते हैं और जिस प्रयोजनों को ध्यान में रखकर इन्हें पढ़ाया जाना है उन्हीं के विरोधी हो सकते हैं। यहाँ यह याद रखना चाहिए कि जैसे और पाठों में समालोचनात्मक मूल्याङ्कन, विश्लेषण, संश्लेषण, व्याख्या इत्यादि का प्रयोग पाठ की उपयोगित को बढ़ा देता है इसी प्रकार पुनरीक्षण पाठों का भी उपयोग अधिक अच्छे ढंग से हो सकता है यदि इन सब का प्रयोग सुन्दर ढंग से तथा उचित समय पर किया जाये। पुनरीक्षण पाठ कई प्रकार के हो सकते हैं। यहाँ हम उनका वर्णन करेंगे।

(१) **दैनिक पाठ पुनरीक्षण**—इस प्रकार का पुनरीक्षण अध्यापक प्रत्येक पाठ पढ़ाने के अन्त में कर सकता है। वह प्रस्तुत पाठ और पहिले पढ़ाये जाने वाले पाठों पर प्रश्न देकर दोनों में सम्बन्ध स्थापित कर सकता है। वह पूर्व

पाठ का सारांश बता कर और उचित प्रश्न पूछ कर दोनों पाठों के मुख्य तत्वों का सम्बन्ध स्थापित करा सकता है या दोनों पाठों को नई पृष्ठभूमि में समग्र प्रकार से रख सकता है। इस प्रकार दैनिक पुनरीक्षण में अध्यापक पाठ का सारांश और पाठ पर अधारित पुनरावलोकन के प्रश्न करता है। इस प्रकार के पुनरीक्षण में बालक तथा अध्यापक दोनों सक्रिय रह सकते हैं। बालक सारांश बना सकते हैं और प्रश्न या तो अध्यापक पूछ सकता है या बालक आपस में ही पूछ सकते हैं।

(२) **सारांश पुनरीक्षण**[1]—दैनिक पाठ पुनरीक्षण के साथ ही हम सारांश-पुनरीक्षण का वर्णन कर सकते हैं। सारांश पुनरीक्षण में अध्यापक पूर्व पाठ का सारांश नये पाठ को आरम्भ करने से पहिले बता देता है। यहाँ वह दो विधियों को अपना सकता है या तो सारांश को स्वयं पढ़ दे या बालकों से उसे लिखकर लाने को कहे। अच्छी विधि यही है कि बालक सारांश को स्वयं लिखकर लाये और अध्यापक अपना सारांश तैयार करे। अध्यापक अपना सारांश पढ़े और बालकों से उससे अपने लिखे हुए सारांशों की तुलना करने को कहे। जो बालकों के सारांश में त्रुटियाँ या भूलें हो उन्हें वह इस तुलना के आधार पर ठीक कर लें।

(३) **विषयोगी रूपरेखा पुनरीक्षण**[2]—इस प्रकार के पुनरीक्षण में एक प्रकरण चुन लिया जाता है जिस पर पुनः विवाद किया जाता है। इस प्रकार के पुनरीक्षण में विभिन्न इकाईयों में पढ़ाये गये पाठ की कुछ मुख्य बातों पर समग्र रूप से ध्यान डाला जाता है। जैसे अध्यापक ने कई पाठों में भारत के संविधान के सम्बन्ध में पढ़ाया है तो इन सब पाठों को पढ़ाने के बाद एक दो घन्टों में वह भारतीय संविधान की सब विशेषताओं की लेकर पुनरीक्षण करा सकता है। या वह भारतीय संविधान और दूसरे देशों का संविधान जो पिछले पाठों में पढ़ा चुका है उनमें से कोई एक विशेषता जैसे 'नागरिकों के मूल अधिकार, विभिन्न देशों के संविधानों में क्या हैं इसकी तुलना करा सकता है।

विषयंगी पुनरीक्षण ऐसे विषयों में अधिक उपयोगी हैं जिनमें पाठ्य विषय बड़ी इकाइयों में बटा होता है। इसका सफलतापूर्वक उपयोग भूगोल इतिहास गणित, प्राकृतिक विज्ञान इत्यादि के भावों में हो सकता है।

इस प्रकार के पुनरीक्षण तथा **इकाइयों में विभाजित पुनरीक्षण**[3] में कोई विशेष अन्तर नहीं होता है।

(४) **सहकारी पुनरीक्षण**[4]—इस प्रकार के पुनरीक्षण में शिक्षक तथा

1—Summary Review, 2—Topical outline Review
3—Unie plan Review, 4—Cooperative Review.

छात्रों का सहयोग आवश्यक है। शिक्षक द्वारा कक्षा में कुछ प्रश्नों या किसी समस्या को प्रस्तुत करके विवाद आरम्भ कर दिया जाता है। इस विवाद में सम्पूर्ण कक्षा भाग लेने लगती हैं। शिक्षक उचित पथ प्रदर्शन करता रहता है। इस प्रकार के पुनरीक्षण में सम्पूर्ण कक्षा भाग ले सकती है और यह हर प्रकार के पाठों में छोटे हों या बड़े में उपयोग किया जा सकता है। यह पुनरीक्षण **समस्यात्मक पुनरीक्षण**[1] का रूप जब ले लेते हैं जब सीखी हुई सामग्री पर एक समस्या बालकों को हल करने को दे दी जाती है। बालक सीखे हुए ज्ञान के आधार पर और अपने अनुभवों के आधार पर समस्या का हल ढूँढ़ने की चेष्टा करते हैं। इस प्रकार यदि समस्या का चुनाव उचित ढंग से होता है तो बालक जीवन की वास्तविक परिस्थितियों से अवगत हो जाते हैं और वे समस्या को हल करने में रुचि लेने लगते हैं। इस प्रकार का पुनरीक्षण अत्यन्त उपयोगी होता है। विशेषता इसकी उपयोगिता प्राकृतिक एवं सामाजिक विज्ञानों के पुनरीक्षण में है।

(५) **संचयात्मक पुनरीक्षण**[2]—इस प्रकार का पुनरीक्षण सारांश पुनरीक्षण के ही समान है। अन्तर केवल यह है कि इसमें जिस प्रसंग का पुनरीक्षण करना होता है उससे सम्बद्ध सब पूर्व पाठों का सांराश तैयार किया जाता है। सारांश पुनरीक्षण में केवल पिछले दिन के पाठ का सारांश लिखा जाता है। इस प्रकार के पुनरीक्षण से यह लाभ है कि प्रसंग सम्बन्धी सब मूल्यवान तत्वों का सम्बन्ध बालक को ज्ञात हो जाता है और वह प्रसंग को अधिक समग्र रूप से समझने में सफल होता है।

(६) **प्रयोगात्मक पुनरीक्षण**[3]—प्रयोगात्मक पुनरीक्षण में बालकों को इस बात का अवसर प्रदान किया जाता है कि वह उस ज्ञान को जो उन्होंने सीखा है नयी परिस्थितियों में प्रयोग कर सके। इस प्रकार पढ़े हुए प्रसंग का प्रयोग करना सीख कर वे उस प्रसंग को अच्छे प्रकार से अपने मस्तिष्क में दृढ़ कर लेते हैं।

पुनरीक्षण पाठ की उपयोगिता[4]—पुनरीक्षण पाठ की उपयोगिता हर प्रकार के विषयों में हैं। परन्तु इसका अधिक उपयोग ऐसी स्थितियों में आवश्यक है जहाँ कुछ नये तथ्य या नई कलाएँ सीखी गई हैं। वर्तमान समय में इतिहास, भूगोल विज्ञान, इत्यादि को बड़ी इकाइयों में पढ़ाना अच्छा समझा जाता है अतएव ऐसे विषयों में संगठित पुनरीक्षण की उपयोगिता बहुत अधिक है।

1—Problem Review, 2—Cumulative Review, 3—Review by application, 4—Usefulness of Reviews,

पुनरीक्षण शिक्षण की नवीन पद्धतियों में एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है। इकाइयों में कार्य को विभाजित करके जो शिक्षण विधियाँ अपनाई जाती है उनमें इसका उपयोग बहुत ध्यानपूर्वक एवं अच्छे ढंग से होता है।

वर्तनी[1] सिखाने की "साप्ताहिक इकाई शिक्षण योजना"[2] में पुनरीक्षण परीक्षण, शिक्षण और पुनर्परीक्षण का एक महत्वपूर्ण रूप है। वर्तनी का पढ़ाना सोमवार से आरम्भ होता है जब विद्यार्थियों के एक समूह को कुछ शब्दों के वर्तनी करवा कर परीक्षण किया जाता है, फिर मंगलवार को वर्तनी सिखायी जाती है। परीक्षण और पुनरीक्षण बुधवार को किया जाता है। फिर बृहस्पतिवार को शब्दों की वर्तनी सीखी जाती है अन्त में फिर परीक्षण एवं पुनरीक्षण शुक्रवार को होता है। इसी प्रकार मौरीसन महोदय की पूर्ण विधि[3] बालक के पाठ्य विषय की एक इकाई के जॉन के पूर्व परीक्षण से आरम्भ होती है। इसके पश्चात् अध्यापन किया जाता है और फिर पुनः परीक्षण होता है। अब विधि को अपना कर आगे प्रसंग सम्बन्धी शिक्षण दिया जाता है और जब प्रसंग समाप्त हो जाता है तो अन्तिम परीक्षण किया जाता है। मौरीसन महोदय की विधि में पुनरीक्षण चौथे और पाँचवें पद पर होता है इन पदों पर नई दशाओं में सीखी हुई विधि को अपनाया जाता है और अन्तिम परीक्षण होता है। डाल्टन प्लान में भी पुनरीक्षण का उपयोग पर्याप्त मात्रा में होता है। इसी प्रकार से समस्यात्मक पद्धति, प्रोजेक्ट पद्धति इत्यादि में भी पुनरीक्षण का बहुत उपयोग होता है।

पुनरीक्षण का विभाजन[4]—पुनरीक्षण ज्ञान को मस्तिष्क में दृढ़ करने के लिये आवश्यक है। अतएव इसलिये कि बालक बहुत अधिक भूल न जाय अध्यापक को सगठित रूप में पुनरीक्षण करना चाहिए। इसके लिए यह आवश्यक है कि अध्यापक पुनरीक्षण का विभाजन उचित ढंग से करें। पुनरीक्षण सबसे प्रथम, पाठ को पढ़ाने से बहुत कम समय के बाद आना चाहिए और पर्याप्त समय तक होना चाहिए इसके पश्चात् जब पुनरीक्षण हो तो उसका समय कम होता जाना चाहिए उदाहरण के लिए यदि प्रथम अभ्यास का समय १५ मिनट है तो दूसरा पुनरीक्षण आठ मिनट का हो और तीसरा पाँच मिनट का और अन्तिम दो मिनट का। इसके अतरिक्त विभिन्न पुनरीक्षणों के बीच के समय को धीमे-धीमे बढ़ाते रहना चाहिए। जैसे यदि पहिले पुनरीक्षण एक दिन पश्चात् होता था तो फिर दूसरा दो दिन पश्चात् होना चाहिए और उसके बाद तीन दिन

1—Spellings, 2—Unit plan of teaching, 3—Morrison's Mastery technique. 4—Distribution of Reviews.

इसी तरह से चार, आठ दिन पश्चात् होना चाहिए। वास्तव में पुनरीक्षण के बीच का समय इतना अधिक नहीं होना चाहिए कि बालक पाठ को बिलकुल भूल जाय और न इतना कम होना चाहिए कि यह अरोचक हो जाय और बालक के सीखने पर उसका कोई प्रभाव न पड़े।

सारांश

मानसिक जीवन के तीन पक्ष ज्ञानात्मक, क्रियात्मक, भावात्मक के अनुकूल ही पाठों को तीन प्रकार के पाठों मे ज्ञान पाठ, कौशल पाठ तथा रसानुभूति पाठ में विभाजित किया गया है।

ज्ञान-पाठ का मुख्य उद्देश्य बालकों में ज्ञान वृद्धि करना होता है। ज्ञानात्मक-पाठ के दो उपविभाग किये जा सकते हैं—(१) विकासात्मक, तथा (२) दृढ़ात्मक। विकासात्मक पाठ के भी दो उपविभाग होते हैं। (१) आगमन पाठ तथा (२) निगमन पाठ। दृढ़ात्मक पाठ के भी दो उपविभाग किये जा सकते हैं (१) आभ्यास पाठ तथा (२) पुनरीक्षण पाठ।

विकासात्मक पाठों में हर्बर्टीय पंचपदी में थोड़ा रूप परिवर्तन हो जाता है इनमें पंच पदी त्रिपदी के रूप में रह जाती है। जो पद इस प्रकार के पाठों में अनुसरण किये जाते हैं। वे हैं—(१) प्रस्तावना, उद्देश्य कथन, (२) प्रस्तुतीकरण तथा (३) पुनरावृत्ति।

अभ्यास पाठ—इस प्रकार के पाठ द्वारा बालकों में निर्दिष्ट आदतें दृढ़ की जाती हैं। इन पाठों के शिक्षण में कुछ महत्वपूर्ण बातें ध्यान में रखनी चाहिए, जैसे—

(१) अभ्यास पाठ का उद्देश्य प्रतिक्रियाओं को दृढ़ करके स्वयं चालित बनाना है।

(२) अभ्यास-पाठ के लिए अर्थ पूर्ण पाठ्य-वस्तु ली जाय।

(३) अभ्यास-पाठ को रोचक ढंग से बढ़ाया जाय।

(४) अभ्यास-पाठ अधिक लम्बे न हों।

(५) इनमें व्यक्तिगत शिक्षण को अधिक महत्व दिया जाय।

(६) इनमें विभिन्नता हो।

(७) इनके शिक्षण में बालकों को सक्रिय प्रेरणा दी जाय।

(८) अभ्यासार्थ क्रिया को ठीक-ठीक समझकर अभ्यास किया जाय।

(९) पाठ में रुचि बनाये रखने के लिए विभिन्न उपाय किये जायँ।

पुनरीक्षण पाठ—पुनरीक्षण में उन अनुभवों का पुनः स्मरण किया जाता

है जो पहिले प्राप्त किये जा चुके हैं। यह पुनः स्मरण एक नयी प्रकार की पृष्ठ भूमि को आधार मान कर किया जाता है।

अभ्यास पाठ तथा पुनरीक्षण पाठ में यह अन्तर है कि अभ्यास पाठ में तो जो सामग्री सीखी जा चुकी है उसे पूर्ववत ढंग से दोलराया जाता है जबकि पुनरीक्षण पाठ में पढ़े हुए पाठ्य-विषय को एक नये तथा ढंग से पुनरावलोकन किया जाता है।

पुनरीक्षण के कई प्रयोजन होते है इनको प्राप्त करने के लिए एक अध्यापक को पुनरीक्षण के प्रकार तथा पुनरीक्षण करने की विधियों से परिचित होना चाहिए। पुनरीक्षण पाठ के प्रकार हैं (१) दैनिक पाठ पुनरीक्षण (२) सारांश पुनरीक्षण (३) विषयोगी रूप रेखा पुनरीक्षण (४) सहकारी पुनरीक्षण (५) संचयात्मक पुनरीक्षण (६) प्रयोगात्मक पुनरीक्षण।

पुनरीक्षण पाठ की उपयोगिता प्रत्येक विषय में है। यह शिक्षा की उन नवीन पद्धतियों में जिनमें पाठ्य-विषय को इकाइयों में बाँट कर शिक्षा दी जाती है बहुत प्रभावशाली ढंग से प्रयुक्त किया जाता है।

पुनरीक्षण पहिले पाठ पढ़ाने के बहुत कम समय के बाद होना चाहिए और पर्याप्त समय तक होना चाहिए फिर उसका समय कम हो जाना चाहिए। इसके अतिरिक्त दो पुनरीक्षणों के बीच के समय में जैसे-जैसे पाठ याद होता जाय बृद्धि होती जानी चाहिए।

अध्ययन के लिए महत्वपूर्ण प्रश्न

१. पाठों के कितने प्रकार होते हैं? हर प्रकार के पाठ की विशेषताओं का वर्णन कीजिए।
२. ज्ञान-पाठ से अब क्या समझते हैं? इसके उप विभाग क्या है? विकासात्मक पाठों के उपविभागों में हर्बर्टीय पदों का उपयोग किस प्रकार होता है।
३. मस्तिष्क में सीखे हुए जान को दृढ़ बनाने के लिए किस प्रकार के पाठों की आवश्यकता है। अभ्यास पाठ की मुख्य विशेषताओं का वर्णन कीजिये।
४. पुनरीक्षण से क्या तात्पर्य है। इन पाठों में क्या विशेताएँ होती हैं वर्णन कीजिए।
५. पुनरीक्षण के कौन-कौन से प्रकार हैं कैसे यह भिन्न-भिन्न प्रकार पुनरीक्षण के प्रयोजनों को प्राप्त करने में सफल होती है?
६. पुनरीक्षण और अभ्यास में क्या अन्तर है स्पष्ट कीजिए?

सहायक पुस्तकों की सूची

(१) आत्मानन्द मिश्र : **शिक्षण कला**, प्रयाग, गर्ग ब्रदर्स, १९५७

(२) योकाम, जी० ए० एवं राबर्ट जी० सिम्पसन : **मार्डन मेटडस एन्ड टेकनीक्स आफ टीचिङ्ग**, न्यूयार्क, मेकमिलन।

(३) रिस्क, टी० एम० : **प्रिंसिपुल्स एण्ड प्रेक्टिसेज आफ टीचिङ्ग इन सेकन्डरी स्कूलस**, न्यूयार्क, अमरीकन बुक कम्पनी, १९४१,

अध्याय ७

कौशल-पाठ

कौशल-पाठो का मुख्य उद्देश्य बालकों को किसी विशेष प्रकार की कला मे दक्ष बनाना होता है; जैसे सिलाई, कटाई, कढ़ाई, चित्रकला, संगीत, नृत्य इत्यादि। ये पाठ ज्ञान-पाठ से इस बात में भिन्न होते हैं कि ज्ञान के पाठ में तो किसी विषय के सम्बन्ध मे कुछ तथ्यो एवं सम्बन्धों को सीखना होता है जबकि कौशल के पाठ मे उस सीखने के साथ-साथ कुछ करना भी होता है । कौशल पाठ मे भी तथ्यों का विवेचन तथा सिद्धान्तों का निरूपण होता तो है परन्तु गौण रूप में जब कि ज्ञान पाठ मे यह मुख्य रूप से होता है।

कौशल-पाठ का महत्त्व

बालक की क्रियाशीलता को उचित मार्ग पर लगाने के लिए कौशल-पाठ की आवश्यकता होती है। यों तो बालक स्वाभाविक रूप से क्रिया करके कुछ न कुछ सीखता रहता है परन्तु जो क्रिया वह कर रहा है उसमें कुशलता उसे उसी समय प्राप्त होती है जब वह उस क्रिया को सफलता पूर्वक सीख लेता है। जैसे बालक को यदि सुई दे दी जाय तो वह सीने की चेष्टा तो कर सकता है परन्तु उसकी सिलाई अत्यन्त गंदी, भद्दी एवं उद्देश्य रहित होगी। सिलाई करने में वह बहुत सी ऐसी चेष्टाऐं करेगा जिनकी कोई आवश्यकता नहीं होगी। यदि बालक को सीना न सिखाया जाय तो वह ऐसी क्रियाओं में ही लगा रहेगा जो उसे सीने में कुशलता प्राप्त करने में कभी-भी सहायता नहीं दे पायेंगी। यही कारण है कि बालक के लिए कौशल-पाठ अत्यन्त आवश्यक है। एक कुशल व्यक्ति बनने के लिए सीखना ही सबसे महत्त्वपूर्ण हैं।

कौशल-पाठ का महत्व इसलिए और अधिक है कि प्रत्येक कला को

सीखने का एक निश्चित ढंग होता है जैसे सिलाई सीखने के लिए सुई में एक निश्चित प्रकार से धागे को पिरोना और हाथ मे पकड़ कर सीना आवश्यक है। इसी तरह गिनती सीखने के लिये बालक को गिनती १, २, ३, ४ इत्यादि के क्रम में सीखनी होगी न कि ४, ३, ७, ९ इत्यादि के क्रम में। चूँकि बालक स्वयं क्रमिक ढंग से कला को नहीं सीख सकता इसलिए उसके लिए कौशल-पाठों का आयोजन करना अत्यन्त आवश्यक है।

कौशल-पाठ द्वारा बालक की कौशलपूर्ण चेष्टाओं में सुस्पष्टता एवं व्यवस्था लाई जाती है। एक कुशल व्यक्ति कार्य करने में बेकार चेष्टाऐं नहीं करता जब कि एक व्यक्ति जिसमें कुशलता नहीं है बराबर बेकार चेष्टाऐं नहीं करता रहता है जिससे समय और परिश्रम दोनों का अपव्यय होता है। कौशल-पाठ के उपयुक्त आयोजन से बालक बेकार की जाने वाली क्रियाओं को धीरे-धीरे छोड़ता जाता है।

कौशल-पाठ का शिक्षण

कौशल-पाठ के शिक्षण में भी हर्बर्टीय पदों का उपयोग किया जाता है। अब हम उन पदों का वर्णन करेंगे जिनका प्रयोग एक कौशल-पाठ के शिक्षण में किया जाता है।

(१) प्रस्तावना

अन्य पाठों की भाँति कौशल-पाठ के शिक्षण में भी पहिला पद प्रस्तावना का है। प्रस्तावना के पद मे अध्यापक बालको के पूर्व ज्ञान का पता लगाता है और उसे नया ज्ञान प्रदान करने के लिए तैयार करता है। कौशल-पाठ में प्रस्तावना इस प्रकार देना आवश्यक है कि बालक कौशल को सीखने के लिए अनुकूल शारीरिक तथा मानसिक स्थित में आजाय जिससे जो उनको सिखाया जाय उसमें वे रुचि ले सकें।

इस पद पर बालकों में जिज्ञासा जागृत करना चाहिए जिससे व नयी विधियां सीखने के लिये तैयार हो जायँ। उन्हें एक मॉडल दिखाया जा सकता है जिसके निर्माण में कुछ नई कलाओं का प्रयोग किया गया हो या एक नवीन उपकरण दिखाया जा सकता है जिसका उपयोग करने को बालकों को प्रोत्साहित किया जा सकता है, या सबसे अच्छे प्रकार से प्रस्तावना उस समय हो जाती है जब कि बालक के समक्ष क्रियात्मक कार्य करते समय कोई कठिनाई उठ खड़ी होती है जिसको हल करने के लिए उसे कुछ नये प्रकार से कार्य करने की विधि को सीखना होता है। इसके अतिरिक्त प्रस्तावना इस प्रकार भी दी जा सकती है कि बालक को किसी ऐसी क्रिया को करने को कहा जाय

जिससे वे परिचित न हो जैसे पाक-शास्त्र के शिक्षण में एक ऐसे खाने की वस्तु पकाने के लिए कहा जाय जिसके लिए साधारणतः उसमें उपयोग में आने वाले विभिन्न पदार्थों में से कुछ कम हों और उनके स्थान पर कलात्मक ढंग से कुछ दूसरे पदार्थों का उपयोग करना हो। परन्तु यहाँ यह बात विशेष ध्यान देने की है कि कोई भी प्रस्तावना देने की विधि उपयोग की जाय यह आवश्यक है कि वह बालक की रुचियों के अनुकूल ही हो और उस कला से सम्बन्धित हो जिसका शिक्षण दिया जा रहा है।

(ब) उद्देश्य-कथन--हर्बर्टीय पदों में प्रस्तावना के तुरन्त बाद ही एक अन्य पद आता है जिसे उद्देश्य कथन कहते हैं। कौशल-पाठ में भी इसका प्रयोग होना आवश्यक है। जैसे ही ऐसे पाठों में प्रस्तावना समाप्त हो जाय, उद्देश्य कथन कह देना चाहिए। इस कथन को इस प्रकार कह देना चाहिए कि बालकों की रुचि पाठ सीखने में लग जाय।

(२) प्रस्तुतीकरण

कौशल-पाठ में उपयोग किया जाने वाला दूसरा पद प्रस्तुतीकरण है। इस पद का रूप विभिन्न पाठों में भिन्न-भिन्न प्रकार का होगा। विभिन्न कौशल जिनका सीखने में विभिन्न प्रकार की क्रियायें करनी पड़ेंगी विभिन्न प्रकार से प्रस्तुत किये जायेंगे जैसे वर्तनी सीखना, गणित के प्रश्न हल करना सीखने की क्रिया से सर्वथा भिन्न होगा इसी प्रकार निबन्ध लिखना संगीत सीखने से विभिन्न होगा। इन विषयों का प्रस्तुतीकरण विभिन्न प्रकार से ही करना होगा।

बहुधा कौशल-पाठ में सर्व प्रथम बालकों को क्रिया का प्रदर्शन दिया जाता है। बालक इस प्रदर्शन को ध्यानपूर्वक देखते तथा सुनते हैं। इसके पश्चात् वे देखे हुए अथवा सुने हुए आदेश के अनुसार स्वयं कार्य करते हैं।

अध्यापक द्वारा यह प्रदर्शन बहुत धीरे-धीरे किया जाता है। धीरे-धीरे प्रदर्शन करने से छात्र सम्पूर्ण क्रिया के विभिन्न अङ्गों का भली प्रकार निरीक्षण कर लेते हैं और क्रिया को कैसे किया जाय समझने की चेष्टा करते हैं। प्रदर्शन द्वारा बालकों के सम्मुख एक आदर्श प्रस्तुत कर दिया जाता है जिसे उन्हें ग्रहण करना होता है।

प्रदर्शन द्वारा शिक्षक बालकों को केवल मार्ग दिखा देता है। इसके बाद सीखने की क्रिया बालकों को स्वयं करनी होती है। क्योंकि कक्षा में बालक विभिन्न योग्यता के होंगे। अतः अध्यापक को चाहिए कि प्रदर्शन करते समय मेधावी और मन्द बुद्धि दोनों प्रकार के छात्रों की आवश्यकताओं को ध्यान मे रखे।

प्रदर्शन के लिए शिक्षक को उचित श्रव्य-दृश्य सामग्री का प्रयोग करना

चाहिए। वर्तमान समय में चल-चित्र या स्थिर-चित्रों का बहुत उपयोग होता है। वास्तव में चल-चित्र या स्थिर-चित्र द्वारा क्रिया के अंग उपअंग इत्यादि की ओर बालक का ध्यान बहुत ही अच्छी तरह से आकर्षित किया जाता है। जो कार्य छोटे रूप में बालकों के समक्ष प्रस्तुत किया जाता है उसी को बढ़ा कर चलचित्र या स्थिर चित्रों द्वारा बालकों को दिखाया जा सकता है।

प्रदर्शन के कार्य में यह ध्यान रहे कि प्रधानता प्रदर्शन को ही दी जाय। ऐसे प्रदर्शन जिनमें विवाद या प्रश्नोत्तर इत्यादि होते हैं वे उन विद्यार्थियों के सामने करने चाहिए जो विषय सम्बन्धी कुछ ज्ञान रखते हों अन्यथा विद्यार्थियों को प्रदर्शन इस प्रकार देना चाहिए कि वे प्रदर्शन की ओर ही अपना ध्यान लगाये रहें और जहां कहीं कठिनाई हो शिक्षक उन्हें मौखिक विधि का उपयोग करके क्रिया का स्पष्टीकरण करें।

(३) अभ्यास

जब विद्यार्थी प्रदर्शन का निरीक्षण करके कार्य करने की विधि को अच्छी प्रकार समझ लें तो उन्हें अभ्यास देना चाहिए। इस समय अध्यापक का कार्य यह होगा कि वह बालकों के कार्य करने के ढङ्ग का निरीक्षण करता रहे। जो कुछ भी त्रुटियाँ बालक अभ्यास करने में करें उनका संशोधन करना भी आवश्यक है। अभ्यास करवाते समय उसे इस बात पर विशेष ध्यान देना चाहिए कि बालक ठीक प्रकार से प्रदर्शन में दिखायी गई विधि का प्रयोग कर रहे हैं अथवा नहीं जैसे यदि बालकों को लिखने का अभ्यास करने के लिए कहा गया है तो वे लेखनी को ठीक ढङ्ग से पकड़े है और लिखते समय कापी पर अधिक झुके हुए तो नही है या लिखने में उनकी आँखों के और कापी के बीच की दूरी बहुत अधिक तो नही है या वे कापी को टेढ़ा या तिरछा करके तो नहीं लिख रहे है। यदि ये त्रुटियाँ हो रही हैं तो अध्यापक को इनको तुरन्त सुधारना चाहिए।

शिक्षक को यह देखना भी आवश्यक है कि अभ्यास प्रभावशाली ढंग से हो। इसके लिए उसे इस प्रकार की दशाओं का आयोजन करना चाहिए कि बालक अभ्यास द्वारा उत्तम ढंग से सीख जायें। जो कुछ भी अभ्यास के लिए पाठ्यसामग्री चाहिए उसका संकलन पहिले से ही कर लेना चाहिए। यह नही कि जब घन्टा आरम्भ हो गया तब शिक्षक बालकों की अभ्यास की कापियां ढूंढ रहा है या निब लगा रहा है या सूई डोरा ढूंढ रहा है। इसके अतिरिक्त कितना समय अभ्यास के लिए दिया जाय इस सम्बन्ध में भी शिक्षक को सचेत रहना चाहिए। मामूली कौशल सीखने के लिये बहुत अधिक समय अभ्यास को देना अच्छा नहीं होगा। इसके अतिरिक्त अभ्यास का समय इतना अधिक नहीं

होना चाहिए कि बालक की रुचि उस ओर से हट जाये। उदाहरण के लिए गणित में पहाड़े याद करने सम्बन्धी अभ्यास का समय बहुत लम्बा नहीं होना चाहिए। सबसे उत्तम फल उस समय प्राप्त होते हैं जब इनका अभ्यास छोटे-छोटे घण्टों में मनोयोग और परिश्रम के साथ होता है। इसी प्रकार यदि निबन्ध इत्यादि के अभ्यास का समय बहुत छोटा है तो अभ्यास व्यर्थ हो जायगा और बालक सीखने में असमर्थ रहेगे।

अभ्यास देने में एक बात और याद रखनी चाहिए वह यह है कि अभ्यास दी जाने वाली वस्तु की जटिलता धीमे-धीमे बढ़ानी चाहिए। यह नहीं कि एकायक सरल अभ्यास से जटिल अभ्यास देना आरम्भ कर दिया जाय। गणित के विद्यार्थियो की इस बात का विशेष रूप से ध्यान देना चाहिए। उन्होंने यदि एक सरल प्रश्न पहिले अभ्यास के लिए बालकों को दिया है तो उसके बाद दूसरा प्रश्न कुछ मात्रा मे उससे कठिन होना चाहिए। यह नहीं कि वह बहुत अधिक जटिल हो जायें। जैसे यदि बालकों को १४४ का वर्गमूल निकालने को दिया गया है तो उसके बाद २५५ का वर्गमूल निकालने को नही देना चाहिए क्योकि २५५ पूर्ण वर्ग नही है और इसके वर्गमूल में दशमलव भिन्न का आना अनिवार्य है। यह प्रश्न तो वर्गमूल के पर्याप्त मात्रा में प्रश्न कर लेने के पश्चात् ही दिया जाना चाहिए।

कौशल पाठ की सफलता इस बात पर भी निर्भर रहती है कि बालक अपनी उन्नति से अवगत रहे। बालक स्वयं यह निर्धारित कर सके कि उसकी प्रगति हो रही है या नही। जब बालक यह जान लेता है कि उसकी प्रगति हो रही है तो उसे अधिक सीखने की प्रेरणा मिलती है। शिक्षक को अभ्यास देने में यह चेष्टा करते रहना चाहिए कि बालक सफलता की ओर अग्रसर रहे। इस प्रकार बालक की रुचि कार्य में कम न होगी। यदि वह बिना जाने हुए कि क्या कर रहा है और क्या उसकी प्रगति है अभ्यास करता रहे तो वह अभ्यास उसके लिए अत्यन्त रुखा हो जाता है और उसको इसमें लगे रहने के लिए बहुत अधिक मानसिक परिश्रम करना पड़ता है जिससे बहुत ही शीघ्र उसमे मानसिक थकावट आजाती है।

अभ्यास के समय शिक्षक के द्विविधि कार्य—अभ्यास के समय शिक्षक के कार्य दो प्रकार के होते हैं। पहिला कार्य तो उसका यह होता है कि वह बालकों द्वारा की जाने वाली क्रिया का निरीक्षण करे और दूसरे बालको को व्यक्तिगत रूप से निदर्शन एवं सहायता दे। निरीक्षण के सम्बन्ध में हमने ऊपर वर्णन किया है। निरीक्षण करते समय यदि वह बालकों को त्रुटि करते देखे तो उसका संशोधन करदे। इसके अतिरिक्त यदि कोई बालक कठिनाई

अनुभव कर रहा है तो अध्यापक को उसके पास जाकर उसकी व्यक्तिगत कठिनाई को हल कर देना चाहिए। अभ्यास के समय उसे कक्षा में घूमकर यह कार्य सम्पन्न करना चाहिए।

त्रुटि संशोधन—हमने अभ्यास के समय अध्यापक द्वारा त्रुटि संशोधन के सम्बन्ध मे कुछ कहा है। यह संशोधन किस प्रकार किया जाय इस सम्बन्ध में विभिन्न मत हैं। कुछ शिक्षक तो त्रुटि संशोधन करते करते थक जाते हैं परन्तु बालक के सीखने में किसी भी प्रकार की प्रगति नहीं होती। वे यह समझने लगते हैं कि त्रुटि संशोधन व्यर्थ है। वे बालक की ओर ध्यान देना बन्द कर देते हैं। ऐसा करना ठीक नहीं है। वास्तव में त्रुटि संशोधन भी एक कला है। एक अध्यापक जो उचित समय तथा उचित प्रकार से त्रुटि संशोधन कर सकता है वही इस कला में दक्ष माना जाता है। इसके लिए उसे मनोवैज्ञानिक क्षण[1] के सम्बन्ध में समझना आवश्यक है। मनोवैज्ञानिक क्षण वह क्षण है जब बालक त्रुटि संशोधन के लिए सबसे अधिक उपयुक्त ढंग से तैयार होता है। मैडममान्तेसरी अध्यापक से इस क्षण की प्रतीक्षा करने के लिए कहती है। यदि बालक त्रुटि संशोधन से सीखने मे असमर्थ है तो इसका कारण यही है कि अध्यापक ने मनोवैज्ञानिक क्षण का उचित उपयोग नही किया है। उसने उस समय त्रुटि सुधार नहीं किया जब बालक त्रुटि सुधार के लिये मानसिक रूप से तैयार था। मनोवैज्ञानिक क्षण से यह तात्पर्य है कि बालको की रुचि, मानसिक तैयारी तथा सीखने की शक्ति उस समय कार्य सीखने की ओर लगी हुई है।

त्रुटि संशोधन द्वारा बालकों के कार्य सीखने में सुधार उस समय ही लाया जा सकता है जब शिक्षक त्रुटि पकड़ने के पश्चात शीघ्र से शीघ्र उसका संशोधन कराने की चेष्टा करें। यदि संशोधन शीघ्र किया जायगा तो वह सीखने की क्रिया का ही अंग समझा जायेगा। परन्तु यदि बहुत अधिक समय निकल जायगा और फिर त्रुटियों मे संशोधन किया जायेगा तो वह बालक के मौलिक अनुभव का अङ्ग नहीं बन पायगा। यही कारण है कि शिक्षक को अभ्यास के समय त्रुटि संशोधन करते रहना चाहिए और व्यक्तिगत निदर्शन करना चाहिए। जहाँ कहीं भी संभव हो बालकों से स्वयं त्रुटि संशोधन करवाना चाहिए।

वर्तमान समय में त्रुटि संशोधन की एक अन्य विधि अपनाई जाती है। वह है परस्पर आलोचना विधि। इस विधि में एक बालक द्वारा किये गये कार्य की आलोचना दूसरे बालक द्वारा करायी जाती है। इसका उपयोग लेख, सस्वर वाचन, संगीत आदि के पाठों में किया जाता है। इस विधि में गुण यह

1—Psychological movement.

है कि जो आलोचना करते हैं और जिनकी आलोचना की जाती है दोनों लाभान्वित होते हैं। जो आलोचित होते हैं वे अपनी त्रुटियों के सम्बन्ध में सीख जाते हैं। आलोचक यह समझ लेते हैं कि उस कार्य में क्या-क्या और किस प्रकार की त्रुटियां हो सकती हैं वे फिर अपना कार्य करने में इन त्रुटियों को न करने की चेष्टा करते है। परन्तु इस विधि में एक बहुत बड़ा दोष यह है कि कुछ बालक जो बहुत भावुक होते है वे अपनी आलोचनाओं को हृदयंगम कर लेते हैं और कक्षा में कार्य करने से डरने लगते हैं। वे सदैव इस बात से चिंतित रहते है कि कहीं उनकी कड़ी आलोचना न हो जाय। वे बहुधा आत्महीनता की भावना ग्रन्थ का शिकार बन जाते हैं। इसके अतिरिक्त दूसरा दुर्गुण इसमें यह है कि आलोचक त्रुटि हो या न हो सदव त्रुटि निकालने की चेष्टा करते हैं। वे अध्यापक से कहीं अधिक कठोर आलोचक बन जाते हैं। इन दुर्गुणों के कारण ही यह कहना ठीक होगा कि इस विधि का कक्षा मे बहुत अधिक प्रयोग नहीं करने चाहिए। अच्छा यही है कि अध्यापक ही आलोचक बना रहे। एक शिक्षक को **कौशल-पाठ में निम्न बातों पर ध्यान देना आवश्यक है।**

(१) किसी कौशल के पाठ से आरम्भ करने से पहिले अध्यापक को यह जान लेना आवश्यक है कि विद्यार्थियों के पाठ के समय काम में आने वाले सब उपकरण, पाठ्य वस्तुऐं इत्यादि इकट्ठे कर लिये गये है और वह इस दशा में हैं कि उनका उपयोग उचित ढंग से हो सके। जो उपकरण टूटे-फूटे हों उन्हें हटा देना चाहिए। क्योकि बालक कौशल पाठ उस समय तक नहीं सीख सकता जब तक कि उसे कार्य करने की ठीक दिशाऐं न मिल जायँ। यदि आंगन टेड़ा ही है तो नाचना न आना कोई बड़ी बात नही है। यदि बालक जिस उपकरण द्वारा सीखता है वही खराब है तो सीखना संभव नहीं है।

(२) जो भी उपकरण कार्य में उपयोग होने वाला है उसे क्रिया के आरम्भ होने से पहिले ही बाँट देना चाहिए अन्यथा व्यर्थ पाठ के शिक्षण में रुकावट पड जायगी। इसके कारण बालक का अवधान पाठ की ओर से हट जाता है। जब उपकरण बाटें जायें तो शिक्षक को बालक की व्यक्तिगत आवश्यकता का ध्यान रखना चाहिए।

(३) बालकों को कक्षा में इस प्रकार से बैठाया जाय कि क्रिया करते समय उन्हें अपने हाथ पाँव चलाने की स्वतंत्रता रहे।

(४) कला का शिक्षण देने के लिये कक्षा के कमरे में प्रकाश का प्रबन्ध, बालकों के बैठने का ढङ्ग इत्यादि का ऐसा प्रबन्ध होना चाहिए कि बालकों के ऊपर कोई ऐसा जोर न पड़े जो कला में उनकी अरुचि को उत्पन्न करदे।

(५) शिक्षक इस ओर सचेत रहे कि कार्य का आरम्भ ठीक प्रकार से हुआ है यदि कार्य का आरम्भ अच्छा है तो उसका सीखना सरल होगा परन्तु यदि आरम्भ ठीक नहीं है उसका रूप ही दूषित है तो सीखने में बड़ी कठिनाई खड़ी हो जाती है। रूप दूषित होने पर कार्य में गति आना संभव नहीं होता। यदि बालक आरम्भ मे ही कुछ गलत आदतें बना लेता है तो फिर उनमें सुधार लाना कठिन हो जाता है। उदाहरण के लिये जो व्यक्ति एक उंगली से टाइप करना सीखना आरम्भ कर देते है वह बड़ी कठिनाई से इस आदत को छुड़ा कर दोनों हाथों की उगलियो के सहयोग से टायप सीख पाता है।

(६) शिक्षक को कला सीखने मे बालकों की रुचि को बनाये रखना चाहिए। बिना रुचि के चाहे जितना अभ्यास किया जाय सीखना न हो पायगा। कौशल के पाठ मे रुचि और अभ्यास दोनों का महत्व है इस कारण दोनों को उचित स्थान देना चाहिए।

(७) शिक्षक को यथा संभव निषेधात्मक निर्देश नहीं देना चाहिए। उसे यह नही कहना चाहिए कि इस कार्य को इस प्रकार करो। बहुधा जब हम किसी त्रुटि को बचाने की बहुत अधिक चेष्टा करते है तो वह हमसे हो ही जाती है। जब हम किसी त्रुटि को बचाने की बहुत अधिक चेष्टा करते है तो वह हमसे हो ही जाती हैं। जब हम बहुत संभल-संभल कर चल रहे हो और यही सोचते रहे कि कही हम ठोकर न खा जायें तो अनेकों समय हम ठोकर खा जाते है। इसके विपरीत यदि हम केवल इतना ही ध्यान रखें कि संभल के चलना ठीक होता है और अपने रास्ते चलते रहें तो ठोकर खाने की बहुत कम संभावना रहती है।

(८) बालक को बहुत अधिक निर्देशन आरम्भ मे नही देना चाहिए। अभ्यास से पूर्व वह निर्देश जो अत्यन्त आवश्यक है सक्षेप मे देना चाहिए। यदि निर्देश बहुत अधिक दे दिये जाते है तो बालक कार्य की ओर पूर्ण ध्यान लगाने मे असमर्थ रहते है। क्योकि उसका ध्यान निर्देशों को याद रखने की ओर केन्द्रित हो जाते है। अभ्यास के पश्चात् बालक को वह निर्देश जो उसकी त्रुटियो को सुधारने के लिए आवश्यक हो अवश्य देना चाहिए।

(९) जब बालक क्रिया को शुद्ध रूप में सीख ले तो उसकी आवृत्ति करनी चाहिए। इस क्रिया का अभ्यास बार-बार करना चाहिए जिससे बालक के मस्तिष्क मे क्रिया दृढ़ हो जाय।

(१०) क्रिया करते समय आरम्भ में बालक बहुत सी अनावश्यक चेष्टाएं करते है। इन चेष्टाओं को जहाँ तक हो अध्यापक को दूर कर देना चाहिए। जैसे लिखना आरम्भ करते समय यदि बालक ओठ काटता है या दूसरे हाथ क

अंगूठा मुंह में देता है या नाक भौं सिकोडता है तो इन सब अनावश्यक चेष्टाओं को छुड़ा देना चाहिए। यदि आरम्भ में ही ऐसा न किया गया तो ये चेष्टाएं जो क्रिया में किसी भी प्रकार का सहयोग नहीं देती वरन शरीर के अंग प्रत्यंग पर बुरा प्रभाव डालती हैं क्रिया के साथ सम्बन्ध हो जाती है और फिर इनका छूटना अत्यन्त कठिन हो जाता है।

(११) शिक्षक को बालकों को क्रिया समाप्त हो जाने पर उसके विभिन्न अंगों पर मनन करने को प्रोत्साहित करना चाहिए। वे चिन्तन द्वारा यह देखें कि किन चेष्टाओं द्वारा क्रिया करने में सफलता प्राप्त होती है। इस प्रकार मनन करने से वे क्रिया सम्बन्धी अच्छी आदतों को ग्रहण कर लेगें और बुरी आदतों को छोड़ देगें। परन्तु यह मनन उस समय नहीं होना चाहिए जब क्रिया का अभ्यास हो रहा हो अन्यथा क्रिया के विभिन्न अंगों में संयोजन टूट जायेगा और बालकों का ध्यान क्रिया की ओर से हट जायगा।

(१२) कौशल सीखने में यदि लय का समावेश कर दिया जाय तो कुशलता शीघ्र आ जाती है। हम देखते है कि जब मजदूर किसी भारी वस्तु को उठाते हैं या कोई ऐसा कार्य करते है जिसमें बहुत शक्ति व्यय होती है तो वे एक प्रकार की लय में गाने या बोलने लगते हैं इससे वे अपनी सम्पूर्ण शक्ति को कार्य की ओर लगाने में सफल होते हैं। इसी प्रकार कौशल सीखने मे लय का उपयोग है। जब कपड़ा काता या बुना जाता है तो बुनने या कातने वाले गाना गाते रहते है। नवीन शिक्षा पद्धतियों में लय पर बहुत अधिक बल दिया जा रहा है। लयपूर्ण ढंग से कार्य करने पर बालक आनन्द अनुभव करता है।

(१३) शिक्षक को कौशल पाठ पढ़ाते समय बालकों के व्यक्तिगत भेदों को ध्यान मे रखना चाहिए। प्रत्येक बालक के सीखने की सीमा समान नही होती। एक बालक उसी कार्य को शीघ्र सीख लेता है जबकि दूसरा उसमें बहुत अधिक समय लगा देता है। किसी बालक की लिखावट आरम्भ से ही सुन्दर एवं आकर्षक होती है जबकि दूसरा बालक बहुत चेष्टा करने पर भी लिखावट को एक सीमा से आगे नहीं सुधार सकता। अध्यापक को चाहिए कि बालकों के व्यक्तिगत भेदों का पता लगा कर उनके अनुकूल उनकी शिक्षा का आयोजन करें।

(१४) यदि बालक क्रिया करने में प्रगति नहीं कर रहे हैं तो शिक्षक को अपना धैर्य नहीं खोना चाहिए। कौशल सीखने में प्रगति धीरे-धीरे होती है तथा यह अनिश्चित होती है। शिक्षक को प्रगति रुकने के कारण का पता लगाकर उसे दूर करने की चेष्टा करनी चाहिए।

सारांश

कौशल-पाठों का मुख्य उद्देश्य बालकों को किसी विशेष प्रकार की कला में कुशल बनाना है। कौशल-पाठ की आवश्यकता (१) बालक की क्रिया शीलता को ठीक मार्ग पर लगाने के लिए (२) क्रमिक ढंग से कला को सीखने के लिए तथा (३) बालक की कौशल पूर्ण चेष्टाओं में सुस्पष्टता लाने के लिए, होती है।

कौशल पाठ के शिक्षण में हर्बर्टीय पदों का उपयोग इस प्रकार होता है (१) प्रस्तावना—उद्देश्य कथन, (२) प्रस्तुतीकरण (३) अभ्यास।

प्रस्तुतीकरण के पद पर बहुधा बालकों को क्रिया का प्रदर्शन दिया जाता है। बालक ध्यान पूर्वक इस प्रदर्शन का निरीक्षण करते हैं।

जब विद्यार्थी प्रदर्शन का निरीक्षण करके कार्य करने की विधि को अच्छी प्रकार समझ लेते हैं तो उन्हें अभ्यास दिया जाता है। अभ्यास देने में अभ्यास के लिए उचित दशाओं का नियोजन, अभ्यास का समय, कार्य की जटिलता एवं बालकों का अपनी प्रगति से अवगत होने तथा शिक्षक द्वारा ध्यान दिया जाना आवश्यक है।

अभ्यास के समय शिक्षक के द्विविधि कार्य होते हैं—(१) वह बालकों द्वारा की जाने वाली क्रिया का निरीक्षण करे (२) बालकों के व्यक्तिगत भेद को ध्यान में रखकर निदर्शन एवं सहायता दे।

त्रुटि संशोधन के लिए अध्यापक को मनोवैज्ञानिक-क्षण की महत्ता को पहचानना चाहिए। त्रुटि पकड़ने के पश्चात् त्रुटि संशोधन शीघ्र होना चाहिए त्रुटि संशोधन की परस्पर आलोचना विधि को अधिक महत्व नहीं देना चाहिए।

एक शिक्षक को कौशल के पाठ में निम्न बातों पर ध्यान देना चाहिए : (१) विद्यार्थियों के काम में आने वाले सब उपकरण इत्यादि पाठ आरम्भ होने से पहिले इकट्ठे कर लिए गये हैं और वे ठीक दशा में है (२) क्रिया आरम्भ होने से पहिले वे बाँट दिये गये हैं (३) बालकों को कार्य सम्पन्न करने में शारीरिक स्वतन्त्रता है (४) उनके बैठने का ढंग इत्यादि ठीक है। (५) कार्य का आरम्भ ठीक प्रकार से हुआ है (६) बालकों की रुचि कार्य में जागृत है (७) बालकों को विशद्ध निर्देश तो नहीं दिये गये हैं (८) आरम्भ में बालकों को बहुत अधिक निर्देश तो नहीं दिये गये हैं (९) बालक क्रिया सीखने के पश्चात् भी उसका अभ्यास करता है (१०) बालक की अनावश्यक चेष्टाएँ छुड़ायी जा चुकी हैं (११) बालक क्रिया समाप्त होने पर उसके विभिन्न अंगों पर मनन करता है। (१२) कौशल सीखने में लय का सामावेश है। (१३) व्यक्तिगत

भेदों को ध्यान में रखा गया है और (९४) बालक की प्रगति में रुकावटों को दूर करने की चेष्टा की गई है।

अध्ययन के लिए महत्वपूर्ण प्रश्न

१. कौशल-पाठ से आप क्या समझते हैं? कौशल-पाठ तथा ज्ञान-पाठ के भेदों का विस्तृत विवेचन कीजिये।

२. कौशल-पाठ में हर्बर्टीय पदों का प्रयोग किस प्रकार होता है? प्रत्येक पद की महत्ता पर प्रकाश डालिए।

३. अभ्यास देने के लिए किन-किन बातों को ध्यान में रखना चाहिए? यदि अभ्यास का समय बहुत लम्बा कर दिया जाय तो बालकों पर क्या प्रभाव पड़ेगा। कितना समय अभ्यास के लिए पर्याप्त होगा १ स्पष्ट विवेचन कीजिए।

४. कौशल-पाठ में शिक्षक का क्या महत्व है? उसके कर्त्तव्यों के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट कीजिए।

५. शिक्षक को कौशल-पाठ का शिक्षण देते समय किन-किन बातों पर विषेष ध्यान देना चाहिए?

सहायक पुस्तकों की सूची

(१) आत्मानन्द मिश्र : **शिक्षण-कला**, प्रयाग, गर्ग ब्रदर्स,

(२) पेन्टन, जे० एच० : **मार्डन टीचिंग प्रेक्टिस एण्ड टेकनीक**, लन्दन, लांगमेन, १९४८।

(३) डमवायिल, बी० : **टीचिंग इटस नेचर एण्ड वेरायटीज**, लन्दन, यूनीवर्सिटी टूटोरीयल प्रेस, १९३६।

(४) स्टुअर्ट मेरी एवं ओक्डन, ई० सी० : **मेटर एण्ड मेथड इन एडूकेशन**, लन्दन, केगनपाल, १९४८।

(५) चौबे, सरयू प्रसाद : **शिक्षा सिद्धान्त**, आगरा, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, १९५६।

अध्याय ८

रसानुभूति का पाठ एवं सृजनात्मक सीखना[1]

रसानुभूति के पाठों का मुख्य उद्देश्य बालकों में सौन्दर्यानुभूति का विकास करना होता है। कविता, संगीत, साहित्य और इसी प्रकार की अन्य कलाओं के शिक्षण में बालकों को उनका सौन्दर्य अनुभव कराना होता है। उदाहरण के लिए कविता पढ़ाने मे मुख्य उद्देश्य यह होता है कि विद्यार्थी उन भावों का जो कविता में व्यक्त किये गये हैं रसास्वादन करें।

कुछ समय पहिले तक और अब भी कुछ व्यक्तियों की धारणा है कि संगीतज्ञ या कवि पौरुषहीन व्यक्ति होते हैं। वे इन व्यक्तियों के प्रति बहुत बुरी धारणा रखते थे और समझते थे कि ये व्यक्ति जीवन के साथ खिलवाड़ करने वाले होते हैं। इसी के फलस्वरूप विद्यालयों में कविता इत्यादि के शिक्षण को बहुत ही काम महत्व दिया जाता था। जो शिक्षण विधियाँ अपनाई जाती थीं वे इन विषयों द्वारा भी ज्ञान तथा कौशल के विकास पर ही बल देती थीं। हमारे देश के अनेकों विद्यालयों मे यह स्थिति अब भी देखने को मिल सकती है। यहाँ पद्य के शिक्षण को कोई महत्व नहीं दिया जाता और यदि पद्य या संगीत इत्यादि पढ़ाया भी जाता है तो उद्देश्य सौन्दर्यनुभूति का न होकर ज्ञान का विकास या पढ़ने मे कुशलता प्राप्त करना होता है। परन्तु यह दशा ठीक नहीं है। कविता या संगीत इत्यादि तो हृदय में रस का संचार करने वाले होते हैं। अतएव इनके शिक्षण में बालक का रसानुभूति कराना ही मुख्य उद्देश्य होना चाहिए।

1— Appreciation lesson and creative activities.

साहित्य, संगीत तथा विभिन्न प्रकार की शिक्षा मानव की सृजनात्मक शक्तियों के ही अभिव्यक्ति है। वे शक्तियाँ बालक में आरम्भ से ही विद्यमान होती हैं। वर्तमान शिक्षा शास्त्रियों का मत है कि यदि इनका शिक्षण इस प्रकार से दिया जाय कि ये हृदय को प्रफुल्लित करें और बालकों को सुन्दरता का रसास्वादन करने के हेतु तैयार करे तो मानव जाति का बहुत कल्याण हो सकता है। केवल कला और ज्ञान का सीखना ही पर्याप्त नहीं है। कला और ज्ञान मस्तिष्क का विकास तो करते हैं परन्तु हृदय को अछूतता छोड़ देते हैं जब कि कलात्मक अनुभूति मस्तिष्क के साथ-साथ हृदय पर भी प्रभाव डालती है और दोनों का विकास उचित दिशा में करने में सहायता प्रदान करती है। वर्तमान समय में शायद ही कुछ व्यक्ति ऐसे होंगे जो इस बात से सहमत न हों कि मानव जाति में सास्वादन के उच्च स्तर के विकास होने से संसार रहने के लिए बेहतर हो जायगा। अब यह पौरुषता की कमी नहीं समझी जाती है कि सुन्दर वस्तुओं का रसास्वादन किया जाय। इस प्रकार अब अपने विद्यार्थियों में रसास्वादन की अनुभूति का विकास करना शिक्षक का परम कर्त्तव्य माना जाता है। यह कार्य शिक्षक किस प्रकार सम्पन्न करे वास्तविक समस्या तो यह है।

रसानुभूति के विकास के शिक्षण के लिए अनेकों विधियों का उल्लेख किया जाता है। मनोवैज्ञानिक तो यह कहते हैं कि बालक को रसानुभूति के योग्य बनाने के लिए कोई विशेष विधि नहीं है। यह तो शिक्षक और शिक्षार्थी के ऊपर ही निर्भर है कि कौनसी विधि सबसे उत्तम ढङ्ग से रसानुभूति की योग्यता शिक्षार्थी में बढ़ा सकती है। यदि शिक्षक योग्य है तथा वह शिक्षार्थियों की मनोवृत्ति समझने में सफल है तो वह जो भी विधि अपनायेगा वह बालकों के लिए लाभकारी सिद्ध होगी।

शिक्षक का महत्व—रसानुभूति के पाठ का पढ़ाना कोई सरल कार्य नहीं है। ऐसे पाठ ज्ञान-पाठ तथा कौशल-पाठ से अधिक कठिन होते हैं। इनमें शिक्षक की योग्यता का सबसे अधिक उपयोग होता है। शिक्षक के व्यक्तित्व पर भी पाठ की सफलता बहुत कुछ निर्भर होती है। इन पाठों में रस का अनुभव करना होता है। बालक यह अनुभव उसी समय कर सकता है जब शिक्षक स्वयं रस लेकर पाठ को अत्यन्त रोचक ढङ्ग से पढ़ाये। बालकों की संवेगात्मक शक्तियों को उभार कर ही जब शिक्षण दिया जाता है तभी वह रसानुभूति का विकास करने में सफल होता है। रस के पाठों में न ज्ञान पर बल देना चाहिए और न कौशल पर वरन् बालक में निहित उन संवेगात्मक

शक्तियों के उभारने पर ही ध्यान केन्द्रित करना चाहिए जिनके द्वारा बालक में सौन्दर्य का रसास्वादन करके आनन्द प्राप्त करने की क्षमता का विकास हो जाय।

वातावरण का महत्व—बालक के विकास में वातावरण के महत्व के सम्बन्ध में बहुत कुछ कहा जा सकता है। यहाँ हम यह स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि बालक में रस की अनुभूति करने में भी वातावरण अत्यन्त महत्वपूर्ण है। यह वातावरण का ही प्रभाव होता है कि हम एक बालक को तो बहुत ही भावुक पाते हैं परन्तु दूसरे को बहुत ही कठोर। एक बालक तो जहाँ सुन्दरता देखता है उस पर लट्टू हो जाता है जब कि दूसरा उसमें किसी भी प्रकार का आनन्द अनुभव नहीं करता। एक बालक तो वस्तुओं को करीने से रखने, उनकी स्वच्छता तथा सुन्दरता पर ध्यान देने में रुचि रखता है जब कि दूसरा गन्दगी से रहता है और उसकी चीजें अस्तव्यस्त पडी रहती हैं। एक बालक तो संगीत, कविता, साहित्य का प्रेमी होता है जब कि दूसरा इन को सीखने को समय की बरबादी समझता है। वातावरण के प्रभाव का इतना महत्व है इसी कारण विद्यालय की स्थिति पर बहुत कुछ विद्यालय के क्षात्रों की रस की अनुभूति निर्भर होती है।

उचित वातावरण प्रदान करने में शिक्षक का काफी हाथ हो सकता है। वास्तुकला के सुन्दर नमूने या उसकी सज्जा के सम्बन्ध में तो वह कुछ अधिक नहीं कर सकता और न ही उसे इनमें कोई बड़े परिवर्तन करने की चेष्टा करनी चाहिए। परन्तु शिक्षक बालक को हर कार्य को सुन्दर ढङ्ग से करने की प्रेरणा दे सकता है। वह उनकी सौंदर्यनुभूति को कमरे की सफाई रखने को उन्हें प्रोत्साहित करके, विभिन्न उपकरणों का सफाई एवं स्वच्छता से उपयोग सिखा कर, उन्हें शान्त रहने के गुणों से अवगत करा कर तथा इसी प्रकार के अन्य साधनों द्वारा, उच्च स्तर की ओर ले जा सकता है। वह अपने रहन-सहन के ढंग से उन्हें प्रभावित कर सकता है। यदि उसका आचरण अच्छा है और वाणी शुद्ध है तो विद्यार्थी उसका अनुसरण करके अपने आचरण में सुधार तथा वाणी में स्पष्टता ला सकते हैं। परन्तु अध्यापक को बालकों के व्यवहार में परिवर्तन प्रत्यक्ष निर्देश द्वारा लाने की चेष्टा नहीं करनी चाहिए क्योंकि ऐसा करने से बालक कभी-कभी विरुद्ध निर्देश ग्रहण कर लेते हैं और उनका आचरण सुधरने के स्थान पर दूषित बन जाता है। अच्छा तो यही है कि बालकों के अप्रत्यक्ष निर्देश दिये जायँ।

बालकों में रसानुभूति का विकास सरलता से नहीं हो जाता। इसके लिए अत्यन्त धैर्य एवं समझ की आवश्यकता होती है। यदि अध्यापक अधूरे ढंग से

या बहुत बेकार की बातें बनाकर यह चेष्टा करता है कि बालकों में रसानुभूति की योग्यता बढ़ जायगी तो वह त्रुटि करता है। उदाहरण के लिये जब बालक शोर मचाते हैं या बहुत जोर से बोलते हैं तो कुछ अध्यापक बहुत ही नाटकीय ढंग से उंगली का इशारा उन्हें चुप करने के लिये करते हैं या बहुत सी व्यर्थ बातें कह कर यह समझाने की चेष्टा करते हैं कि चुप रहने में क्या गुण हैं। प्रथम दशा में तो अध्यापक बालकों के हास्य का विषय बन जाते हैं और दूसरी दशा में वह शिक्षक की बातों पर ध्यान देना ही बन्द कर देते हैं। इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि बालकों में शान्त रहने की आदत पड़नी चाहिए। परन्तु यदि बालक खेल के मैदान में या अवकाश के समय कक्षा से बाहर शोर मचाते हैं तो उन्हें अपनी संचित की हुई शक्ति को अभिव्यक्त करने का अवसर प्रदान करना चाहिए। यह बात कदापि ठीक नहीं है कि रसानुभूति उसी बालक में उच्चस्तर की होगी जो सदैव चुप रहता है। ऐसा बालक मनोवैज्ञानिक दृष्टि कोंण से बहुधा दूषित मनोवृत्तियों का शिकार होता है।

हम यदि ध्यान पूर्वक देखें तो बहुधा बालकों को सुन्दर अथवा भद्दे के प्रति अजीब मुख मुद्रा बनाते हुए पायेंगे। कुछ बालक ऐसी वस्तुओं को जिन्हें वह भद्दा समझते हैं अजीब भाव प्रदर्शित करते हुए मिलेंगे। यह इस बात का सूचक है कि बालकों में बहुत छोटी आयु से ही सौन्दर्यनुभूति का कुछ न कुछ विकास हो जाता है। अतएव शिक्षक को चाहिए कि बालकों को प्रभावशाली वातावरण प्रदान करके इस प्रकार की अनुभूति को फलने-फूलने के अवसर प्रदान करे।

शिक्षक को सदैव इस बात के लिए सतर्क रहना चाहिए कि बालकों के ऊपर कोई विचार थोपा न जाये अन्यथा उनमें रस की ओर से आकर्षण हट जाता है। शिक्षक को चाहिए कि (i) वह बालकों को आरम्भ में ही बता दे कि जो विचार वह व्यक्त कर रहा है वह उसके व्यक्तिगत विचार हैं जो बालकों को मानना अनिवार्य नहीं है (२) वह विद्यार्थियों को अपने विचार स्वतन्त्रता पूर्वक व्यक्त करने में सहायता दे तथा (३) वह उन बातों का उल्लेख बालकों के सामने न करे जिनमें उसका विश्वास न हो। किसी बात में जब वह आस्था न रखे परन्तु दूसरे व्यक्तियों के विचारानुसार उनको महत्व दिया जाता हो तो वह उन बातों को बालकों के सामने अपने मत के रूप में न रखे क्योंकि ऐसा करने से बालक बहुत शीघ्र अध्यापक की त्रुटि को पकड़ लेते हैं और उन अध्यापकों पर से उनका विश्वास उठ जाता है।

सृजनात्मक सीखना[1]

सृजनात्मक सीखना कक्षा की प्रत्येक मूल्यवान क्रिया में निहित रहता है परन्तु यह हो सकता है कि शिक्षक या शिक्षार्थी इस सम्बन्ध में चेतन न हों। प्रत्येक प्रकार का सीखना जिसमें किसी भी रूप में नये विचार, क्रिया या वस्तु का सृजन होता है वह सृजनात्मक ही है। **सृजनात्मक सीखने में अन्वेषण तथा कल्पना को स्थान मिलता है तथा यह उद्देश्य पूर्ण एवं रचनात्मक होता है।**[2]

शिक्षा देने में सृजनात्मक सीखना विशेष तौर से ऐसे विषयों के पाठ में होता है जैसे भाषा, लेख औद्योगिक कलाएँ, संगीत, कला इत्यादि। जहाँ कहीं भी बालक सृजनात्मक कल्पना का प्रयोग करते हैं, सृजनात्मक सीखना तथा चिन्तन दोनों में वृद्धि होती है। सृजनात्मक सीखने में बालक अपनी कल्पना तथा तर्क शक्ति के आधार पर वस्तुओं को एक नये रूप में रख देते है। वे नये विचार या नई क्रिया या नई वस्तु का सृजन करते हैं। नये से यहाँ यह तात्पर्य नहीं है कि बालक कोई बिलकुल ही नई वस्तु का सृजन करे जिसको किसी और व्यक्ति ने न किया हो वरन जब वे किसी भी क्रिया को अपने अन्वेषण और कल्पना के आधार पर स्वयं करते है तो इसे नया कहा जा सकता है। इस रूप में मिट्टी से खिलौना बनाना, कविता का लिखना या पट्ठे के मकान बनाना इत्यादि सब सृजनात्मक कार्य हैं।

सृजनात्मक सीखने के लिए उपयुक्त प्रेरणा एवं निदर्शन आवश्यक है। बालक के लिये ऐसी क्रियाओं का आयोजन किया जाना चाहिए जो उसकी रचनात्मक मूल शक्तियों को उभार सकें। इन क्रियाओं के करने में बालक को स्वतन्त्रता होनी चाहिए। अध्यापक या अभिभावक या किसी और के द्वारा उन पर रोक लगाना अच्छा नहीं होता है।

कला, संगीत, नाटक इत्यादि की प्रयोगात्मक क्रिया में शिक्षक बालकों को महान कलाकारों की कलात्मक कृतियों से अवगत करा सकता है। परन्तु इससे तात्पर्य यह नहीं है कि वह उनकी रचनात्मक अभिव्यक्ति पर रोक लगाये। उसे तो बालकों का ठीक ढंग से निदर्शन करके उस रास्ते पर छोड़ देना चाहिए जिस पर चल कर वे महान कलाकार की कलाकृतियों के सौन्दर्य की अनुभूति कर सके। जैसे यदि एक महान नाटककार का नाटक खेला जा रहा है तो शिक्षक का कार्य है कि नाटककार द्वारा जो चरित्र निर्मित किये गये हैं उनके भावों को उसी रूप में व्यक्त करने की प्रेरणा दे। इस प्रकार वह उस नाट्य-

1—Creative Learning, 2—Creative learning employs inventiveness and imagination, it is purposeful and constructive.

कार के उद्देश्य की अनुभूति कराने में सफल होगा जिसने कि वह नाटक लिखा है। इस प्रकार के विषयों मे बालको में रसानुभूति के भाव उस समय विकसित होते हैं जब वह कलाकार के भावों का फिर सृजन करने में सफल हो जाते हैं।

ऐसी क्रियाओं में जैसे निबन्ध लेखन या दूसरे प्रकार की कलाओं इत्यादि में अध्यापक को बालकों को पूर्ण स्वतन्त्रता देनी चाहिए जिससे वे अपनी सृजनात्मक अभिव्यक्ति को व्यक्त कर सके। यहाँ पर भी अध्यापक को बालकों को निर्देश जहाँ आवश्यक समझे जायें या जहाँ वह स्वयं मांग दे देने चाहिए। यदि बालक स्वयं ही कुछ करना चाहता है और शिक्षक के योग की आवश्यकता नहीं समझता तो उसे चाहिए कि बालक को क्रिया करने की स्वन्त्रता दे परन्तु जब कार्य समाप्त हो जायें तो इसकी तुलना उच्च कलाकृतियों से करने के लिए बालक को प्रोत्साहित करे जिससे वे प्रेरणा ग्रहण करें और अपने कार्य में उन्नति कर सकें। वास्तव में बालक उस प्रकार के निदर्शन को पसन्द करते हैं जो उनको कलात्मक अभिव्यक्ति को स्पष्टीकरण का अवसर प्रदान करते हैं। अध्यापक को इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि निर्देशन इस प्रकार करे कि बालकों के कलात्मक भाव यांत्रिक रूप धारण कर लें और उनमें ताजगी और स्वच्छन्दता नष्ट हो जाय।

सृजनात्मक क्रिया के चार स्तर—स्कोइन महोदय[1] के अनुसार सृजनात्मक क्रिया के चार स्तर होते हैं। वे है (१) प्रस्तावना (२) आश्रय (३) प्रकाश या प्रेरणा तथा (४) प्रमाणीकरण।

(१) **प्रस्तावना**—के स्तर में विद्यार्थी सामग्री को इकट्ठा करता है। वह प्रत्येक साधन से सूचना एकत्रित करने की चेष्टा करता है। वह उन सब सामग्रीयों एवं पदार्थों इत्यादि को इकट्ठा करता है जो आगे चलकर उसके कलात्मक कार्य में प्रयोग किये जाते हैं।

(२) **आश्रय**—इस स्तर पर बालक अचेतन रूप से जो कुछ सामग्री उसने पिछले पद में इकट्ठा कर ली है उसके ऊपर विचार करता है। वह दूसरी क्रियाओं की ओर चेतन रूप से ध्यान देता रहता है जबकि उसका अचेतन मन एकत्र की हुई सामग्री की ओर सचेत रहता है। वह इस समय में प्रत्यक्ष रूप से सृजनात्मक क्रिया की ओर से उदासीन रहता है। परन्तु अप्रत्यक्ष रूप में क्रियाशीलता में कमी नहीं होती।

(३) **प्रेरणा**—के स्तर में व्यक्ति किसी न किसी रूप में समस्या या स्थिति

1—Schoen, Max; Artand Beauty, N. Y., Macmillan, 1932, pp. 38-53.

के हल से परिचित हो जाता है। उसे यह अभास हो जाता है कि उसके प्रयासों का फल मिलने वाला है। अप्रत्यश रूप से किये विचार उभरने लगते हैं। अचेतन से एक नया विचार एक निश्चित आकार लेकर ऊपर उठने लगता है।

(४) **प्रमाणीकरण**—के स्तर में व्यक्ति नये विचार पर संगठित रूप से तर्क पूर्ण विवेचन करने लगता है। वह नये विचार के सम्बन्ध में यह निर्णय करने की चेष्टा करने लगता है कि उसका मूल्य क्या है। उसकी सृजनात्मक चेष्टाओं का अन्त उस विचार पर तर्क पूर्ण विवेचन से हो जाता है जो उसने अपनी कल्पना के आधार पर प्राप्त किया है।

ये चारों स्तर इसी रूप में हर प्रकार की सृजनात्मक क्रियाओं में उपस्थित रहें ऐसा नहीं है विभिन्न दशाओं में इनमें लचीलापन आ जाता है। एक अध्यापक को सृजनात्मक क्रियाओं के आयोजन में इस बात को ध्यान में रखना चाहिए।

रसानुभूति का शिक्षण[1]

रसानुभूति के शिक्षण के लिये हमने ऊपर ही कहा है कि बालक की सम्पूर्ण शिक्षा का रूप इस प्रकार का होना चाहिए कि बालक सीखने में रस और आनन्द का अनुभव करे। फिर भी कुछ विषय जिनका उल्लेख भी हमने ऊपर किया है ऐसे है जो रसानुभूति के लिए विशेष उपयोगी है। इन विषय के पाठो के शिक्षण का मुख्य उद्देश्य रसानुभूति कराना ही होता है। यहाँ हम उन पदों का वर्णन करेंगे जिनका प्रयोग ऐसे पाठों के शिक्षण मे होना चाहिए, परन्तु यह याद रखना चाहिए कि अन्य प्रकार के पाठो की अपेक्षा रसानुभूति के पाठों के शिक्षण में अधिक लचीलेपन की आवश्यकता है। इन पाठो को हर्बर्ट के नियमित पदो के अन्दर बाँधना ठीक नहीं है।

रसानुभूति के पाठ मे प्रस्तावना, उद्देश्य कथन, प्रस्तुतीकरण अभ्यास एवं पुनरावृत्ति के पदो का उल्लेख किया जा सकता है।

(१) प्रस्तावना

शिक्षक को रसानुभूति के पाठ का शिक्षण आरम्भ करने से पहिले उचित वातावरण का आयोजन कर लेना चाहिए। उसे यह देख लेना चाहिए कि वातावरण मे आसपास कुछ ऐसी वस्तुऐं तो नहीं हैं जो बालक के अवधान को पाठ पर केन्द्रित होने में बाधक हों।

शिक्षक को पाठ सम्बन्धी पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लेना चाहिए और बालकों

1—Teaching of appreciation.

की शक्तियों और कमजोरियों के सम्बन्ध मे भी जानकारी होनी चाहिए। तात्पर्य यह है कि ऐसा अध्यापक ही रसानुभूति पाठ के शिक्षण में सफल हो सकता है जो विषय में पारंगत हो और बालको की प्रकृति से अवगत हो। क्योंकि विषय ज्ञान बिना वह प्रेरणादायक ढङ्ग से शिक्षा न दे सकेगा और बालकों के सम्बन्ध में जाने बिना वह यह निर्णय करने मे असमर्थ रहेगा कि बालक किस प्रकार से पाठ का रसास्वादन कर सकते हैं।

रसानुभूति पाठ का मुख्य उद्देश्य रस की अनुभूति करनी होती है न कि ज्ञान का अर्जन या कौशल का सीखना। बहुत से शिक्षक इस बात को भूल जाते हैं। वे तो रसानुभूति पाठ को भी ज्ञान पाठ की तरह ही पढ़ाने लगते हैं जिसका फल यह होता है कि वे पाठ का उद्देश्य प्राप्त करने में बुरी तरह से असफल होते हैं। उदाहरण के लिए कविता के पाठ के शिक्षण मे यदि अध्यापक कठिन शब्दो का अर्थ बताने में ही समय व्यतीत करदे तो रसानुभूति की ओर से तो बालक का ध्यान हट जायेगा और यह पाठ ज्ञान-पाठ का रूप धारण कर लेगा। यदि अर्थ बताने ही हों तो पाठ के प्रारम्भ करने से पहिले ही बता दिये जायें। अच्छा तो यह हो कि बालक के ज्ञान के अन्दर जो शब्द है, कविता वैसे ही सरल शब्दों की हो अतः ऐसी दशा में ही रसानुभूति ठीक से हो जायगी।

प्रस्तावना पद पर और पाठों की तरह रसानुभूति पाठों में भी बालक को पाठ के लिए तैयार किया जाता है। ऐसे पाठों के शिक्षण में हम वातावरण के महत्व के सम्बन्ध मे ऊपर कह चुके है। यहाँ यह कहना ही पर्याप्त होगा कि पाठ की अच्छी प्रस्तावना उसी समय हो जाती है जब वातावरण निर्देशात्मक होता है।

वातावरण के अतिरिक्त शिक्षक अन्य साधनों का उपयोग करके भी उचित प्रस्तावना दे सकता है। वह कुछ प्रश्न करके या कुछ कथन कह कर या कोई चित्र प्रस्तुत करके पाठ की ओर बालकों की रुचि जागृत कर सकता है।

उद्देश्य कथन

प्रस्तावना के पश्चात उद्देश्य कथन का पद आता है। जहाँ तक संभव हो उद्देश्य कथन कलात्मक ढंग से दिया जाय।

(२) प्रस्तुतीकरण

प्रस्तुतीकरण पद पर कविता को इस प्रकार से प्रस्तुत करना चाहिए कि बालक उससे प्रभावित हो जाय। इसके लिए अध्यापक को आदर्श पाठ देना

चाहिए। आदर्श पाठ इस प्रकार से भाव पूर्ण होना चाहिए कि बालकों के संवेग उभर आयें और वह कवि के द्वारा प्रस्तुत किये गये भावों के रसास्वादन में आनन्द अनुभव करने लगे। शिक्षक को चाहिए कि लेखक या कवि के भावों का सफलता पूर्वक अभिनय करे।

आदर्श पाठ के बाद बालकों को सस्वर अनुकरण पाठ कराना चाहिए। बालक इस प्रकार से कविता इत्यादि का पाठ करें कि उसमें भाव और लय दोनों का समावेश हो। परन्तु यहाँ यह याद रखना चाहिए कि कविता पाठ में लय को ध्यान में रखने से तात्पर्य गाकर सस्वर पाठ करना नहीं है।

इसके पश्चात् अध्यापक को पाठ की विस्तृत व्याख्या करनी चाहिए। इस व्याख्या का उद्देश्य यही होता है कि बालक कविता इत्यादि के भावों को समझ सके। यहाँ पर विद्यार्थी एवं शिक्षक मिलकर आलोचनात्मक दृष्टि से कविता का विश्लेषण करते हैं। विद्यार्थीयों को अपने भावों को व्यक्त करने की स्वतंत्रता दे देनी चाहिए। शिक्षक को चाहिए कि वह उनको इस बात के लिए प्रोत्साहित करे कि वे अपनी सम्मति पाठ के सम्बन्ध में व्यक्त करें।

पाठ की रसानुभूति कराने में अन्य लेखकों एवं कवियों के तुलनात्मक अध्ययन को भी स्थान देना चाहिए। समभाव वाली कविताओं को प्रस्तुत करके शिक्षक पाठ की कविता के भावों पर ध्यान केन्द्रित करा सकता है।

रसानुभूति कराने में प्रस्तुतीकरण का पद सबसे महत्वपूर्ण है। यह प्रत्येक पाठ में एक निश्चित प्रकार से नहीं दिया जा सकता। प्रस्तुतीकरण कैसे किया जाय इसका निर्णय शिक्षक को स्वयं इस बात को ध्यान में रखकर करना चाहिए कि बालक कैसे उस पाठ मे रस एवं आनन्द ले सकते हैं। यदि बालक मौन रह कर एक पाठ की रसानुभूति अधिक अच्छी तरह कर सकते हैं तो यह कोई आवश्यक नहीं कि प्रस्तुतीकरण के पद पर उन्हें बोलने को बाध्य किया जाय। कभी-कभी बालक भाव में इतने खो जाते हैं कि वह अध्यापक के प्रश्नों के उत्तर में कुछ नहीं कह पाते ऐसी दशा में अध्यापक को उनके साथ सहानुभूति पूर्ण व्ययहार करना चाहिए। शिक्षक यदि चाहे कि मारधाड़ से या अपने व्यक्तित्व के भय से बालकों को पाठ की रसानुभूति करा सकता है तो वह त्रुटि करता है। रसानुभूति उसी समय होगी जब बालक में सुन्दर भावों का प्रादुर्भाव हो और यह उसी समय हो सकता है जब उसे सहानुभूति प्राप्त हो और वह पाठ के पढ़ने में आनन्द का अनुभव करे।

(३) अभ्यास

अभ्यास का महत्व यही है कि बालकों को सृजनात्मक कार्यों को करने को प्रोत्साहित किया जाय। ऐसा माना जाता है कि जो व्यक्ति स्वयं कवि,

लेखक या सङ्गीतकार होते हैं वे ही रसास्वादन के योग्य होते हैं। यह बात कुछ सीमा तक तो ठीक है परन्तु सर्वथा सत्य नहीं है। बहुत से संगीत के प्रेमी ऐसे भी मिलेंगे जो स्वयं गाने की एक पंक्ति भी प्रभावशाली ढंग से नहीं गा सकते। फिर भी एक शिक्षक बालकों को कविता, निबन्ध या लेख लिखने को या गायन या नृत्य करने को प्रोत्साहित करके उनमें रसास्वादन की क्षमता को बढ़ा सकता है।

(४) पुनरावृत्ति

रसानुभूति के पाठ में भी पुनरावृत्ति को भी स्थान देना चाहिए इससे बालक का ध्यान पाठ के आवश्यक अंगों की ओर केन्द्रित हो जाता है और शिक्षक को अपनी सफलता का ज्ञान हो जाता है।

रसानुभूति के पाठ में सामान्य रूप से क्या-क्या पद प्रयोग में लाये जाते हैं, अब तक इसका वर्णन किया गया अब हम कला, साहित्य और संगीत के शिक्षण मे जिन तत्वों पर मुख्य रूप से ध्यान देना आवश्यक है उनका अलग-अलग वर्णन करेंगे।

कला के द्वारा रसानुभूति[1]

कलाकृति से यहाँ हमारा तात्पर्य किसी ऐसी महान चित्रकारी, नमूना, वास्तुकला या इमारत से है जो हमारी दृष्य सम्बन्धी ज्ञानेन्द्रियों को प्रेरणा प्रदान करती हैं और देखने वाले में गहन भाव एवं रसास्वादन को उभारती है। जो उतना वस्तु के कारण न होकर उस अर्थ के कारण होते हैं जो देखने वाला व्यक्ति उस कृति को प्रदान कर देता है।"[2] रसानुभूति के शिक्षण मे कलाकृति के उपरोक्त अर्थ पर ध्यान देना आवश्यक है।

बालकों में अपने भावों को चाक या कोयला इत्यादि से स्पष्ट करने की प्रवृत्ति आरम्भ से होती है। एक अच्छा अध्यापक इस प्रवृत्ति को ठीक मार्ग पर लगा कर बालकों की कलात्मक अभिव्यक्ति को प्रोत्साहित कर सकता है। उसे बालकों को उचित वातावरण प्रदान करने की चेष्टा करनी चाहिए तथा उन्हें सहानुभूति पूर्ण निर्देश देना चाहिए। किसी उत्तम कलाकृति को दिखाकर वह उनकी रसात्मक अनुभूति का विकास कर सकता है। प्रायमरी स्तर

1—Appreciation through work of art.

2—A work of art is any masterpies of pictorial representation design, architecture, or construction that stimulates the visual sense organs and that arouses on the beholder an attitude of deep feelling and appreciation not so much for the itself as for the meaning dattache to it by the person view point.

पर रसानुभूति के सबसे अच्छे प्रकार से बालकों को स्वयं कुछ बनाने के द्वारा तथा उत्तम कलाकृतियों के प्रदर्शन द्वारा विकसित हो सकती है।

माध्यमिक स्तर पर कला के उत्तम सिद्धान्त सिखाये जा सकते हैं। यहाँ पर 'कलात्मक रसास्वादन' सम्बन्धी पाठ पढ़ाये जा सकते हैं। परन्तु यदि यह पाठ विभिन्न कला की शैलियों पर व्याख्यान मात्र ही होते हैं तो बालक के अन्दर सौन्दर्यनुभूति को विकसित करने में असफल रहते हैं। यदि इन पाठों में कुछ सृजनात्मक क्रिया का सामावेश कर दिया जाता है जैसे उत्तम कलाकृति का अनुकरण करके मॉडल बनना और विद्यार्थियों को सुन्दरता को अनुभव करना तथा बौद्धिक दृष्टिकोण से समझने को प्रोत्साहित किया जाता है तो यह पाठ अपने उद्देश्य प्राप्त करने में सफल होते है। कला के शिक्षण में इस बात पर ध्यान देना आवश्यक है कि कला जीवन का एक अंग बन जाय जो कार्य विद्यार्थी करें उन सब के करने का ढङ्ग कलात्मक हो।

संगीत के द्वारा रसानुभूति[२]

मानव बालक के ऊपर संगीत प्रभाव बहुत ही अल्प आयु से डालता है। छोटे से छोटा बालक भी लय और ताल मे आनन्द का अनुभव करता है। जैसे ही वह कुछ बड़ा हो जाता है वह स्वयं गाने लगता है और नृत्य की विविध मुद्राएँ बनाने में रुचि लेने लगता है। संगीत की यह रुचि उसके जन्म भर रहती है चाहे वह किसी भी रूप मे उसे पसन्द हो। कुछ व्यक्ति शास्त्रीय संगीत पर जान देने हैं जबकि कुछ इसे कान फोड़वा के अतिरिक्त कुछ नहीं समझते और केवल हलके फुलके गानो मे ही आनन्द अनुभव करते है।

संगीत की लोक प्रियता के कारण ही यह अच्छा है कि संगीत की शिक्षा को रसानुभूति के विकास में महत्वपूर्ण स्थान दिया जाय। प्रत्येक विद्यार्थी अच्छा संगीतकार नही बन सकता। परन्तु प्रत्येक विद्यार्थी अच्छे संगीत से प्रेरणा ग्रहण कर सकता है और उसका रसास्वादन कर सकता है। शिक्षा द्वारा इसी ओर प्रयास करना चाहिए। यदि हम चाहते हैं कि हमारे देश के नागरिक केवल सुन्दर, सरल और सुलभ से ही आनन्दित हों जो मानव के उच्च मूल्यों और आदर्शों का प्रतीक हो न कि उससे जो निम्न कोटि की योनि सम्बन्धी या दूसरी नीच प्रवृत्तियों से प्रेरणा ले तो संगीत की रसानुभूति की शिक्षा उत्तम ढङ्ग से देना आवश्यक है।

संगीत के शिक्षण का आरम्भ सरल गीतों के गायन से आरम्भ होना

---

1 – Appreciation through music.

चाहिए। जैसे जैसे बालक बड़ा होता जायगा, वह ताल, स्वर, लय, प्रकार इत्यादि से अवगत होता जायगा। वह सरल सगीत को समझने के पश्चात शास्त्रीय संगीत के सूक्ष्म सकेतों को समझने की ओर अग्रसर होता जायेगा।

साहित्य द्वारा रसानुभूति

वर्तमान समय में पाश्चात्य देशो मे इतना साहित्य लिखा गया है और छापा गया है कि अब वहाँ समस्या यह है कि इसमे से क्या पढ़ा जाय। भारतवर्ष मे भी दिन प्रतिदिन प्रत्येक भाषा मे साहित्य की वृद्धि हो रही है। इस साहित्य मे से क्या पढ़ना अच्छा है कहना बड़ा कठिन है। वास्तव में सरकार और समाज सेवा सोसायटी इत्यादि इस चेष्टा मे लगी है कि देश के नागरिको को अच्छा साहित्य उपलब्ध हो। बालको के लिये अच्छा साहित्य लिखने के लिए लेखको को सरकार द्वारा पुरस्कार इत्यादि दिये जा रहे हैं। हमारे देश मे साहित्य सम्बन्धी दो समस्यायें है। पहली तो यह कि प्रत्येक भाषा में अच्छा साहित्य कैसे उपलब्ध हो और जो साहित्य उपलब्ध है उसमें से क्या पढ़ा जाय। शिक्षा का कार्य इन दोनो समस्याओ को सुलझाना है। यदि शिक्षा द्वारा व्यक्तियो मे अच्छे साहित्य की रसानुभूति को विकसित कर दिया जाय तो दोनों समस्यायों का हल प्राप्त हो सकता है।

मनोविज्ञान के दृष्टिकोण से विभिन्न व्यक्तियों की साहित्यिक रुचियाँ विभिन्न होती है। यह परिपक्वता, यौनि, बुद्धि तथा व्यक्तियो की शैक्षिक पृष्ठ-भूमि पर निर्भर होती है। छोटे बालक परियो की कहानियाँ पढ़ना पसन्द करते है। जैसे ही वे बड़े हो जाते है उनकी रुचियो में भी परिवर्तन आजाता है। लड़के विज्ञान, खेल कूद, व्यवसाय सम्बन्धी साहित्य को पढ़ना आरम्भ कर देते है। लड़कियाँ कविता, सामाजिक और प्रेम सम्बन्धी कहानियों में रुचि लेने लगती हैं। बालको की साहित्य सम्बन्धी रुचि के विकास में उनके घर का वातावरण बहुत महत्वपूर्ण। यदि घर में अच्छा साहित्य उपलब्ध है, माता पिता पढ़ने में रुचि लेते हैं। वे साहित्य सम्बन्धी पुस्तकों को आदर की दृष्टि से देखते हैं तो बालक भी साहित्य में रस अनुभव करने लगता है।

साहित्य की रसानुभूति व्यक्तिगत है। यह किसी के ऊपर थोपी नहीं जा सकती है। साहित्य के शिक्षकों को इस ओर से सतर्क रहना चाहिए कि वह अपने शिक्षण में साहित्य की बलपूर्वक सौन्दर्यनुभूति न करायें। साहित्य को एक व्याकरण या शब्दार्थ का पाठ न बना देना चाहिए।

एक बात और जो साहित्य के शिक्षक को याद रखनी चाहिए वह यह है कि महान साहित्यकारों की कृतियाँ जिनमे बालक कोई रुचि न ले उन पर न

थोपी जायँ। फ्रैडरिक एच० लॉ[1] महोदय जो अंग्रेजी का शिक्षण कई वर्षों तक न्यूयार्क सिटी हाई स्कूल मे करते रहे इस विचार के प्रबल प्रवर्तक थे कि साहित्य की रसानुभूति बालक के रुचि के स्तर से आरम्भ होनी चाहिए।

एक अच्छा अध्यापक जो स्वयं साहित्य प्रेमी है अनेकों विधियों का उपयोग करके बालकों में अच्छे साहित्य को पढ़ने की रुचि जागृत कर सकता है। वह बालक के लिये ऐसे साहित्य का चुनाव कर सकता है जो उनकी समझ के क्षेत्र में हों। ऐसे साहित्य का वह आदर्श पाठ कर सकता है। जहाँ संभव हो नाटक करा सकता है, चल-चित्र, रेडियो, टेलीविजन, ग्रामोफोन इत्यादि का उपयोग करके पाठ के सम्बन्ध में रुचि को जागृत कर सकता है।

सारांश

रसानुभूति पाठों का मुख्य उद्देश्य बालकों मे सौन्दर्यनुभूति का विकास करना होता है। इसके लिए अध्यापक उस विधि को अपना सकता है जो उसे उन बालकों के साथ जिन्हें वह शिक्षण दे रहा है सबसे उत्तम सिद्ध हो। ऐसे पाठों में शिक्षक का व्यक्तित्व अत्यन्त महत्वपूर्ण होता है। यदि वह योग्य है तथा बालको को प्रभावशाली वातावरण प्रदान कर सकता है तो वह इन पाठों के उद्देश्य को प्राप्त करने में सफल होता है शिक्षक को बालकों के साथ सहानुभूति पूर्ण व्यवहार करना चाहिए तथा इस बात से सचेत रहना चाहिए कि बालकों के ऊपर कोई विचार थोपा न जाय।

सृजनात्मक सीखना—सृजनात्मक सीखने मे अन्वेषण तथा कल्पना को स्थान मिलता है तथा वह उद्देश्यपूर्ण एवं रचनात्मक होता है। इसके सीखने में उपयुक्त प्रेरणा एवं निदर्शन आवश्यक है।

सृजतात्मक क्रिया के चार स्तर होते हैं। वे हैं (१) प्रस्तावना-सामग्रियों को इकट्ठा करना (२) आश्रय—अचेतन रूप से प्रदत्त सामग्री पर विचार करना (३) प्रेरणा—समस्या के हल से किसी न किसी रूप में परिचित हो जाना (४) प्रमाणीकरण नये विचार पर संगठित रूप से तर्कपूर्ण विवेचन करना।

रसानुभूति के पाठ के शिक्षण मे जिन पदों का प्रयोग होता है वे हैं:—

(१) **प्रस्तावना** : इस पद पर बालक को उचित वातावरण प्रदान करके और कुछ संकेत देकर नये पाठ के लिए तैयार किया जाता है। प्रस्तावना के तुरन्त पश्चात ही उद्देश्य कथन दे दिया जाता है।

1—Fredrick H. Law.

(२) **प्रस्तुतीकरण** : इस पद पर प्रेरणादायक ढंग से पाठ को प्रस्तुत किया जाता है। आदर्श पाठ होता है, सस्वर अनुकरणीय पाठ होता है, विश्लेषण एवं संश्लेषण होता है। इन सबके द्वारा यही चेष्टा की जाती है कि बालक पाठ में व्यक्त किए हुए भावों का रसास्वादन कर सकें।

(३) **अभ्यास** :इस पद पर बालकों को सृजनात्मक कार्य करने को प्रोत्साहित किया जाता है।

(४) **पुनरावृत्ति**

कला के द्वारा रसानुभूति : बालकों की कलात्मक अभिव्यक्ति को प्रोत्साहित करके हो सकती है। माध्यमिक स्तर पर कला के सिद्धान्तों का शिक्षण हो सकता है।

संगीत के द्वारा रसानुभूति कराने के लिये बालकों का शिक्षण सरल गीतों के गायन से प्रारम्भ होना चाहिए। इसके पश्चात ही वह शास्त्रीय संगीत का रसास्वादन करने के हेतु तैयार हो पायेंगे।

साहित्य की रसानुभूति व्यक्तिगत होती है। इसे बालकों पर थोपना नहीं चाहिए। साहित्य की रसानुभूति बालक के रुचि के स्तर से आरम्भ होनी चाहिए।

अध्ययन के लिए महत्वपूर्ण प्रश्न

१. रसानुभूति पाठों से क्या तात्पर्य है ? इन पाठों में तथा ज्ञान एवं कौशल पाठों में क्या अन्तर है ? विवेचन कीजिए।

२. किस सीमा तक रसानुभूति की योग्यता सृजनात्मक योग्यता से सम्बद्ध है ? उदाहरण देकर समझाइये।

३. आपने अपने स्कूल अध्यापन के समय कविता पाठ किया होगा। जो कुछ आपने सीखा उससे आपके मन पर कैसा प्रभाव पड़ा ? क्या जो विधियाँ आपको कविता का शिक्षण देने में अपनाई गयी वे उपयुक्त थीं। यदि नहीं तो उनमें क्या कमियाँ थीं ? तर्कपूर्ण विवेचन कीजिये।

४. रसानुभूति के पाठ में श्रव्य-दृष्य सामग्री की क्या उपयोगिता है ? विवेचन कीजिए।

५. कलाकृति से क्या तात्पर्य है ? इसका शिक्षण किस प्रकार से आरम्भ करना चाहिए ? उदाहरण देकर समझाइए।

६. भारतवर्ष में वह फिल्मी संगीत जो निम्न कोटि का है वही सबसे अधिक लोकप्रिय है इस कथन का मूल्यांकन कीजिये। तथा यह बतलाइए कि

किस प्रकार आप उच्च कोटि के संगीत में व्यक्तियों की रुचि को जागृत कर सकते हैं।

७. "कविता का शिक्षण भाव प्रधान होना चाहिए न कि ज्ञान प्रदान" इस कथन से आप क्या समझते हैं ? किसी भी कविता को जिसे आपने पढ़ा हो लेकर यह समझाइये कि उसका शिक्षण किस प्रकार से किया जाय कि विद्यार्थियों की रसानुभूति में वृद्धि हो।

सहायक पुस्तकों की सूची

(१) पेन्टन, जे० ऐच० : **मार्डनटीचिङ्ग: प्रेक्टिस एण्ड टेकनीक**, लन्दन, लान्गमैन्स।

(२) **चौबे**, सरयू प्रसाद : **शिक्षा-सिद्धान्त**, आगरा, लक्ष्मी नारायन, १९५६।

(३) ग्रीफटस, डी सी० : **दि सायकोलॉजी आफ लिटररी अपरीसीऐशन** : लन्दन, ओक्सफोर्ड यूनीवर्स्टी प्रेम, १९३२।

(४) पियर्सन, आर० एन० : **दि न्यु आर्ट एडूकेशन**, न्युयार्क हार्पर, १९४१,

(५) सीशोर, सी० ई० : **सॉइकालॉजी आॅफ म्युजिक**, न्यूयार्क, मैक ग्रो, १९३८

अध्याय ६

पाठ योजना[1]

प्रत्येक अध्यापक को चाहे वह कितना ही योग्य क्यों न हो कक्षा में जाने से पूर्व पाठ योजना का निर्माण करना आवश्यक है। बिना पाठ के सम्बन्ध में विचार किये हुए यदि वह कक्षा में जायगा तो उसके शिक्षण का सफल होना अत्यन्त कठिन होगा। वह कुछ पढ़ाना चाहेगा और कुछ और पढ़ा पायेगा। वह पाठ के न तो उद्देश्य निर्धारित कर पायेगा न ही उसके शिक्षण द्वारा बालक कुछ ग्रहण कर पायेगा।

पाठ योजना के निर्माण से हमारा तात्पर्य है कि कक्षा में जाने से पहिले शिक्षक पाठ सम्बन्धी सब महत्वपूर्ण बातों का ब्योरा बना ले। क्योंकि मौखिक रूप से यह ब्यौरा बनाने में वह बहुत कुछ भूल सकता है अस्तु उसका लिखित रूप में बनाना ही श्रेयस्कर है। पाठ-सूत्र निर्माण करके अध्यापक बालकों के शैक्षिक अनुभवों का पथ प्रदर्शक बन जाता है।

बोसिङ्ग महोदय के अनुसार पाठयोजना उस कथन को शीर्षक दिया जाता है जो इसका वर्णन करता है कि क्या उपलब्धियाँ प्राप्त करनी है और किन साधनों द्वारा इन्हें कक्षा की क्रियाओं के फलस्वरूप प्राप्त किया जा सकता है[2]

1—Lesson Planning.

2—Bossing : *Progressive Methods of teaching*, "Lesson plan is the titlle given to a statement of the achievements to be realized and the specific means by which these are to be attained as a result of the activities engaged in during the period.

न क्या है ? किस दिशा
समय पढ़ाना है । पाठ के क्या
ता है ? क्या सहायक सामग्री पाठ के
जना बनाये बिना अध्यापक इन प्रश्नों का
पायेगा और इस प्रकार उसके द्वारा दिया हुआ
गा ।

ने के पूर्व की आवश्यक दिशाऐं[1]

जना बनाना कब अच्छे प्रकार से हो सकता है या पाठ योजना
स पहिले क्या-क्या बातें जानना आवश्यक है ? यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न
। जिसका उत्तर जानने के पश्चात् ही अध्यापक को पाठ सूत्र निर्माण करना चाहिए । पाठ योजना बनाने से पहिले शिक्षक को जिन बातों को ध्यान में रखना चाहिए वे ये हैं—

(१) जिस विषय में अध्यापक को पाठ योजना बनानी है उसका पर्याप्त ज्ञान उसे होना चाहिए । बिना विषय के अच्छे ज्ञान के वह कभी भी उचित ढंग से पाठ सूत्र को नहीं बना सकता ।

(२) बालकों की प्रकृति के सम्बन्ध में अध्यापक को ज्ञान होना चाहिए । उसे उनके साथ रह कर और मनोविज्ञान के अध्ययन द्वारा उनकी मनोवृत्ति इत्यादि के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त कर लेनी चाहिए ।

(३) शिक्षक को शिक्षण देने की विधि को अच्छी तरह समझने वाला होना चाहिए । शिक्षण विधि का ज्ञान तभी उसे पर्याप्त रूप में मिलेगा जब उसे सीखने के मनोविज्ञान का शिक्षण मिला हो एवं वह शिक्षा के दार्शनिक तथा सामाजिक आधारों के सम्बन्ध में सीख चुका है ।

(४) उसे शिक्षा के उद्देश्यों के सम्बन्ध में पूर्ण ज्ञान हो विशेष कर वह बदलते हुए समय के साथ उनमें क्या परिवर्तन हो जाते है इसकी महत्ता को समझना चाहिए ।

पाठ-योजना की आवश्यकता[2]

पाठ-योजना की आवश्यकता के सम्बन्ध में कोई सन्देह नहीं है । पाठ-योजना के रूप में तो विभिन्न विद्यालयों या विभिन्न अध्यापकों के मतानुसार परिवर्तन हो सकता है परन्तु पाठ योजना की आवश्यकता प्रत्येक विद्यालय में तथा प्रत्येक शिक्षक को होती है । (१) पाठ योजना द्वारा शिक्षक व्यर्थ समय

1—Pre requistes of Lesson planning.
2—Nessisty of Lesson-planning.

वरथाद करने से बच जाता है। (२) यह शिक्षक के कार्य को नियमित तथा सुसंगठित बनाती है। (३) इसके द्वारा पाठ्य विषय का संगठन अच्छे प्रकार से हो जाता है तथा (४) यह विचार रहित शिक्षण के दोषों को दूर करने में सफल होती है।

पाठ-योजना का मूल्य

पाठ-योजना की आवश्यकता के साथ ही साथ हम इसके मूल्यों का भी वर्णन कर सकते हैं। जो मूल्य पाठ योजना में विद्यमान होते हैं वे निम्न-लिखित हैं—

(१) पाठ योजना द्वारा पाठ का उद्देश्य निश्चित हो जाता है।

(२) नये पाठ का पूर्व पाठ के साथ उचित सम्बन्ध स्थापित हो जाता है।

(३) इसके द्वारा पाठ्य विषय, पाठ्य सामग्री और क्रियाओं का संगठन अच्छे ढंग से हो जाता है।

(४) इसके द्वारा शिक्षक को उत्तम शिक्षण विधि चुनने में सहायता मिलती है

(५) शिक्षण की सफलता के सम्बन्ध में मूल्याङ्कन संभव हो जाता है। पाठ-योजना द्वारा यह पता चल जाता है कि शिक्षण सफल हुआ अथवा नहीं।

(६) यह अध्यापक को महत्वपूर्ण प्रश्न करने की प्रेरणा देती है।

(७) शिक्षक उपयुक्त सहायक सामग्री का आयोजन करने में सफल होता है।

(८) इसके द्वारा पाठ के शिक्षण में अध्यापक क्रम और नियम से कार्य करने में सफल होता है।

(९) पाठ योजना द्वारा विद्यार्थियों की व्यक्तिगत विभिन्नता को ध्यान में रख कर पाठ पढ़ाया जाता है

(१०) पाठ योजना द्वारा निश्चित कार्यों का बालकों के लिए आयोजन हो जाता है।

(११) पाठ के लिए जो सामग्री चाहिए उसका पाठ के समय मिलना संभव हो जाता है

(१२) यह शिक्षक में आत्म-विश्वास उत्पन्न कर देती है और वह अधिक स्वतन्त्रता से शिक्षण प्रदान करने के योग्य हो जाता है।

लिखित पाठ-योजना के गुण

लिखित पाठ योजना के गुणों को हम इस प्रकार व्यक्त कर सकते हैं।

(१) चिन्तन में निश्चितता आती है।

(२) चिन्तन में नियमितता आती है।

(३) भूलने से बचाव होता है।

(४) शिक्षण में स्वतन्त्रता मिलती है। लिखित पाठ-सूत्र के होने से अध्यापक पाठ-सूत्र का निर्माता होता है उसका दास नहीं।

(५) अगले पाठों में उन्नति करने की संभावना रहती है।

उत्तम पाठ-योजना की विशेषताएं

उत्तम पाठ योजना मे क्या विशेषताऐं होती है इसका जानना भी एक अध्यापक के लिए नितान्त आवश्यक है। यहाँ हम उन विशेषताओं का वर्णन करेंगे।

(१) पाठ-योजना को लिखित होना चाहिए।

(२) पाठ-योजना स्पष्ट रूप से उन उद्देश्यों को समझ कर बनाई जाय जिन्हें पाठ द्वारा प्राप्त करना है। पाठ के उद्देश्य ठीक ढंग से निर्धारित हों।

(३) पाठ-योजना पूर्व-पाठ से नये पाठ को सम्बद्ध करे।

(४) पाठ-योजना पाठ्य-विषय, पाठ्य सामग्री एवं अन्य क्रियाओं के चुनाव एवं संगठन का समुचित प्रबन्ध करे।

(५) पाठ-योजना पाठ के लिए उपयुक्त शिक्षण विधि के प्रयोग की ओर संकेत करे।

(६) पाठ-योजना पाठ द्वारा पाठ के उद्देश्य प्राप्त करने में कितनी सफलता मिली है इसका मूल्याङ्कन करने में सहायता प्रदान करे।

(७) पाठ-योजना में अच्छे कार्य बालकों को करने को दिये जायँ।

(८) पाठ-योजना में व्यक्तिगत विभिन्नता के आधार पर शिक्षण देने का भी ध्यान रखा जायँ।

(९) पाठ-योजना में पूर्ण पाठ की रूप रेखा या सारांश हो।

(१०) पाठ-योजना में मूल प्रश्न सम्मिलित हों।

(११) पाठ-योजना में महत्वपूर्ण उदाहरणों का सामावेश हो।

(१२) पाठ योजना पुनरीक्षण को पाठ के शिक्षण मे स्थान दे।

(१३) पाठ-योजना में प्रेरणादायक विधियों का प्रयोग किया गया हो।

(१४) पाठ-योजना में पाठ के प्रत्येक पद के लिए कुछ समय निर्धारित हो।

(१५) पाठ-योजना मे इस बात का ध्यान रखा जाय कि तात्कालिक पाठ आगामी परिस्थिति में प्रवेश कर जाय।

(१६) पाठ-योजना में यह लिखा हो कि क्या सहायक सामग्रियाँ पाठ के लिए आवश्यक हैं।

(१७) पाठ-योजना में स्वयं आलोचना के लिए स्थान हो। योजना जब पूर्ण हो जाये तो शिक्षक को इसकी आलोचना करके उन बातों को लिख लेना चाहिए जिनमें सुधार लाना आवश्यक है।

पाठ-सूत्र के निर्माण में कुछ सावधानियाँ

हमने ऊपर पाठ-योजना की विशेषताओं पर प्रकाश डाला है और यह बताने की चेष्टा की है कि यदि अच्छी पाठ-योजना बनानी है तो किन-किन बातों पर ध्यान देना आवश्यक है। इसी सम्बन्ध में कुछ और बातें भी ध्यान देने योग्य हैं। हम पाठ सूत्र को चाहे जैसे बताये परन्तु उसे इतना ठोस न बनायें कि शिक्षक उस योजना के अतिरिक्त इधर-उधर हिल न सके। इसमें लचीलेपन होना अत्यन्त आवश्यक है। शिक्षक पाठ-योजना का निर्माता होता है वह इसका स्वामी होता है न कि सेवक। इस सावधानी के साथ ही साथ हम कुछ अन्य सावधानियों का वर्णन कर सकते हैं जिनको, प्रत्येक शिक्षक को जो पाठ-योजना बना रहा है, ध्यान में रखना आवश्यक है।

(१) पाठ-योजना में आवश्यकता से अधिक पूर्णतः लाने की चेष्ट नहीं करनी चाहिए।

(२) पाठ-योजना ऐसी भी नहीं होनी चाहिए कि उसके विभिन्न भागों में कोई समन्वय ही न हो। पाठ-योजना टूटी-फूटी नहीं होनी चाहिए।

(३) प्रत्येक प्रकार के पाठ की योजना एक ही प्रकार से नहीं बनानी चाहिए।

(४) पाठ-योजना पूर्णतया पाठ्य-पुस्तक पर ही आधारित हो, ऐसा होना कोई आवश्यक नहीं हैं।

(५) पाठ-योजना में पाठ के सम्बन्ध में एक सीमा से अधिक ज्ञान देने की चेष्टा नहीं करनी चाहिए।

दैनिक पाठ-योजना का उपयुक्त प्रयोग

दैनिक पाठ-योजना के प्रयोग में कुछ बहुत ही महत्वपूर्ण बातें है जिन पर ध्यान देना आवश्यक है।

(१) पाठ-योजना को पथ-प्रदर्शक के रूप में प्रयोग किया जाय। इसे ऐसा सहारा न समझना चाहिए कि जिसके बिना शिक्षक एक डग भी न चल सके।

(२) जिस पाठ-योजना का प्रयोग हो चुका है उसे अगले पाठ के लिए आधार बनाना चाहिए।

(३) दैनिक पाठ-योजना शिक्षक को आरम्भ में विस्तृत रूप में बनानी चाहिए। इसमें चेष्टा करनी चाहिए कि जो कुछ भी पाठ के सम्बन्ध में कहना, करना या करवाना है वह सब लिख लिया जाय जब शिक्षक को अनुभव प्राप्त हो जाय तो वह पाठ-योजना संक्षेप में बना सकता है।

(४) कोई भी पाठ योजना कैसा ही विचार कर बनायी जाय कक्षा में पढ़ाते समय उसमें हेर फेर आवश्यक होगा। एक सचेत कक्षा के पढाने में यह असंभव है कि यह पूर्ण घोषणा कर दी जाय कि पाठ का रूप किस ओर होगा। अध्यापक पाठ-सूत्र के अनुसार बिना किसी परिवर्तन के पढ़ाता रहे तो वह कक्षा के साथ नहीं चल सकता। उसे कक्षा में जो कठिनाइयाँ उठ खड़ी हों उनके अनुसार शिक्षा देने की चेष्टा करनी चाहिए। अच्छे पाठ सूत्र-निर्माता वही है जो कक्षा में अप्रत्याक्षित स्थिति के उठ खड़े होने पर उसका समाधान करने को तैयार रहते हैं।

(५) किन्हीं भी दो विद्यार्थियों की प्रतिक्रिया एक सी नहीं हो सकती। अतएव पहिले से सब प्रकार के प्रश्न एवं सहायक सामग्री जिन का उपयोग करना है नही बनाई जा सकती। वही अध्यापक कुशल समझा जाता है जो विद्यार्थियों की तात्कालिक आवश्यकताओं को देखकर अपने प्रश्नों की प्रकार एवं सामग्री में परिवर्तन कर सके।

पाठ सूत्र-निर्माण

हमने ऊपर पाठ-योजना की आवश्यकता अच्छी पाठ-योजना की विशेषताओं इत्यादि का वर्णन किया। अब हम एक ऐसी पाठ-योजना जो हमारे यहाँ के प्रशिक्षण विद्यालयों मे प्रचलित है उसके विभिन्न अंगों का वर्णन करेंगे।

प्रत्येक पाठ-सूत्र में कुछ आवश्यक बातों का वर्णन आरम्भ में ही करना चाहिए। इन बातों के वर्णन के पश्चात् ही हर्बर्ट के पदों का अनुसरण करना चाहिए। ये बातें निम्नलिखित हैं—

(१) **पाठ क्रम संख्या**—विषय में जो पाठ-सूत्र बना लिए गये है उनकी क्रम संख्या पाठ सूत्र में सबसे ऊपर लिख देनी चाहिए।

(२) **दिनाङ्क**—जिस दिन पाठ पढ़ाया जाना है उस दिन की तिथि लिख देनी चाहिए।

(३) **बालकों की औसत आयु**—जिन बालकों को पाठ पढ़ाया जाना है उनकी औसत आयु निकाल कर लिख देनी चाहिए। इससे शिक्षक को यह पता चल जाता है कि उसकी कक्षा में जो बालक शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं उनकी मानसिक परिपक्वता किस स्तर पर है।

(४) **अन्तर तथा समय**—जितने समय में पाठ पढ़ाना है उसे लिख देना आवश्यक है । समय के अन्दर पाठ समाप्त होना चाहिए । यदि पाठ-सूत्र निर्धारित समय में समाप्त नही होता या बहुत शीघ्र समाप्त हो जाता है तो यह शिक्षक की योजना बनाने में त्रुटि समझी जाती है ।

(५) **समय चक्र**—जिस घन्टे में पाठ पढ़ाया जाना है उसे भी लिख देना आवश्यक है ।

(६) **विषय**—जो विषय पढ़ाया जा रहा है जिसका वह पाठ-सूत्र है उसे भी लिख देना चाहिए ।

(७) **शीर्षक**—पाठ का शीर्षक लिखना भी आवश्यक है । परन्तु शीर्षक लिखने में अध्यापक को ध्यान रखना चाहिए कि यह ऐसा हो जो पाठ के केन्द्रीय भाव को व्यक्त करे । शीर्षक संक्षेप में होना भी आवश्यक है । यदि शीर्षक के चुनाव मे त्रुटि होती है तो सम्पूर्ण पाठ नियोजन दूषित हो जाती है । शीर्षक के आधार पर ही पाठ के विशिष्ट उद्देश्य होते है । यदि शीर्षक गलत है तो विशिष्ट उद्देश्यो में भी दोष आ जाता है और जब पाठ के उद्देश्य ही दूषित हैं तो पाठ द्वारा अच्छा शिक्षण संभव नही है ।

विज्ञान, गणित इत्यादि विषयों में शीर्षक इस प्रकार का नही होना चाहिए कि वे बालकों मे अन्वेषण की भावना को नष्ट कर दे "ठोस पदार्थ गर्मी पाकर बढ़ते है" शीर्षक न देकर यह शीर्षक देना अच्छा होता है कि "ठोस पदार्थ पर ताप का प्रभाव" । इस रूप में बालकों में ह्यूरिस्टिक भाव बना रहता है ।

(८) **सामान्य उद्देश्य**—प्रत्येक विषय के शिक्षण के कुछ सामान्य उद्देश्य होते है । इन उद्देश्यों का वर्णन स्पष्ट रूप से अध्यापक को करना चाहिए । विषय के सामान्य उद्देश्यो को जान कर अध्यापक उचित पाठन-विधि अपना सकता है और यह जान जाता है कि उस विषय का शिक्षण वह बालकों को क्यों दे रहा है ।

(९) **विशिष्ट उद्देश्य**—प्रत्येक विषय के पाठ में विषय के सामान्य उद्देश्य तो एक से ही होते है परन्तु प्रत्येक पाठ कुछ विशिष्ट उद्देश्यो को प्राप्त करने के हेतु ही पढाया जाता है । जैसे यदि एक पाठ दशमलव भिन्न के जोड़ने पर पढ़ाया जा रहा है तो इस पाठ के सामान्य उद्देश्य वही होंगे जो अंकगणित के । परन्तु विशिष्ट उद्देश्य इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है "छात्रों को दशमलव भिन्नों का जोड़ना सिखाना ।"

(१०) **सहायक सामग्री**—पाठ के शिक्षण में जो कुछ भी सहायक सामग्री की आवश्यकता हो उस सबका उल्लेख यहाँ कर देना चाहिए । बहुधा शिक्षक इस बारे में भूल कर देते हैं । वे सब वस्तुएँ जो पाठ के लिए चाहिए उनका वर्णन

नहीं करते फलस्वरूप जब वे कक्षा में पाठ पढ़ाना आरम्भ करते हैं तो उनके पास सब सहायक सामग्री नहीं होती। जिस वस्तु की वे पाठ के बीच में आवश्यकता समझते है उसी के लिए या तो किसी छात्र को दौड़ा देते हैं या उसको छोड़ देते है। अच्छे शिक्षण के लिये ये दोनों बातें बुरी हैं। पाठ के समय विद्यार्थियों को दौड़ाना किसी भी रूप में उचित नहीं कहा जा सकता, न ही इसे अच्छा कहा जा सकता है कि वह सहायक सामग्री के अभाव में पाठ के किसी महत्वपूर्ण अंग को पढ़ाये ही न या बुरी तौर से पढ़ाये।

(११) **पूर्व ज्ञान**—हमने हर्बर्टीय पदों का उल्लेख करते समय इस बात को स्पष्ट कर दिया था कि बालकों के नवीन ज्ञान का सम्बन्ध पूर्व ज्ञान से करना अत्यन्त आवश्यक है। प्रत्येक पाठ-योजना में जो कुछ बालक का पूर्व ज्ञान है उसे लिख देना चाहिए क्योकि इसी के आधार पर हर्बर्ट के प्रथम पद प्रस्तावना पर क्या किया जाय, इसका निर्णय होगा। बिना पूर्व ज्ञान की जानकारी किए हुए पाठ-सूत्र का निर्माण कदापि न करना चाहिए। क्योंकि ऐसी दशा में पाठ-सूत्र का प्रत्येक पद गलत हो जायेगा। इन सब प्रारम्भिक बातो का पाठ-सूत्र मे उल्लेख करने के पश्चात हर्बर्ट के पद जो विभिन्न प्रकार के पाठों मे विभिन्न रूप मे होते है, जिनका वर्णन हम पिछले अध्यायो मे कर चुके हैं, पाठ सूत्र में उनका वर्णन करना चाहिए। इन पदों का उल्लेख इस प्रकार से किया जा सकता है।

(१) **प्रस्तावना**—विभिन्न प्रकार के पाठो मे यह पद आवश्यक रूप से आता है। इस पद पर बालक को नवीन पाठ के लिए तैयार किया जाता है।

(२) **उद्देश्य कथन**—प्रस्तावना के तुरन्त बाद ही उद्देश्य कथन लिख देना चाहिए।

(३) **प्रस्तुतीकरण**—प्रत्येक प्रकार के पाठ में यह पद होता है परन्तु इसके अन्तर्गत पाठ्य विषय को कैसे प्रस्तुत किया जाता है यह विभिन्न विषयों में विभिन्न रूप से होता है। इस विषय मे अधिक जानकारी के लिए विशिष्ट विषयों के शिक्षण की पुस्तकों को देखना चाहिए।

(४) **सामान्यीकरण**—प्रत्येक प्रकार के पाठ में यह पद होना आवश्यक नहीं है। मुख्यत: यह ऐसे पाठों में होता है जहाँ कोई सिद्धान्त निरूपण किया जाता है। ऐसे विषय है गणित, विज्ञान, व्याकरण इत्यादि आते हैं।

(५) **पुनरावृत्ति**—पाठ पढ़ाने के पश्चात् उस पर प्रश्न करना भी आवश्यक है जिससे पता चल जाय कि पाठ का ज्ञान बालकों द्वारा ग्रहण कर लिया गया या नहीं। यह पद भी प्रत्येक प्रकार के पाठ में प्रयोग किया जा सकता है।

(६) **श्यामपट सारांश**—कुछ विषयों में पुनरावृत्ति के साथ ही श्यामपट

सारांश लिख दिया जाता है। ऐसे विषय हैं इतिहास, नागरिक शास्त्र, अर्थशास्त्र इत्यादि। गणित, विज्ञान इत्यादि में श्याम पट सारांश प्रस्तुतीकरण के साथ ही होता जाता है। परन्तु पाठ-सूत्र मे यह अलग से लिखा जा सकता है।

(७) **प्रयोग एवं गृहकार्य**—जो नया ज्ञान प्राप्त किया गया है उसे नयी परिस्थितियों मे प्रयोग होना भी आवश्यक है पाठ-सूत्र के निर्माण में इस पद का स्पष्ट उल्लेख होना चाहिए। विशेष रूप से यह पद गणित, विज्ञान इत्यादि के शिक्षण मे विभिन्न विद्यालयो में महत्वपूर्ण है।

ऊपर वर्णन किये हुए पदों में अनेकों परिवर्तन कर दिये जाते हैं। यहाँ हमने केवल इस ओर संकेत करने की चेष्टा की है कि पाठ-सूत्र में कौन-कौन पद हो सकते हैं। वास्तविक रूप में उनका प्रयोग कैसे हो इसका निर्णय अध्यापक को स्वयं विषय; स्थान, परिस्थित इत्यादि को देखकर करना चाहिए।

सारांश

प्रत्येक शिक्षक को चाहिए कि वह कक्षा में जाने से पूर्व जो पाठ पढ़ाना है उसकी लिखित रूप में योजना बना ले।

पाठ-योजना बनाने से पहिले शिक्षक को विषय सम्बन्धी, बालकों के मनोवैज्ञान सम्बन्धी, शिक्षण-विधि सम्बन्धी शिक्षण के उद्देश्य सम्बन्धी, ज्ञान प्राप्त कर लेना चाहिए। पाठ-योजना का बनाना समय की बचत नियमित एवं सुसंगठित कार्य तथा विचारपूर्ण शिक्षण के लिए आवश्यक है।

पाठ-योजना के निर्माण में अनेकों मूल्य हैं। अच्छे प्रकार से पाठ के उद्देश्य, तथा विधि निर्धारित करने, पाठ्य सामग्री चुनने, पाठ्य विषय का संगठन करने, पाठ की सफलता का मूल्यांकन करने, मूल प्रश्न बनाने, व्यक्तिगत विभिन्नता को ध्यान में रखने तथा शिक्षक में आत्मविश्वास उत्पन्न करने इत्यादि में पाठ योजना बहुत मूल्यवान है।

उत्तम पाठ योजना लिखित होती है। इसमें पाठ के उद्देश्य, पाठन-विधि, पाठ्य-सामग्री का संगठन, व्यक्तिगत विभिन्नता का ध्यान, शिक्षण में सफलता का मूल्यांकन, पूर्व पाठ का नये के साथ सम्बद्ध करना इत्यादि को महत्व दिया जाता है।

पाठ-सूत्र के निर्माण में कुछ सावधानियाँ लेना आवश्यक है। इनमें से मुख्य ये हैं कि पाठ-योजना आवश्यकता से अधिक पूर्ण न हो और न विशृङ्खल।

दैनिक पाठ योजना का प्रयोग पथ प्रदर्शक के रूप में करना चाहिए। पढ़ाते समय कक्षा की आवश्यकता के अनुसार इसमें हेर फेर कर देना चाहिए।

पाठ-सूत्र निर्माण में इन बातों का उल्लेख होना चाहिए : (१) पाठक्रम

संख्या, (२) दिनाङ्क (३) बालकों की औसत आयु (४) अन्तर तथा समय (५) समय-चक्र (६) विषय (७) शीर्षक (८) सामान्य उद्देश्य (९) विशिष्ट उद्देश्य (१०) सहायक सामग्री (११) पूर्व ज्ञान (१२) प्रस्तावना (१३) उद्देश्य कथन (१४) प्रस्तुतीकरण (१५) सामान्योकरण (१६) पुनरावृत्ति (१७) श्याम पट सारांश (१८) प्रयोग एवं गृह कार्य।

अध्ययन के लिए महत्वपूर्ण प्रश्न

१. पाठ-योजना से क्या तात्पर्य है ? पाठ योजना बनाने से पहिले शिक्षक को किन-किन बातों का ज्ञान होना चाहिए और क्यों ?
२. पाठ-योजना की आवश्यकता एवं मूल्यों का वर्णन कीजिए।
३. एक अच्छी पाठ-योजना मे लचीलापन होना आवश्यक है इससे आप क्या समझते हैं ? शिक्षक को पाठ-योजना बनाते समय किन बातों का ध्यान रखना चाहिए।
५. किसी भी विषय के एक पाठ की पाठ-योजना बनाइये जो आपकी नवीं कक्षा में पढ़ाना है। पाठ योजना मे प्रयोग किए हुए विभिन्न पदों के महत्व का वर्णन कीजिए।

सहायक पुस्तकों की सूची

(१) बौसिङ्ग, ऐन० एल० : टीचिङ्ग इन सेकन्डरी स्कूल्स, बोस्टन, हाउटन मिफलिन; १९४२,

(२) बर्टन, डब्यू० एच० : दि गाइडेन्स ऑफ लर्निङ्ग ऐक्टीविटीज,, न्यूयार्क, ऐपल्टन, १९४४

(३) मेलविन, ऐ० जी० : मेथड्स फॉर न्यु स्कूल्स, न्यूयार्क, जॉन डे, १९४१

(४) रियगन, जी० डब्यू : फन्डामेन्टल्स आफ टीचिङ्गस, शिकागो, स्कॉट, फोरसमान, १९३२

(५) रिस्क, ऐम : प्रिंसिपुल्स एण्ड प्रक्टिसेज आफ टीचिङ्ग इन सेकन्डरी स्कूल्स, न्यूयार्क, अमरीकन बुक कम्पनी, १९४१

अध्याय १०

अध्यापन की युक्तियाँ[1]

भाग १

प्रश्नोत्तर

अब तक हमने पिछले अध्यायों मे पाठ के शिक्षण मे किन-किन सिद्धान्तों को ध्यान मे रखना चाहिए तथा विभिन्न प्रकार के पाठों की पाठ-योजना कैसे बनाई जानी चाहिए इस पर प्रकाश डाला है। परन्तु पाठ का शिक्षण केवल पाठ-सूत्र बनाने की आवश्यकता समझ कर या विभिन्न प्रकार के पाठों की विशेषताएँ समझ कर ही सम्पन्न कर दिया जाय ऐसा नहीं है। शिक्षण के लिए आवश्यक है उपयुक्त युक्तियाँ एवं सहायक उपकरण। युक्तियों से यहाँ हमारा तात्पर्य उन साधनों से है जो शिक्षक विविध रूप से कक्षा को शिक्षण देने मे प्रयोग करता है। सहायक उपकरण वे है जिनका उपयोग करके शिक्षक पाठ को रोचक बनाता है और विद्यार्थियों को पाठ सम्बन्धी महत्वपूर्ण बातें समझाने में सफल होता है। इस अध्याय मे हम अध्यापन की प्रश्नोत्तर युक्ति का विवेचन करेंगे और ग्यारहवे अध्याय की अन्य युक्तियों तथा बारहवें अध्याय में शिक्षण के सहायक उपकरणों का वर्णन करेंगे।

जिन युक्तियों का प्रयोग अध्यापक कक्षा मे करता है वे हैं प्रश्नोत्तर, विवरण, वर्णन, उद्घाटन, व्याख्या, प्रदर्शन, अभिनय, वाचिक उदाहरण, विश्लेषण एवं तुलना। हम इन सबका वर्णन एक एक करके करेंगे।

प्रश्नोत्तर[2]

प्रश्नोत्तर-विधि प्राचीन काल से शिक्षण की एक उत्तम विधि मानी जाती

1—Devices of teaching. 2—Questioning

है। यदि कोई अध्यापक उचित प्रश्न कक्षा में पूँछ सकता है तो उसे योग्य अध्यापक समझा जाता है। प्रेरणादायक प्रश्नों को पूछने की योग्यता और बालकों द्वारा पूछे गये प्रश्नों के समुचित उत्तर प्रदान करने की क्षमता एक अच्छे अध्यापक का सबसे मूल्यवान गुण हैं। कोलविन महोदय के अनुसार "**प्रश्न सबसे अच्छा उत्तेजक है और यह अध्यापक को शीघ्र उपलब्ध हो जाता है।**[1] कोई भी प्रारम्भिक और माध्यमिक कक्षाओं का अध्यापक अपने शिक्षण में अध्यापक अपने शिक्षण मे सफल नहीं हो सकता जब तक कि उसे प्रश्नोत्तर की कला पर पूरा अधिकार नही है।

प्रश्न

प्रश्नों को अच्छे प्रकार से पूछना एक श्रेष्ठ कला है। कक्षा मे पूछे जाने वाले प्रश्नों को उचित रूप में रखना आवश्यक है। परन्तु क्योंकि शिक्षक को उन्हे इस प्रकार से बनाकर पूछना होता है कि उत्तर से यह पता लग जाये कि विद्यार्थी को कितना ज्ञान है तो इनका बनाना कोई सरल कार्य नही है। इसके लिए अच्छे प्रश्नों मे क्या गुण होने चाहिए। विभिन्न प्रकार के प्रश्न क्या है? प्रश्न करने का ढंग क्या हैं? इत्यादि के सम्बन्ध मे अध्यापक को सम्यक् ज्ञान होना चाहिए। यहाँ हम इन सब बातों पर कुछ प्रकाश डालेंगे।

प्रश्न पूछने की आवश्यकता

साधारण रूप से प्रश्न इसलिए पूछे जाते है कि

(१) यह पता लग जाय कि बालक का पूर्व-ज्ञान क्या है? इस बात का पता लगाना पूर्व ज्ञान को प्रस्तुत पाठ के ज्ञान से सम्बद्ध करने के लिए आवश्यक है।

(२) बालक का अवधान शिक्षक की ओर केन्द्रित रहे और वह पाठ में रुचि ले।

(३) यह पता लग जाय कि बालक पाठ समझ रहा है अथवा नहीं।

(४) पाठ दोहरा लिया जाय तथा मस्तिष्क में दृढ़ हो जाय।

(५) बालक की जिज्ञासा जागृत रहे।

प्रश्न करने के उद्देश्य

प्रश्न पूछने की आवश्यकता के साथ ही साथ हम प्रश्न करने के उद्देश्यों का भी वर्णन कर सकते हैं। प्रश्न पूछने की जो आवश्यकताएँ होती हैं उन्हें हम

1—Colvin S. S. "The Question is one of the best stimuli and of is readily available to the teacher.

दूसरे रूप में प्रश्न करने के उद्देश्य के रूप में रख सकते हैं। संक्षेप में हम प्रश्न करने के उद्देश्यों का इस प्रकार से वर्णन कर सकते है।

(१) विद्यार्थियों के ध्यान को पूर्व ज्ञान की ओर केन्द्रित करना।

(२) विद्यार्थियों की पाठ के सम्बन्ध मे रुचि जागृत करना।

(३) विद्यार्थियों का पाठ के महत्वपूर्ण स्थलो की ओर अवधान केन्दित रखना।

(४) विद्यार्थी कितना सीख पाये हैं इसका अनुमान लगाना।

(५) विद्यार्थियों की वैयक्तिक कमजोरियों का पता लगाना।

(६) पाठ की पुनरावृत्ति करना।

(७) विद्यार्थियों को और नवीन ज्ञान अर्जित करने की प्रेरणा देना।

(८) विद्यार्थियों की कल्पना शक्ति का विकास करना।

(९) विद्यार्थियों की रुचियों के सम्बन्ध में पता लगाना।

(१०) नये ज्ञान का नयी परिस्थितियों में प्रयोग करना।

(११) बालकों को अभ्यास करा देना।

ये उद्देश्य विभिन्न प्रकार के प्रश्नों द्वारा जो पाठ के विभिन्न पदों पर पूछे जाते वे प्राप्त किये जा सकते हैं।

अध्यापक के लिए सफल प्रश्नोत्तर की कुछ प्रारम्भिक दशाएँ[1]

कक्षा में सफल प्रश्नों को पूछने के लिए यह आवश्यक है कि अध्यापक मे कुछ व्यक्तिगत योग्यताएँ हों कुछ प्रारम्भिक दशाएँ हैं जिनके पश्चात् ही सफल प्रश्नोत्तर अध्यापक द्वारा किया जा सकता है। इन दशाओ को हम निम्न प्रकार से रख सकते हैं।

(१) अध्यापक में स्पष्ट तथा शीघ्र चिन्तन की योग्यता हो।

(२) उसमें तुलनात्मक मूल्यों के समझने की तीव्र संवेदना हो इससे तात्पर्य यह कि वह शीघ्रता से यह निर्णय कर सके कि कौन से प्रश्न आवश्यक हैं और कौन से अनावश्यक। वह यह भी समझे कि बालकों को किन प्रश्नों का उत्तर देना चाहिए और किन पर उस समय ध्यान न देना चाहिए।

(३) प्रश्नों को सुन्दर एवं प्रभावशाली भाषा मे रखने की योग्यता हो। तथा (४) उसमें आत्म विश्वास हो।

अच्छे प्रश्नों के लक्षण[2]

(२) प्रश्नों की शब्दावली निश्चित होनी चाहिए। बिना बात के प्रश्नों को

1—Teadu pre—requesites to successful class questioning.

2—Characteristics of good questions.

बहुत बढ़ा-चढा कर प्रश्न नहीं पूछना चाहिए। प्रश्न इस प्रकार से होना चाहिए : अकबर की मृत्यु के बाद कौन गद्दी पर बैठा; न कि इस प्रकार की अकबर जब मर गया तब क्या तुम जानते हो कि कौन गद्दी पर कौन बैठा जरा जल्दी से कह तो जाओ। इस प्रश्न की भाषा को व्यर्थ तोड़ मरोड़ दिया गया है और बेकार की शब्दावली को प्रश्न मे जोड़ दिया गया है।

(२) प्रश्न इस प्रकार के हों कि उनके लिए चिन्तन की आवश्यकता पड़े। बहुत से अध्यापक ऐसे प्रश्न पूछते हैं जिनका ठीक उत्तर बालक यांत्रिक रूप से दे देते हैं यह ठीक नहीं है। उदाहरण के लिये विज्ञान के पाठ में ऐसे प्रश्न बहुत पूछे जाते हैं। जैसे शीशे के गिलास को लेकर नवीं कक्षा में पूछा जाता है। "मेरे हाथ मे क्या है ? यदि उसमे पानी है तो पूछेंगे गिलास मे क्या है ? इत्यादि ऐसे प्रश्न पाठ को यांत्रिक बना देते हैं। प्रश्न ऐसे होने चाहिए जिनसे कल्पना-विकास मे सहायता मिले।

(३) प्रश्न ऐसे होने चाहिए कि उनका एक ही उत्तर सम्भव हो। जब एक से अधिक उत्तर वाले प्रश्न पूछे जाते है तो बालक प्रश्न को समझने में कठिनाई अनुभव करते है ऐसे प्रश्नो के उत्तर निश्चित नहीं होते और शिक्षक जो बात प्रश्न के उत्तर मे कहलाना चाहता है उस पर बालक बहुत घूम फिर कर आ पाते है। उदाहरण के लिए ऐसा प्रश्न नही करना चाहिए जैसे "मेले कब होते है।" इस प्रश्न का उत्तर न तो निश्चित ही हो सकता है न हो कोई एक उत्तर आ सकता है। इसके स्थान पर यदि यह पूछा जाय कि कैलाश का मेला किस माह में होता है तो निश्चित उत्तर आने की सम्भावना है।

(४) प्रश्न बालकों की आयु तथा योग्यता के अनुसार होने चाहिए। एक कम आयु का बालक ताजमहल की सुन्दरता का वर्णन नहीं कर सकेगा जब कि एक बड़ा बालक इसका अच्छा चित्र खींच सकता है। जो बात आयु के लिए है वही योग्यता के लिये भी है। एक योग्य बालक कठिन प्रश्नो का उत्तर दे सकता है परन्तु दूसरा जो कम योग्य है असफल रहेगा।

(५) प्रश्नो का रूप इस प्रकार का न हो कि वह उत्तर का निर्देश दे दें। उदाहरणत: ऐसे प्रश्न नही होने चाहिए "ठोस पदार्थ गर्मी पाकर बढ़ते है न" या "बहादुरशाह को रंगून में कैद किया गया था क्यों ठीक है।

(६) ऐसे प्रश्न जिनका उत्तर हाँ या नही में आता है उनको नही पूछना चाहिए क्योंकि इस प्रकार के प्रश्न बालकों को बिना विचार किये हुए किसी भी उत्तर के देने की प्रेरणा देते हैं। जैसे प्रश्न किया जाता है "क्या त्रिभुज के तीनों कोणों का योग दो समकोण होता है।" तो इसमें बालक बिना बिचारे कुछ कह देते हैं, हाँ या नही। परन्तु यदि कही ऐसे प्रश्न करना आव-

श्यक हो जाय तो यह ध्यान रहे कि बालक विचार करके ही इनका उत्तर दें। कुछ और प्रश्नों की सहायता से यह पता लगा लिया जाय कि बालक समझ कर ही उत्तर दे रहे हैं।

(७) प्रश्न एक विचार के सम्बन्ध में ही हों। वह प्रश्न जो एक प्रश्न के रूप में ही एक से अधिक विचारों को व्यक्त करते हैं; कठिनता से बालकों को याद रहते हैं और उनके विचारों में अस्पष्टता ले आते हैं। जैसे यह प्रश्न नहीं पूछना चाहिए "अकबर और अशोक को महान क्यो कहा गया" इस प्रश्न के स्थान पर यह प्रश्न करना अच्छा है "अकबर महान क्यो कहा जाता है? अशोक महान क्यों कहलाता है" फिर इन दोनो की तुलना कराई जा सकती है।

(८) प्रश्नों को एक निश्चित उद्देश्य से पूछा जाना चाहिए। जब प्रश्न उद्देश्य हीन रूप से पूछे जाते हैं तो वे बालकों की रुचि को नष्ट कर देते हैं।

(९) प्रश्नों में पाठ्य-पुस्तकों की शब्दावली का प्रयोग नहीं करना चाहिए। ऐसा करने से बालक अपने वाक्यों मे उत्तर न देकर पाठ्य-पुस्तक के रटे हुए वाक्यों में ही उत्तर देना पसन्द करते हैं। ऐसी दशा मे अध्यापक को यह निर्णय करने में कठिनाई होती है कि बालक ने समझ कर उत्तर दिया है या नहीं।

(१०) पाठ के प्रत्येक प्रश्न की भाषा एक सी नहीं होनी चाहिए। जैसे विज्ञान के सम्पूर्ण पाठ मे कभी-कभी अध्यापक दो ही प्रश्न करते देखे जाते हैं कि "मैंने क्या किया, तुमने क्या देखा" यह ठीक नहीं है। भाषा मे विभिन्नता लाना आवश्यक है अन्यथा बालकों की रुचि नष्ट हो जाती है।

(११) प्रश्नों का एक दूसरे से सम्बन्धित होना चाहिए। पाठ पढ़ाते समय ऐसे प्रश्न नहीं पूछे जाने चाहिए जो एक दूसरे से बिलकुल भिन्न प्रतीत होते हों उनमें सह-सम्बन्ध होना चाहिए। जैसे, यदि एक प्रश्न सिकन्दर के हमले का पूछा जाय और यदि दूसरा प्रश्न तुरन्त अकबर के शासन-प्रबन्ध पर पूछ लिया जाय तो ऐसा करने से पाठ के उद्देश्य प्राप्त नही हो पायेंगे।

कक्षा में शिक्षक के प्रश्न पूछने का ढंग[1]

शिक्षक का कक्षा मे प्रश्न पूछने का ढङ्ग प्रभावशाली होना चाहिए। इसके लिए उसे निम्न बातों को ध्यान मे रखना चाहिए।

(१) प्रश्न पूरी कक्षा से पूछना चाहिए। इसके बाद किसी एक बालक को उत्तर देने के लिए सम्बोधित करना चाहिए। प्रश्न ऐसे नहीं होने चाहिए कि

1—Teacher Technique of class questioning.

"राम तुम बताओ सिकन्दर ने भारतवर्ष पर कब आक्रमण किया।" प्रश्न को इस प्रकार पूछने से केवल राम ही प्रश्न पर ध्यान देगा और दूसरे बालक इस प्रश्न की ओर से उदासीन हो जायेंगे। प्रश्न को पूरी कक्षा से पूछने में यह लाभ होता है कि—

(क) पूरी कक्षा का अवधान प्रश्न की ओर केन्दित हो जाता है।

(ख) पूरी कक्षा के सदस्यों को इस बात का अवसर मिल जाता है कि प्रश्न के संभावित उत्तर पर विचार कर सकें।

(ग) प्रश्न का जो उत्तर दिया जाता है उसकी ओर पूरी कक्षा का आलोचनात्मक अवधान केन्द्रित हो जाता है।

(२) प्रश्नों का वितरण ऐसा करना चाहिए कि पूरी कक्षा के बालकों को उनका उत्तर देने का अवसर मिल सके। यह ठीक न होगा कि यदि प्रश्न केवल आगे की पंक्ति में बैठने वाले विद्यार्थियों से ही पूछे जायँ।

(३) उत्तर पूछने से पहिले बालको को प्रश्नों का उत्तर सोचने का अवसर देना चाहिए। अतः प्रश्न पूछने के पश्चात् थोड़ा समय दिया जाना चाहिए।

(४) प्रश्नों को इस प्रकार न पूछा जाय कि बालकों को उत्तर का निर्देश मिल जाय।

(५) यदि कोई बालक उत्तर देने मे अपनी असमर्थता दिखाए तो उस पर विश्वास कर लेना चाहिए।

(६) प्रश्नों को दोहराया न जाय।

(७) उत्तरों को दोहराया न जाय। बहुत से अध्यापक जो कुछ बालक उत्तर देते हैं उसको स्वयं बिना किसी उद्देश्य के दोहरा देते हैं यह ठीक नहीं है।

(८) जब किसी बालक का अवधान पाठ की ओर केन्द्रित नहीं है तो उससे प्रश्न करना चाहिए।

(९) प्रश्नों को सरल विश्वास पूर्ण ढङ्ग से पूछा जाना चाहिए।

(१०) एक छात्र ठीक उत्तर न दे पाय तो दूसरों से पूछना चाहिए।

(११) यदि कक्षा किसी प्रश्न का उत्तर देने में असमर्थ है तो उसकी भाषा में परिवर्तन करके प्रश्न को सरल बनाकर पूछना चाहिए।

(१२) प्रश्नों को स्वाभाविक ढङ्ग में पूछा जाय। गाकर या चीखकर प्रश्न नहीं पूछने चाहिए।

(१३) प्रश्नों को केन्द्रिय विचारों के चारों ओर संगठित करना चाहिए।

(१४) पूछने की गति प्रयोजन के अनुरूप होनी चाहिए।

प्रश्नों के प्रकार—

प्रश्नों के उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए कई प्रकार से प्रश्न पूछना आवश्यक है। प्रश्नों के कई प्रकार से हमारा क्या तात्पर्य है इसी को हम आगे स्पष्ट करने की चेष्टा करेंगे।

प्रश्नों के भेद कई आधार पर किये जाते हैं। एक आधार प्रश्नों का स्वरूप है। विभिन्न प्रश्न सूचक शब्दों के आधार पर विभिन्न प्रकार के प्रश्न पूछे जाते हैं। ये प्रश्न सूचक शब्द हैं—क्या, क्यों, कैसे, कौन, कब, कहाँ। दूसरा आधार मानसिक प्रक्रिया का होता है। मानसिक प्रक्रिया के अनुसार प्रश्नो के दो मुख्य उपवर्ग किये जा सकते हैं। ये दो उपवर्ग हैं।

(१) स्मृति-प्रश्न

तथा (२) विचार-प्रश्न

स्मृति प्रश्न[1]—वे होते हैं जिनमे पहिले से याद किया हुआ पाठ पुनःस्मरण कराया जाता है।

विचार प्रश्न[2]—वे होते हैं जिनमें विचार करने को बाध्य किया जाता है। इन प्रश्नों का उत्तर बिना सृजनात्मक कल्पना किये हुए नहीं दिया जा सकता।

पाठ्य सामग्री के आधार पर जो प्रश्नों के प्रकार किये जाते हैं वे है खंडशः प्रश्न और विषयांगी प्रश्न।

प्रश्नों के उद्देश्य के आधार पर भी दो उपभेद किये जा सकते हैं, ये हैं (१) शिक्षण प्रश्न, तथा (२) परीक्षण प्रश्न[3]

शिक्षण प्रश्न—वे प्रश्न होते है जिनकी सहायता से नवीन ज्ञान बालकों को दिया जाता है। ये प्रश्न पाठ के शिक्षण के समय बालकों में निरीक्षण करने, चिन्तन करने, विवेचना करने, तुलना करने, परिणाम निकालने की मानसिक क्रियाओं को प्रोत्साहित करने के लिये पूछे जाते हैं।

परीक्षण प्रश्न—वे प्रश्न होते हैं जिनके द्वारा यह पता लगाया जाता है कि बालक का पूर्व ज्ञान क्या है तथा प्रस्तुत पाठ में उसने कितना समझा है। ऐसे प्रश्नों की सहायता से अध्यापक को यह भी पता लग जाता है कि उसका शिक्षण सफल हुआ अथवा नहीं। शिक्षण प्रश्नों और परीक्षण प्रश्नों में मुख्य अन्तर यह है कि शिक्षण-प्रश्न तो बालक को आगे की ओर ले जाते हैं और

1·—Memory questions. 2—Thought questions.
3—Teaching questions. 4—Testing questions.

उसके ज्ञान की वृद्धि में सहायक होते है जबकि परीक्षण प्रश्न जो बातें बालक ने सीखली हैं उनकी ओर केन्द्रित होते हैं। उनका ध्येय दिया हुआ ज्ञान ग्रहण किया गया है अथवा नहीं और कितना पूर्व ज्ञान बालक रखते हैं, होता है।

परीक्षण प्रश्नों के तीन उपभेद किये जा सकते हैं वे हैं।

(१) प्रारम्भिक प्रश्न

(२) अन्वेषण प्रश्न

तथा (३) पुनरावलोकन प्रश्न

प्रारम्भिक प्रश्नों—का उद्देश्य बालकों के पूर्व ज्ञान को उनकी स्मृति पटल पर ले आना है। ये प्रश्न ऐसे होंते हैं कि बालक पाठ सम्बन्धी पूर्वज्ञान को पुनः स्मरण कर लेता है। इस प्रकार वह पुराने ज्ञान की ओर चलने को तैयार हो जाता है। ऐसे प्रश्न प्रस्तावना के पद पर पूछे जाते हैं।

अन्वेषण-प्रश्न—यह पता लगाने के लिए किए जाते हैं कि बालक को पाठ के सम्बन्ध मे क्या कठिनाइयाँ है। यह बालकों के भ्रम को दूर करने के लिए भी किये जाते है। कभी-कभी जब शिक्षक यह समझता है कि बालकों ने पाठ को ध्यान पूर्वक नही पढ़ा है तो वह ऐसे प्रश्न करके पता लगा लेता है कि बालकों ने पाठ को समझा है या नहीं।

पुनरावलोकन-प्रश्न—वे प्रश्न होते हैं जिनके द्वारा शिक्षक यह जान जाता है कि पाठ समझा गया अथवा नहीं। ये अध्यापन की सफलता के द्योतक होते है। दूसरे, ये प्रश्न ज्ञान को बालकों के मस्तिष्क में दृढ़ बनाते हैं। इन प्रश्नो द्वारा पाठ दोहरा दिया जाता है और जो बातें पाठ में महत्वपूर्ण होती हैं उनकी ओर फिर बालको का ध्यान केन्द्रित कर दिया जाता है।

छात्रों के प्रश्नों के प्रति अध्यापक क्या करे ?

बालको में जिज्ञासा होती है। इस जिज्ञासा को सन्तुष्ट करने के लिए अध्यापक अनेक प्रकार के प्रश्न पूछते है। उनके प्रथम प्रश्न माता-पिता एवं अन्य परिवार के सदस्यों से होते हैं परन्तु जब वे विद्यालय में आते हैं तो उनके प्रश्न अध्यापको से होने लगते हैं। विशेष कर जब वे किसी पाठ में रुचि लेने लगते है और उनकी जिज्ञासा जागृत हो जाती है तो वे पाठ के सम्बन्ध में अनेकों प्रश्न करने लगते हैं। ये प्रश्न बहुधा पाठ को अच्छे प्रकार से समझने के लिए किये जाते हैं। एक कुशल अध्यापक को बालकों के प्रश्नों के प्रति उचित मनोवृत्ति अपनानी चाहिए। उनके प्रश्नों की अवहेलना नहीं करनी चाहिए। बालकों के प्रश्नों के सम्बन्ध में अध्यापक को निम्न बातों को ध्यान में रखना चाहिए।

(१) बालकों को प्रश्न करने के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए।

(२) बालकों को ऐसे प्रश्न करने की प्रेरणा देनी चाहिए जो उस समय के पाठ के लिए महत्वपूर्ण हो।

(३) व्यर्थ के प्रश्न या जो प्रश्न पाठ से किसी भी रूप में सम्बन्धित न हों उन प्रश्नों की अवहेलना करनी चाहिए।

(४) प्रश्नों को शिष्टता पूर्वक पूछने पर बल देना चाहिए।

(५) एक समय में एक ही छात्र को प्रश्न पूछने देना चाहिए।

(६) सरल प्रश्नों का उत्तर कक्षा में अन्य छात्रों की सहायता से निकलवाना चाहिए परन्तु कठिन प्रश्नों का उत्तर शिक्षक को स्वयं देना चाहिए।

(७) जब शिक्षक प्रश्नों का उत्तर न दे सके तो उसे स्पष्ट रूप से बता देना चाहिए कि वह उस समय उत्तर देने में असमर्थ है।

(८) उन बालकों को जो पाठ को गम्भीरता पूर्वक सीख रहे हैं अध्यापक द्वारा व्यक्त किये हुए विचारों पर अपने संशय प्रदर्शित करने की स्वतन्त्रता देनी चाहिए।

उत्तर

प्रश्नों के साथ ही साथ उत्तर के सम्बन्ध में भी हमें विचार कर लेना चाहिए। प्रश्न अध्यापक करता है और उत्तर छात्र देते हैं। अपने प्रश्नों को वह कैसे करे यह समझने के पश्चात वह यह नहीं कह सकता कि वह उपयुक्त उत्तर विद्यार्थियों से निकलवा सकता है। जैसे प्रश्न करना एक कला है ऐसे ही उत्तर निकलवाना एक कला है। कुशल शिक्षक को दोनों कलाओं पर आधारित होना चाहिए।

उत्तर निकलवाना

उत्तर निकलवाना प्रश्न करने से अधिक कठिन है। प्रशिक्षण विद्यालय के विद्यार्थी जब अपना पाठ कक्षा में पढ़ाने जाते है तो बहुधा वे बालकों के उत्तरों के सम्बन्ध में कठिनाई अनुभव करते हैं। कई घन्टे के परिश्रम के उपरान्त वे पाठ योजना बनाते हैं तथा उसमें सब प्रकार से अच्छे प्रश्न रखने की चेष्टा करते है परन्तु जब कक्षा में जाकर प्रश्न करते हैं तो उलटे-सीधे बेढंगे उत्तर आते हैं और वे आत्म विश्वास खो देते हैं। फलस्वरूप गलत पाठ पढ़ाना आरम्भ कर देते हैं। ऐसे अध्यापकों को याद रखना चाहिए कि उत्तर निकलवाना कोई यांत्रिक क्रिया नहीं है। वे मानव बालकों को शिक्षण दे रहे हैं जिनमें तर्क, चिन्तन, कल्पना की शक्ति है और जिनकी प्रतिक्रियायें प्रत्येक स्थित में एक ही प्रकार की हो ऐसा संभव नहीं। अतएव जब ठीक उत्तर नहीं मिलते हैं तो धैर्य से

काम लेना चाहिए और अपने प्रश्नों में हेर फेर करके उपयुक्त उत्तर प्राप्त करने की चेष्टा करनी चाहिए। प्रश्नों के बदलने का कार्य शिक्षक को कक्षा में एक क्षण में ही कर देना चाहिए। इसके लिए उसे सदैव सर्तक रहना चाहिए। जैसे ही बालकों का उत्तर उसे गलत लगे वह निर्णय करले कि किस प्रश्न द्वारा ठीक उत्तर आयेगा। यदि वह प्रश्न भी ठीक उत्तर लाने में असफल रहे तो उस प्रश्न का फिर नये प्रकार से कक्षा के समक्ष रखना चाहिए।

इस प्रकार हम देखते हैं कि शिक्षक द्वारा उत्तर निकलवाने में पर्याप्त कठिनाइयाँ आ सकती हैं। इन कठिनाइयों पर विजय पाने के लिए शिक्षक को निम्न बातों को ध्यान में रखना चाहिए।

छात्रों के उत्तरों के प्रति शिक्षक की मनोवृत्ति

(१) **छात्रों के उत्तरों की ओर अध्यापक को धैर्य तथा सहानुभूति का भाव रखना चाहिए।** यदि कोई बालक गलत उत्तर दे रहा है तो अध्यापक को अपना धैर्य नहीं खोना चाहिए उसे सहानुभूति पूर्ण ढङ्ग से सही उत्तर निकालवाने की चेष्टा करनी चाहिए।

(२) **उत्तरों को सदा छात्रों के पक्ष में लेना चाहिए**--छात्रो के उत्तरों मे जो कुछ भी ठीक बात हो उसे मान लेना चाहिए और आगे जो बात गलत हो उसे ठीक कराने की चेष्टा करनी चाहिए।

(३) **साधारण रूप के बालकों को उत्तर देने में सहायता नहीं करनी चाहिए**—बालकों को यथा संभव स्वयं उत्तरों को पूर्ण रूप से देने का अवसर प्रदान करना चाहिए जो शिक्षक बालक के उत्तर को अपनी ओर से पूरा कर देते है या उत्तर देने में उसके जरा ही अटकने पर सहायता देने लगते हैं वे बालकों में दूसरों पर आश्रित रहने की भावना को बढ़ाते है।

(४) **अशुद्ध उत्तरों को छात्रों द्वारा ही शुद्ध कराना चाहिए।**

यदि अध्यापक देखे कि बालको द्वारा दिये गये उत्तर अशतः शुद्ध है तो वह उन्हें स्वयं शुद्ध न करके बालकों द्वारा ही शुद्ध कराये। अन्य छात्रों की सहायता से उसे ऐसा करना चाहिए।

(५) **उत्तर न मिलने पर छात्रों को डाँटना फटकारना नहीं चाहिए**—बहुत से अध्यापक उत्तर न मिलने पर अपनी धैर्य खो देते हैं और छात्रों को बहुत बुरा भला कहते हैं। कुछ तो उनको पीट भी देते हैं। ये सब बातें अमनोवैज्ञानिक हैं तथा बालकों की भावनाओं का दमन कर देती हैं और वे अपना आत्म विश्वास खो बैठते हैं।

(६) **अच्छे उत्तरों की प्रशंसा की जानी चाहिए**—यदि बालक ठीक उत्तर

देता है तो उसे कुछ ऐसे शब्द "शाबाश" इत्यादि कहना चाहिए। इससे उन्हें प्रोत्साहन मिलता है। परन्तु कुछ अध्यापक एक अपनी आदत बना लेते हैं कि प्रत्येक उत्तर आने पर शाबास कह देते हैं या कोई शब्द कहते हैं यह ठीक नहीं है। अध्यापक को जल्दबाजी से काम नहीं लेना चाहिए उसे सोच समझ कर ही अच्छे ही प्रश्नों की सराहना करनी चाहिए। उसे यह भी याद रखना चाहिए कि उसे अशुद्ध उत्तरों पर ताड़ना नही देनी है।

(७) **प्रत्येक शुद्ध उत्तर को उन छात्रों से दुहरवाना चाहिए जिन्होंने अशुद्ध उत्तर दिया है**—ऐसा करने से जो छात्र अशुद्ध उत्तर देते हैं वे अपनी त्रुटि स्वयं समझ लेते हैं।

(८) **पूरी कक्षा को एक साथ उत्तर देने से रोकना चाहिए**—यदि पूरी कक्षा एक साथ उत्तर देती है तो कक्षा मे बहुत शोर मच जायगा और न तो अध्यापक की समझ में कुछ आयेगा न बालकों की। इसलिए अध्यापक को चाहिए कि कक्षा में उचित अनुशासन रखे और बालकों को एक-एक करके प्रश्नों का उत्तर देने का आदेश दे।

(९) **बेमन, बिना विचारे तथा शरारतपूर्ण उत्तरों को सावधानी से रोके**—कुछ बालक प्रत्येक प्रश्न का बिना सोचे विचारे उत्तर देने को तैयार होते है उन्हे अध्यापक को प्रेम से समझाना चाहिए। यदि उत्तर शरारतपूर्ण ढंग से दिये गये है तो शिक्षक को चाहिए कि सहानुभूति पूर्ण ढंग से बालकों का ध्यान उनकी शरारत की ओर दिला दे और उन्हें अच्छा व्यवहार करने की प्रेरणा दे।

उत्तर किस रूप में होने चाहिए ?

उत्तरों के स्वरूप का अच्छा होना भी नितान्त आवश्यक है। चाहे किसी प्रकार और कैसी भाषा में दिये गये उत्तरों को मान्यता नहीं दी जानी चाहिए। उत्तरों में निम्नलिखित विशेषताऐं होनी चाहिए :—

(१) **भाषा की दृष्टि से उत्तर शुद्ध हों** :—उत्तरों की भाषा की ओर शिक्षक को ध्यास देना आवश्यक है। व्याकरण की अथवा उदाहरण की दृष्टि से अशुद्ध भाषा बोलने से बालक बहत कुछ अशुद्ध बोलना सीख लेते हैं यह ठीक नहीं। भाषा की शुद्धता पर ध्यान देना प्रत्येक शिक्षक का कर्त्तव्य है। उत्तरों की भाषा के दृष्टिकोंण से प्रत्येक पाठ, भाषा-पाठ के समान ही समझना चाहिए। इस बात पर भी ध्यान देना चाहिए भाषा में दो शब्द अंग्रेजी के और दो शब्द हिन्दी के प्रयोग न कियें जायें। खिचड़ी भाषा की आदत पड़ना बहुत बुरी है शिक्षक को इस प्रकार के उत्तरों को शुद्ध भाषा के प्रयोग पर जोर देना चाहिए।

(२) **उत्तर पूर्ण वाक्यों में हों**—उन्हीं उत्तरों को ही मान्यता देनी चाहिए जो पूर्ण वाक्यों में दिये जाते हैं। इससे बालकों में ठीक बोलने की आदत पड़ेगी और वे अपने भावों को अच्छी भाषा में रखना सीख सकेंगे।

(३) **उत्तर में उचित शब्दों का प्रयोग किया जाय**—बहुत से बालक अपने उत्तरों में भद्दे शब्दों का प्रयोग करते हैं यह ठीक नहीं है। कक्षा में उन्हीं शब्दों का प्रयोग किया जाना चाहिए जो सभ्य समाज में मान्य हैं। जैसे इस उत्तर में मेरा यार दिल्ली गया है" यार शब्द का प्रयोग अत्यन्त भद्दा लगता है। यदि यार के स्थान पर मित्र शब्द का प्रयोग किया जाय तो उत्तर शिष्ट प्रतीत होता है।

(४) **उत्तरों में वर्णभावाभिव्यंजन हो**—जिन उत्तरों में अधूरे भाव व्यक्त किये जाते हैं उन्हें मान्यता नहीं देनी चाहिए क्योंकि ऐसा करने से बालकों में अधूरे भाव व्यक्त करने की आदत पड जाती है।

(५) **उत्तर सार्थक हों**—उत्तर विषय से संगत ही होना चाहिए। बहुत से बालक ऐसा उत्तर देते है जो ठीक होते हुए भी जिन बातों के बारे में पूछा जाता है उनको स्पष्ट नहीं करके निरर्थक बातें जोड देते हैं जैसे प्रश्न किया जाता है कि "ताजमहल किसने बनवाया था" और उत्तर दिया जाता है "यह मुमताज महल की याद में जो शाहजहाँ की पत्नी थी बनवाया गया था" सार्थक उत्तर केवल इतना है "ताजमहल शाहजहाँ ने बनवाया था"

(६) **उत्तर एक ही बालक को बार-बार दोहराने वाले नहीं होने चाहिए और न उनमें व्यर्थ का शब्दाडम्बर ही होनी चाहिए**—कभी-कभी बालक उत्तर देने में एक ही बात को बार बार दोहरा देते हैं यह उचित नहीं हैं। उत्तर में जो बात कहनी है उसे एक ही बार में स्पष्ट रूप से कहने की आदत डलवानी चाहिए। प्रायः छात्र यह समझते हैं कि जितना उत्तर लम्बा होगा उतना ही अच्छा होगा और इस कारण वे उत्तर देने में जो शब्दावली उन्हें आती है उसमें सबको जोड़ने की चेष्टा करते हैं। इस प्रकार के उत्तरों में केन्द्रीय भाव छुप जाता है और उत्तर व्यर्थसा प्रतीत होने लगता है।

अशुद्ध उत्तरों को ठीक करना

प्रशिक्षण विद्यालय के विद्यार्थियों के समक्ष यह एक बड़ी कठिन समस्या होती है कि अशुद्ध उत्तरों को कैसे शुद्ध रूप प्रदान किया जाय हम यहाँ कुछ महत्वपूर्ण बातों का वर्णन करेंगे जिन्हें उनको अशुद्ध उत्तरों को ठीक कराते समय ध्यान में रखना चाहिए।

(१) किसी अशुद्ध उत्तर को सर्वथा अस्वीकार न करना चाहिए जब तक

वह पूर्णतया गलत न हो। जो उत्तर अंशतः अशुद्ध हैं उनको छात्रों द्वारा शुद्ध करा देना चाहिए।

(२) छात्रों के अशुद्ध उत्तर देने पर उनसे सहानुभूति पूर्ण व्यवहार करना चाहिए उन्हें डराना या धमकाना नहीं जाना चाहिए।

(३) अशुद्ध उत्तर किस समय ठीक कराने चाहिए ? इस प्रश्न के उत्तर में विभिन्न मत है। सबसे अच्छा तो यही तरीका है कि अशुद्ध उत्तर को तुरन्त ठीक करा दिया जाय परन्तु कही कही जहाँ बालक के उत्तर में कोई गम्भीर त्रुटि नहीं है और जिसके ठीक होने की आगे संभावना है उसे बाद में भी शुद्ध कराया जा सकता है। परन्तु ऐसा बहुत कम अवसरों पर ही होना चाहिए।

(४) जो छात्र अशुद्ध उत्तर देते है उनसे सही उत्तर को दोहरवा देना चाहिए।

(५) छात्रों को उत्तर जोर से देने को कहना चाहिए जिससे सम्पूर्ण कक्षा सुन सके। परन्तु जो छात्र बहुत चीखकर बोलते है उन्हें धीमे बोलने को आदेश देना चाहिए।

सारांश

अध्यापन की युक्तियो मे प्रश्नोत्तर युक्ति पत्यन्त महत्वपूर्ण है। कोलविन महोदय के अनुसार "प्रश्न सबसे अच्छा उत्तेजक है, और यह अध्यापक को शीघ्र उपलब्ध हो जाता है।

प्रश्न पूछने की आवश्यकता पूर्व ज्ञान का पता लगाने, अवधान को केन्द्रित करने, बालक का पाठ समझने का पता लगाने, पाठ दोहराने तथा जिज्ञासा जागृत करने के लिए होती है।

प्रश्न पूछने में अनेकों उद्देश्य होते है। उनमें से मुख्य है विद्यार्थियों का ध्यान पाठ की ओर केन्द्रिन करना, रुचि को जागृत करना, कल्पना शक्ति का विकास करना इत्यादि।

प्रश्न पूछने से पहले अध्यापक मे स्पष्ट तथा शीघ्र चिन्तन की योग्यता, तुलनात्मक मूल्यों को समझने की तीव्र शक्ति, प्रश्नों को प्रभावशाली भाषा में रखने की योग्यता तथा आत्मविश्वास होना चाहिए।

अच्छे प्रश्नों के ये लक्षण होने चाहिए—(१) शब्दावली निश्चित हो (२) चिन्तन को जाग्रित करने वाले हो (३) एक ही उत्तर संभव हो (४) बालक की आयु एवं योग्यता के अनुसार हों (५) निर्देशात्मक न हों (६) हाँ या नहीं में उत्तर न आता हो (७) एक विचारधारा के सम्बन्ध में हों (८) प्रश्न निश्चित

उद्देश्य से पूछे जायं (९) पाठ्यपुस्तकों की शब्दावली का प्रयोग न करें (१०) भाषा में विभिन्नता हो (११) प्रश्न एक दूसरे से सम्बन्धित हों।

कक्षा में शिक्षक के प्रश्न पूछने का ढंग इस प्रकार होना चाहिए—(१) प्रश्न सम्पूर्ण कक्षा से पूछे जायें (२) प्रश्नों का वितरण ठीक हो (३) बालकों को उत्तर सोचने का अवसर मिले (४) निर्देशात्मक प्रश्न न हो (५) बालक की असमर्थता पर विश्वास करो (६) प्रश्न दोहराये न जायँ (७) उत्तरों को दोहराया न जाय (८) ध्यान को पाठ की ओर केन्द्रित करने के लिये प्रश्न पूछे जायँ (९) प्रश्न विश्वासपूर्ण ढंग से पूछे जायँ (१०) उत्तर न आने पर विभिन्न बालकों से पूछे जायँ (११) उत्तर न आने पर भाषा में परिवर्तन कर दिया जाय। (१२) स्वाभाविक ढङ्ग से पूछे जायँ (१३) केन्द्रीय विचार के चारों ओर संगठित हो (१४) पूछने की गति प्रयोजन के अनुरूप हो।

प्रश्नों के भेद कई आधार पर किये जाते है। मानसिक प्रक्रिया के अनुसार ये हैं (१) स्मृति प्रश्न (२) विचार प्रश्न। प्रश्नों के उद्देश्यों के आधार पर ये हैं (१) शिक्षण प्रश्न (२) परीक्षण प्रश्न। परीक्षण प्रश्न के तीन उपभेद होते हैं—(क) प्रारम्भिक प्रश्न (ख) अन्वेषण प्रश्न (ग) पुनरावलोकन प्रश्न।

छात्रों के प्रश्नों के प्रति अध्यापक को उचित मनोवृत्ति अपनानी चाहिए। उनके प्रश्नो की अवहेलना नही करना चाहिए।

ठीक उत्तर निकलवाने के लिए छात्रो के साथ धैर्य तथा सहानुभूति पूर्ण व्यवहार अपनाना चाहिए। उत्तर न मिलने पर उन्हें डाटना फटकारना नही चाहिए।

उत्तरो का भाषा की दृष्टि से शुद्ध होना भी आवश्यक है। वे पूर्ण वाक्यो में हों, उचित शब्दो का प्रयोग करें पूर्ण भावव्यजना व्यक्त करें, सार्थक हो तथा व्यर्थ शब्दाडम्बर से रहित हों।

यदि उत्तर अशुद्ध हों तो उन्हे तुरन्त दूसरे विद्यार्थियो की सहायता से ठीक करा लेना चाहिए।

अध्ययन के लिए महत्वपूर्ण प्रश्न

(१) एक शिक्षक जो दोषरहित ढंग से प्रश्नोत्तर करता है वह प्रभावशाली ढंग से शिक्षण करता है। इस कथन की विवेचना कीजिए।

(२) प्रश्न बनाने की कला तथा उत्तर प्राप्त करने के ढङ्ग पर एक निबन्ध लिखिए।

(३) प्रश्न बनाने की कला जितनी महत्वपूर्ण है उतनी ही महत्वपूर्ण उत्तर निकलवाने की विधि है। इस कथन पर प्रकाश डालिए।

(४) विद्यार्थियों के उत्तरों के प्रति अध्यापक की प्रतिक्रिया क्या होनी चाहिए ?

(५) "जो अच्छा प्रश्न कर्त्ता नहीं है, वह अच्छा वक्ता भले ही बना जाय, परन्तु अच्छा अध्यापक नहीं बन सकता।" इस कथन की व्याख्या कीजिये।

सहायक पुस्तकों की सूची

(१) स्टिक बोसिङ्ग एन० एल० : **'टिचिंग इन सैकेन्डरी स्कूल्स,** बोस्टन, हाउटन मिफलिन, १९४२।

डॉगलस, एच० आर० : **मार्डन मेथड्स इन हाई स्कूल टीचिंग,** बोस्टन।

(२) हाउटन मिफलिन, १९२६।

(३) रियगन, जी० डब्यु : **फन्डामेन्टल्स आफ टीचिंग,** शिकागो, स्काट, फोर समान एण्ड कम्पनी, १९३२।

(४) रिस्क : **प्रिन्सीपुल्स एण्ड प्रैक्टीसेज ऑव टीचिंग इन सैकेन्डरी स्कूल्स।**

(५) मिश्र, आत्मानन्द : **शिक्षण कला,** प्रयाग, गर्ग ब्रदर्स।

अध्याय ११

अध्यापन की युक्तियाँ

(भाग २)

(विवरण,[1] वर्णन[2] उद्घाटन[3] व्याख्या[4] पुनरावृत्ति, अभ्यास-कार्य, गृह-कार्य एवं समीक्षा)

पिछले अध्याय मे हमने अध्यापन की एक अत्यन्त महत्वपूर्ण युक्ति प्रश्नोत्तर का वर्णन किया है। इस युक्ति के अतिरिक्त अन्य महत्वपूर्ण युक्तियों का वर्णन हम प्रस्तुत अध्याय मे करेंगे।

विवरण, वर्णन, उद्घाटन, व्याख्या ये ऐसी युक्तियाँ है जो एक दूसरे से नितान्त भिन्न नहीं है। बहुत कुछ बातें जो एक युक्ति के सम्बन्ध मे ध्यान देने योग्य होती हैं दूसरी युक्तियों में भी महत्वपूर्ण होती है। परन्तु अध्यापन में स्पष्टता तथा सुगमता प्राप्त करने के लिए हम इन सब युक्तियों का एक साथ वर्णन न करके अलग अलग वर्णन करेंगे।

विवरण या कथन

विवरण के स्थान पर हिन्दी मे जो अन्य शब्द प्रयुक्त किये जाते हैं वे हैं प्रवचन, कथन तथा प्राक्कथन। इनमें से हम चाहे किसी भी शब्द का प्रयोग करें परन्तु इसमें कोई संदेह नहीं है कि विवरण शिक्षण की एक अत्यन्त महत्वपूर्ण युक्ति है।

1—Narration, 2—Describe, 3—Exposition, 4—Expalnation.

विवरण से तात्पर्य

विवरण या कथन मौखिक विधि का एक पहलू है। मौखिक विधि मे जो भी तथ्य अध्यापक को ज्ञात होते हैं उन्हें वह स्वयं कहकर बालक को बताता है। विवरण से तात्पर्य यह है कि वह किसी घटना एवं कहानी आदि को ज्यों का त्यों कह दे। इसमे घटना अथवा कहानी इस प्रकार से सुनाई जाती है कि बालकों के मस्तिष्क मे उस घटना का चित्र खिच जायँ।

विवरण का उपयोग

कक्षा-शिक्षण में विवरण का बहुत उपयोग किया जाता है। विषेश कर इसका उपयोग कहानी या घटना सुनाने में होता है भूगोल, इतिहास, नागरिक शास्त्र वाणिज्य, शास्त्र, अर्थ-शास्त्र और कभी कभी विज्ञान के पढ़ाने मे भी होता है।

यह युक्ति अधिक अच्छी मानी जाती है क्योंकि इसमे बालक निष्क्रिय श्रोता रहता है। कथन शिक्षक द्वारा दिया जाता है और जब तक कथन दिया जाता है तब तक शिक्षक ही सक्रिय रहता है बालक नही। इस प्रकार इस युक्ति का यदि अधिक उपयोग किया जाय तो पाठ रसहीन हो जाता है। बालक उसमे रुचि लेना बन्द कर देते है। विषेष रूप से यह दशा उस समय हो जाती है जब अध्यापक अायोग्य होता है और वह कथन अत्यन्त नीरस ढंग से करता है। वह जिस घटना या कहानी या दृश्य का उल्लेख कर रहा है उसे ऐसे वर्णन करता है कि बालक उसमे कोई रुचि नही लेते और उनका ध्यान पाठ पर से हट जाता है जिसके फलस्वरूप अच्छा शिक्षण नहीं हो पाता।

विवरण को रोचक कैसे बनाया जाय

विवरण को यदि उचित ढंग से दिया जाय तो वह रोचक भी बन सकता है परन्तु इसके लिए, अध्यापक को सचेत रह कर प्रयास करना होगा। विवरण देने में यदि निम्नलिखित बातो को ध्यान मे रखा जाय तो यह रोचक बन सकता है।

(१) कथन किसी भी पाठ मे आवश्यकता से अधिक न दिया जाय। सब बाते शिक्षक स्वयं ही न बता दे वरन् छात्रों की कल्पना को जागृत करें और उन्हे उन स्थलो की पूर्ती के लिए प्रोत्साहित करे जो शिक्षक ने कथन मे छोड़ दिये हैं

(२) विवरण देने मे अध्यापक को बीच बीच मे बालकों से प्रश्न भी पूछने चाहिए। ऐसा नहीं करना चाहिए कि वह स्वय सम्पूर्ण घण्टे में विवरण देता रहे।

(३) विवरण देने में अध्यापक उचित सहायक सामग्रियों का उपयोग करे जहाँ कहीं भी संभव हो चित्त, मॉडल, नकशे चल-चित्र इत्यादि दिखाकर पाठ को मनोरंजक बनाये।

(४) विवरण देने मे ऐसे उदाहरणो का समावेश हो जो कथन मे अधिक स्पष्टता लादे। इसके अतिरिक्त यदि शिक्षक अपने कथन के बीच में उपयुक्त कविताओ और चुटकुलो का सामावेश कर दे तो पाठ रोचक हो जाता है।

(५) विवरण देते समय शिक्षक को स्थिति के अनुकूल हाव भाव दिखाने चाहिए। उसे अपनी मुद्राओं और वाणी मे जहाँ भी आवश्यक हो उतार चढ़ाव ले आना चाहिए। नाटकीय ढंग से दिया हुआ विवरण अधिक रोचक होता है। परन्तु शिक्षक को असाधारण रूप से हाव-भाव दिखाकर नाटकीय न बन जाना चाहिए अन्यथा वह बालको के हास्य का विषय बन जायगा।

(६) विवरण को खण्डो में विभिक्त करके प्रदान करना चाहिए। ये खण्ड इस प्रकार से करने चाहिए जिसमें विवरण की क्रमबद्धता नष्ट न हो जाए। एक मुख्य विचार लेकर एक खण्ड कर लेना चाहिए। यह याद रखना चाहिए कि ये खण्ड न अधिक बड़े हों न अधिक छोटे। प्रत्येक खण्ड की समाप्ति पर निष्कर्ष निकलवा लेना चाहिए। यही निष्कर्ष अगले खण्ड के आरम्भ का आधार बना लेना चाहिए। इस प्रकार कथन में बालको की रुचि बनी रहती है और उनकी कल्पना शक्ति का विकास होता है।

(७) विवरण को इस प्रकार से देना चाहिए कि वह धीरे धीरे चरम उत्कर्ष की ओर अग्रसर हो। इस प्रकार से विवरण देने से छात्रों को नवीनता तथा लक्ष्य के पास पहुँचने की अनुभूति होती रहती है।

(८) विवरण देते समय इस ओर सचेत रहना चाहिए कि इसकी भाषा सरल है तथा कथन देने की गति बहुत तेज या धीमी तो नहीं है। गति एव भाषा, कक्षा के स्तर के अनुसार होनी आवश्यक है।

(९) शिक्षको को कथन देते समय व्यर्थ के उपदेश नही झाड़ने चाहिए। ऐसा करने से कथन की ओर से बालक उदासीन हो जाते है और कथन में रुचि लेना बन्द कर देते है।

वर्णन[1]

वर्णन द्वारा छात्रो के सम्मुख किसी वस्तु या घटना को इस प्रकार रखा जाता है कि छात्रों के मन: पटल पर उसका सांगोपांग चित्र खिच जाता है।

1—Description.

वर्णन देने में अध्यापक अपनी कल्पना का सहारा लेता है और चेष्टा करता है कि अत्यन्त आकर्षण एवं मनोरम ढंग से घटना को प्रस्तुत करे। बहुधा अध्यापक वर्णन देने में इस बात को भूल जाते हैं। वे वर्णन इतने नीरस एवं निरूत्साहित ढग से देते हैं कि वर्णन का यह उद्देश्य कि घटना का चित्र बालकों के मन में स्पष्ट हो जाये, रूप असफल हो जाता है। शिक्षको को यह याद रखना आवश्यक है कि वर्णन जितने रोचक ढंग से किया जायेगा उतना ही वह अपने उद्देश्य को प्राप्त करने में सफल होगा।

वर्णन का प्रयोग—वर्णन युक्ति का प्रयोग ऐसे विषयो में होना चाहिए जहाँ किसी घटना या वस्तु का स्पष्ट वर्णन बालकों के सम्मुख प्रस्तुत करना है। ऐसे विषय हैं इतिहास, भूगोल तथा भाषा के रसानुभूति पाठ। इन विषयों का शिक्षण देते समय जब इस युक्ति का प्रयोग किया जाय तो शिक्षक को अपनी कल्पना शक्ति द्वारा वर्णन को रोचक बनाना चाहिए परन्तु उसे सत्यता को छिपा कर या घुमा फिरा कर नही रखना चाहिए।

वर्णन देने में कुछ महत्वपूर्ण सावधानियाँ—वर्णन देना कोई अत्यन्त सरल कार्य नही है। इसके लिए शिक्षक को मेहनत से पाठ तैयार करना पड़ेगा। वर्णन के सम्बन्ध मे योजना बनाते समय उसे कुछ महत्वपूर्ण सावधानियाँ बरतनी चाहिए अन्यथा उसका पाठ अरोचक हो जायगा और वह पाठ के उद्देश्य को प्राप्त करने मे असफल रहेगा। जो सावधानियाँ शिक्षक को ध्यान मे रखनी चाहिए वे उस प्रकार है।

(१) वर्णन न बहुत अधिक लम्बे हों न बहुत अधिक छोटे। यदि वर्णन बहुत अधिक लम्बे होते हैं तो बालक उन पर ध्यान देना बन्द कर देते है। मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से बालकों का अवधान चचल होता है वह अधिक देर तक एक कार्य या वस्तु को ओर केन्द्रित नही रह सकता। अतएव बालकों के अवधान केन्द्रित रखने की सीमा को देखते हुए ही वर्णन दिया जाना चाहिए। इसके अतिरिक्त यदि वर्णन बहुत छोटे होगे तो जो प्रभाव उनके द्वारा बालक के मनः पटल पर डालना है वह नहीं पड़ेगा। वर्णन करते समय तथ्यो को बहुत बढ़ा चढ़ा कर कहने की आवश्यकता नही है और न यह भी होना चाहिए कि वर्णन को सूक्ष्म करने के दृष्टिकोण से महत्वपूर्ण बातों को छोड़ दिया जाय।

(२) वर्णन को रोचक बनाने के लिए श्यामपट का प्रयोग स्वतंत्रता पूर्वक किया जाना चाहिए तथा अन्य सहायक सामग्रियो का उपयोग भी करना चाहिए वर्णन यदि केवल मौखिक रूप से शब्दो मे दिया जाता है तो वह बहुधा बालकों को घटना का चित्र देने मे असफल होता है। विशेष रूप से छोटे बालको के

साथ जिनका ज्ञान सीमित होता है शाब्दिक रूप से दिया गया वर्णन घटना इत्यादि का रेखाचित्र अंकित करने मे सफल नही हो पाता ।

(३) वर्णन देने मे यह भी ध्यान रखना चाहिए कि जो कुछ भी वर्णन बालकों के सम्मुख किया जा रहा है वह उनके बौद्धिक स्तर के अनुकूल ही है। बालकों के बौद्धिक स्तर से यदि उच्चकोटि का वर्णन दिया जायगा तो बालक उसे समझने में असफल रहेगे और यदि यह वर्णन निम्नकोटि का होगा तो बालक उसमें रुचि लेना बन्द कर देंगे ।

(४) पाठ पढ़ाते समय वर्णन उसी स्थान पर आरम्भ करना चाहिए जहाँ वह समुचित हो । पाठ-योजना बनाते समय इस ओर ध्यान देना आवश्यक है कि वर्णन किस स्थान पर सबसे अधिक उपयुक्त होगा ।

(५) वर्णन देते समय शिक्षक की भाव भंगी, मुद्रा, नेत्र संचालन इत्यादि इस प्रकार से होने चाहिए कि वे वर्णन में सजीवता ला दें । परन्तु शिक्षक को इतना नाटकीय नही होना चाहिए कि वह स्वयं बालकों के हास्य का विषय बन जाय । उसे अपना आत्म विश्वास नही खोना चाहिए और अत्यन्त धैर्य के साथ वर्णन देना चाहिए ।

अन्त मे हम कह सकते हैं कि वर्णन को रोचक बनाने के लिए तथा अपने उद्देश्य में सफलता लाने के लिए तीन बातो को ध्यान में रखना आवश्यक है (१) वर्णन उपयुक्त स्थान पर दिया जाय (२) वर्णन का क्रम ठीक हो, तथा (३) वर्णन न बहुत कम दिया जाय न बहुत अधिक ।

उद्घाटन[1]

प्रस्तुत पुस्तक मे उद्घाटन और व्याख्या का वर्णन हम अलग-अलग करेंगे। यहाँ उद्घाटन से हमारा तात्पर्य "पाठ्य-वस्तु को बिना किसी व्याख्या या विवेचना के प्रस्तुत करने से है ।" व्याख्या से हमारा तात्पर्य उस क्रिया से है जिसमे "किसी शब्द, वाक्यांश या कथन का अर्थ स्पष्ट किया जाता है । उद्घाटन का प्रयोग यों तो बहुत से विषयो में होता है परन्तु मुख्यतः भाषा के पाठों में इसका प्रयोग बहुत अधिक लाभदायक होता है ।

जब विज्ञान के पाठ मे प्रदर्शन किया जाता है तो यह उद्घाटन ही होता है । इसी प्रकार से ऐसे पाठों मे जहाँ उदाहरणों, एवं वस्तुओं की तुलना करा कर नियमों सिद्धान्तो इत्यादि की खोज की जाती है तो इनमें तुलनीय वस्तु के प्रस्तुतीकरण को भी उद्घाटन कहते हैं ।

1—Exposition.

व्याख्या[1]

उद्घाटन युक्ति द्वारा पाठ्य वस्तु प्रस्तुत की जाती है और व्याख्या द्वारा उस पाठ्य वस्तु को सरल बनाया जाता है। व्याख्या करने में क्लिष्ट बात को सरल बना कर समझाने की चेष्टा की जाती है। इस युक्ति का प्रयोग भी भाषा शिक्षण में दूसरे विषयों की अपेक्षा अधिक होता है। वास्तव में इस युक्ति की सबसे अधिक उपयोगिता भाषा शिक्षण में ही है।

व्याख्या करने के लिए योग्य अध्यापक का होना आवश्यक है। भाषा के अध्यापक के शिक्षण की सफलता बहुत कुछ उसके कठिन शब्दों को सरल अर्थ प्रदान करने की क्षमता पर होती है। अध्यापक पाठ मे दिये गये क्लिष्ट शब्दों का अर्थ जब सरल रूप से बालको के सामने रखने में सफल होता है तो बालकों के ज्ञान में वृद्धि होती है और वे पाठ को समझने लगते है। व्याख्या करने की क्षमता ऐसे शिक्षक मे ही विकसित होगी जिसे भाषा पर अधिकार हो तथा जिसका ज्ञान विस्तृत हो। पाठ्य विषय का पूर्ण ज्ञान होना अत्यन्त आवश्यक है। इसके अतिरिक्त व्याख्या देने में उसे उदाहरण इत्यादि का प्रयोग करना पड़ता है। वही शिक्षक योग्य होगा जिसमें इस बात की क्षमता है कि जहाँ कहीं भी आवश्यक हो तत्काल उदाहरण देकर बालकों को सरल अर्थों से समझा दे।

व्याख्या करने में सावधानियाँ—व्याख्या करने में कुछ सावधानियों की ओर ध्यान देना आवश्यक है। ये सावधानियाँ हैं :—

(१) व्याख्या न अधिक लम्बी न अधिक कम होनी चाहिए। शिक्षक को बालकों के बौद्धिक स्तर का पता होना चाहिए और उसी के अनुसार व्याख्या करनी चाहिए। न यह होना चाहिए कि शिक्षक व्यर्थ व्याख्या करता चला जाय और न यह कि इतनी कम व्याख्या करे कि बालक अर्थ समझने में भी असमर्थ रहें।

(२) व्याख्या उचित स्थान पर ही की जानी चाहिए। शिक्षक को व्याख्या कठिन स्थल आने से पहिले नहीं करनी चाहिए क्योंकि ऐसी दशा में बालक व्याख्या के प्रसंग को समझने मे असमर्थ रहते हैं। इसके अतिरिक्त व्याख्या जहाँ करनी चाहिए उस स्थान पर न करके जब वे बाद मे करते हैं तो भी बालक व्याख्या के प्रसंग के सम्बन्ध में द्विविधा में पड़े रहते हैं।

(३) व्याख्या मे छोटे-छोटे वाक्य तथा सरल शब्दों का प्रयोग करना चाहिए अन्यथा व्याख्या का उद्देश्य कभी भी प्राप्त नहीं होगा।

1—Explanation or Exposition.

(४) कृत्रिम या व्यर्थ व्याख्या नहीं करनी चाहिए। यदि छात्र कुछ शब्दों से पहिले से ही परिचित हैं तो यह आवश्यक नहीं है कि वे उन शब्दों की भी व्याख्या करें। उन्हें तो उन क्लिष्ट शब्दों की ही व्याख्या करनी चाहिए जिन्हें शिक्षार्थी स्वयं अपनी प्रयास से समझने में असमर्थ है।

(५) जब व्याख्या की जा रही है तो बालकों को सावधान कर देना चाहिए कि किन-किन विषयों की व्याख्या की जा रही है। इस प्रकार बालकों का अवधान क्लिष्ट विषयों की ओर केन्द्रित हो जाता है।

(६) व्याख्या जब समाप्त हो जाय तो यह आवश्यक है कि बालकों को इसे समझने के लिए पर्याप्त समय देना चाहिए। इस बात का पता लगाने के लिए कि बालकों ने व्याख्या को समझ लिया है कुछ प्रश्न भी पूछ लिए जायं। जो बात बालकों की समझ में न आये उसे फिर सहानुभूति पूर्ण ढंग से समझा देना चाहिए।

व्याख्या करने की विधियां—भाषा शिक्षण मे व्याख्या करने की अनेकों विधियां हैं। इन सब के विस्तृत वर्णन के लिए भाषा-शिक्षण की किसी अच्छी पुस्तक को देखना चाहिए। यहाँ पर हम इन विधियों का केवल नामोल्लेख करेंगे और मुख्य विशेषता का वर्णन करेंगे।

(१) **पर्याय द्वारा**—किसी कठिन शब्द के स्थान पर दूसरा सरल शब्द बताना जो पहिले का पर्यायवाची हो। यह विधि अधिक शुद्ध नहीं है।

(२) **परिभाषा द्वारा**—जब शब्द कठिन हों या जब दो शब्दों का अन्तर स्पष्ट करना हो तो परिभाषा की सहायता द्वारा यह किया जा सकता है।

(३) **स्पष्टीकरण द्वारा**—शिक्षक स्वयं क्लिष्ट विचारो का विश्लेषण करके तथा उसे सरल बना करके बालको को उनकी परिचित भाषा में समझाए।

(४) **मूर्त समग्र द्वारा**—जब कठिन शब्द किसी मूर्तमान वस्तु के प्रतीक हों तो उस वस्तु को दिखाकर उनका अर्थ सरल रूप मे समझाया जा सकता है।

(५) **रेखाचित्र द्वारा**—बहुत से कठिन शब्दों का अर्थ उनकी द्योतक वस्तुओं का रेखाचित्र श्यामपट पर खींच कर समझाया जा सकता है।

(६) **अभिनय द्वारा**—यदि कठिन शब्द क्रियार्थक है तो क्रिया का अभिनय करके उसकी व्याख्या की जा सकती है।

(७) **व्युत्पत्ति द्वारा**—कठिन शब्द का अर्थ उस शब्द के मूल शब्द जिससे उसकी उत्पत्ति हुई है, से सम्बन्ध स्थापित कर के समझाया जा सकता है।

(८) **विग्रह द्वारा**— कठिन शब्दों का समास तोड़ कर और उनका विग्रह करके व्याख्या की जा सकती है।

(९) **संधि विश्लेषण द्वारा**—जब कठिन शब्द ऐसे होते हैं कि उनकी संधि

सरलता से तोड़ी जा सकती है तो इस विधि द्वारा उनका अर्थ समझा दिया जाता है।

(१०) **भाषान्तर द्वारा**—दूसरी भाषा के शिक्षण में कठिन शब्द का अर्थ बालक की मातृ भाषा में दे दिया जाता है।

(११) **शाब्दिक उदाहरण**—कोई कहानी, या घटना, या अन्तर्कथा, उपमा, उत्प्रेक्षा उल्लेख इत्यादि प्रसंगानुकूल देकर कठिन भाव की व्याख्या की जा सकती है। यही शाब्दिक उदाहरण कहलाता है।

धारणा सहायक युक्तियाँ

इन चार युक्तियों के अतिरिक्त हम कुछ और युक्तियों का वर्णन कर सकते हैं जिनका उद्देश्य ज्ञान को मस्तिष्क मे दृढ़ करना होता है। ये युक्तियाँ धारण सहायक युक्तियाँ कहलाती हैं। पिछली चार युक्तियो का उद्देश्य पाठ्य-वस्तु का स्पष्टीकरण था। धारणा-सहायक युक्तियो का ध्येय ज्ञान को मस्तिष्क में धारण करने में सहायता पहुँचाना है। यह युक्तियाँ भी चार होती है—(१) पुनरावृत्ति (२) अभ्यास कार्य (३) गृह-कार्य, एवं (४) समीक्षा। हमने पाठों के प्रकार के अध्याय मे इन युक्तियों का वर्णन किया है। वहाँ हमने यह संकेत किया था कि ज्ञान को मस्तिष्क में दृढ़ बनाने के लिए हम बालकों को पुनरावृत्ति पाठ या अभ्यास पाठ या समीक्षा पाठ पढ़ा सकते है। इन पाठों द्वारा नये ज्ञान को न देकर जो ज्ञान बालकों को दिया जा चुका है उसी को धारण करा देना होता है। तात्पर्य यह कि इन युक्तियों का प्रयोग एक अलग पाठ के रूप मे भी हो सकता है और एक ही पाठ के विभिन्न पदों पर हो सकता है। पीछे हर्बर्टीय पंचपदी के वर्णन मे हमने पुनरावृत्ति, अभ्यास इत्यादि के महत्व पर बल दिया है। यहाँ हम इन युक्तियों का उपयोग एक पाठ के विभिन्न पदों के रूप मे किस प्रकार होता है केवल इसका वर्णन करेंगे। विभिन्न पाठ के रूप मे इनके प्रयोग के सम्बन्ध मे हम वर्णन कर ही चुके हैं।

(१) पुनरावृत्ति

प्रत्येक पाठ के प्रस्तुतीकरण के पश्चात् पुनरावृत्ति कराना आवश्यक है। पुनरावृत्ति का उद्देश्य यही होता है कि नवीन ज्ञान धारण किया जाय।

पुनरावृत्ति कराने मे यह ध्यान रखना चाहिए कि बालकों को इस बात के अवसर मिलें। कि वे सोच विचार सकें पुनरावृत्ति में शिक्षक को स्वयं सब पाठ के पृष्ठ नहीं दोहराना चाहिए वरन् बालको से कुछ प्रश्न पूछने चाहिए रेडियो पर वह सोच समझ कर दें या कुछ ऐसे कार्य करने को बालकों को जब कि दूसरे को दोहरा दें।

पुनरावृत्ति कराते समय यदि शिक्षक को पता लगे कि बालक ने पाठ के किसी अंश को नहीं समझा है तो उसे चाहिए कि बालक को उस भाग को दोबारा समझा दे। परन्तु समझाते समय बालक को सक्रिय रखना आवश्यक है।

(२) अभ्यास कार्य

अभ्यास कार्य द्वारा बालक में नये ज्ञान को प्रयोग करने की क्षमता उत्पन्न की जाती है। बालक ने जो ज्ञान अर्जित किया है जब वह उसे विभिन्न परिस्थितियों में प्रयोग कर लेता है, तो वह ज्ञान उसके मस्तिष्क में दृढ हो जाता है। उसमें फिर यह क्षमता उत्पन्न हो जाती है कि वह सीखे हुए ज्ञान को नई परिस्थितियों में प्रयोग कर सके।

अभ्यास कार्य कराने में यह ध्यान रखना चाहिए कि बालक की रुचि पाठ की ओर से कम न हो जाय। उसे अभ्यास उसी समय कराना चाहिए जब वह अभ्यास की वस्तु को बौद्धिक रूप से समझ चुका हो अन्यथा अभ्यास कार्य केवल यांत्रिक रूप लेकर रह जायगा और उसमे बालक की रुचि नष्ट हो जायगी।

अभ्यास कार्य कराने में एक और बात ध्यान मे रखनी चाहिए वह यह है कि यथा संभव अभ्यास कार्य बालक की वास्तविक जीवन मे आने वाली परिस्थितियों से सम्बन्धित हो। इस प्रकार के कार्यों में उसे विशेष आनन्द आयगा और नया ज्ञान मस्तिष्क मे भली प्रकार दृढ़ हो जायगा।

(३) गृह-कार्य

पाठ का शिक्षण समाप्त करने के पश्चात् शिक्षक का बालकों को गृह-कार्य करने को देना चाहिए। गृह-कार्य घर पर कार्य करने को कहते हैं। प्रत्येक प्रकार के पाठ में इसकी आवश्यकता पडती है। इसका उद्देश्य भी ग्रहण किये हुए ज्ञान को दृढता से धारण कराना होता है।

गृह-कार्य भी अभ्यास कार्य की तरह होता है। गृह-कार्य तथा अभ्यास कार्य में यह अन्तर है कि अभ्यास कार्य तो कक्षा में शिक्षक के सामने होता है जब कि गृह कार्य बिना शिक्षक की सहायता के घर पर किया जाता है। अभ्यास कार्य का संशोधन शिक्षक कक्षा मे ही उसी समय जब अभ्यास किया जा रहा है कर सकता है जब कि गृह-कार्य का संशोधन केवल दूसरे दिन ही किया जा सकता है जब बालक घर से अभ्यास करके लाता है। का वि..

कुछ शिक्षा-शास्त्री गृह कार्य की बहुत कड़ी आलोचना कर ा कहना यह है कि गृह-कार्य बालकों की रुचि को नष्ट कर देता है उनकी संधि

विद्यालयों के पास भी अपना निजी रेडियो होता है। रेडियों द्वारा यदि बालक अच्छे शैक्षणिक प्रसंग हैं तो उन्हें बहुत सी नई-नई बातों का ज्ञान हो जाता है। रेडियो के शैक्षिक लाभ निम्नलिखित हैं—

रेडियो द्वारा समाचार तथा दूर-दूर स्थानों में होने वाली घटनाओं का वर्णन सुना जा सकता है। इससे व्यक्ति के सामान्य ज्ञान में वृद्धि होती है।

रेडियों पर अच्छे आदर्शमय कथानक या व्याख्यान सुनने से बालकों का नैतिक विकास होता है। रेडियो द्वारा देश-विदेश के विद्वानों के विचारों से बालकों को अवगत कराया जा सकता है।

रेडियों द्वारा कक्षा शिक्षण दिया जा सकता है। किसी विशेष विषय पर जब कोई पाठ प्रसारित किया जाता है तो शिक्षा में उस प्रसारित कार्यक्रम को सुनाया जा सकता है।

रेडियों के माध्यम द्वारा दूर-दूर स्थानों पर रहने वाले छात्रों को एक ही प्रकार तथा एक ही समय शिक्षा दी जा सकती है।

रेडियो की सीमाएँ

रेडियों के कार्यक्रम और विद्यालय के समय मे अन्तर हो सकता है। जिस समय रेडियों पर कोई अच्छा कार्यक्रम होता है उस समय विद्यालय बन्द हो सकता है और इस प्रकार रेडियो पर प्रसारित कार्यक्रम बालकों तक नहीं पहुँच पाता। इस कठिनाई को हल करने के लिए रेडियो स्टेशन विद्यार्थियों के लिए कुछ विशेष कार्यक्रम का आयोजन करते हैं, परन्तु इसके अतिरिक्त भी ऐसे कार्यक्रमों को जो सबके लिए होते हैं बहुत कुछ शैक्षणिक मूल्य कार्यक्रम होते है। इनको यदि विद्यालय टेप रिकार्ड कर लें और दूसरे दिन बालकों को सुना दे तो ठीक है परन्तु बहुत से विद्यालय रेडियों और टेप रिकार्ड नहीं खरीद पाते है।

रेडियो पर जो कार्यक्रम प्रसारित किया जाता है यदि उस सम्बन्ध में श्रोतागण को कोई जिज्ञासा होती तो उसका समाधान सम्भव नही होता क्योंकि रेडियो द्वारा एक ओर से ही वार्त्ता हो सकती है।

रेडियो के माध्यम द्वारा शिक्षण केवल एकांगिक रूप में हो सकता है। वास्तव में यह शिक्षण अधूरा एवं अपूर्ण रहता है।

रेडियो द्वारा शिक्षण सब प्रकार की योग्यता और सब प्रकार की शैक्षणिक पृष्ठभूमि वाले विद्यार्थियों को एक ही प्रकार से दिया जाता है। अतएव रेडियो पर प्रसारित कोई वार्ता बालकों को बहुत सरल प्रतीत हो सकता है जब कि दूसरे बालकों को अत्यन्त कठिन।

रेडियो का उपयोग शिक्षण देने में अत्यन्त महत्वपूर्ण से हो सकता है यदि निम्नलिखित बातों को ध्यान में रखा जाय।

रेडियो-कार्यक्रम को शिक्षण प्रदान करने में केवल एक सहायक उपकरण का स्थान देना चाहिए।

बालको को रेडियों के उचित चुने हुए कार्यक्रम ही सुनवाने चाहिए। यह कार्यक्रम शिक्षा के जो उद्देश्य शिक्षक द्वारा निर्धारित किये गये हैं उनकी पूर्ति के लिए होने चाहिए तथा बालकों की आयु एवं बौद्धिक विकास के अनुकूल ही होने चाहिए।

रेडियो कार्यक्रम के समय बालकों को शान्त रहना चाहिए तथा मुख्य बातों को नोट कर लेना चाहिए। रेडियो कार्यक्रम के सम्बन्ध में यदि बालकों को कोई शंका हो तो शिक्षक को उसका समाधान करने की चेष्टा करनी चाहिए।

रेडियो कार्यक्रम द्वारा बालकों को प्रेरणा प्राप्त हो जानी चाहिए जिससे विषय के सम्बन्ध में सीखने को उनकी जिज्ञासा जागृत हो जाये। रेडियो कार्यक्रम का प्रयोग बहुत अधिक मात्रा में करना ठीक नहीं है। शिक्षक को उतने ही कार्यक्रम बालकों को सुनवाना चाहिए जो आवश्यक हैं।

(२) यथा संभव रेडियो कार्यक्रम कक्षा में ही सुनवाने चाहिए जिससे कक्षा का वातावरण बना रहे।

टेलिविजन

हमारे देश में टेलीविजन का प्रयोग बहुत ही सीमित मात्रा में होता है। टेलीविज़न अब तक केवल दिल्ली में ही चालू हुआ है अतएव वहाँ के विद्यालयों को छोड़कर देश में और कहीं भी इसका उपयोग संभव नहीं। परन्तु इस देश में शीघ्र ही इसका प्रचार बहुत बढ जाने की संभावना है।

टेलीविजन श्रव्य-दृश्य सामग्री के रूप में बहुत ही उपयोगी होता है। इसके द्वारा बालक की दोनों ज्ञानेन्द्रियों श्रवण तथा दृष्टि को शिक्षण मिल सकता है।जो गुण चल-चित्र द्वारा शिक्षण में है वे सब इसमें पाये जाते हैं। इनके अतिरिक्त भी जो गुण इस उपकरण में है वह यह कि इसके द्वारा नित्य नये नये कार्य-क्रम प्रसारित किये जा सकते हैं।

सारांश

शिक्षण के उपकरण में सबसे अधिक महत्वपूर्ण हैं पाठ्य पुस्तकें, वाचिक उदाहरण, श्रव्य-दृश्य उदाहरण इत्यादि।

पाठ्य पुस्तकें—पाठ्य पुस्तकों का प्रयोग प्रायः सब विद्यालयों में प्रचलित है। परन्तु इनका प्रयोग इस प्रकार से नहीं होना चाहिए कि ये शिक्षक का स्थान ग्रहण करलें। इसमें कोई संदेह नहीं कि इनकी आवश्यकता बहुत अधिक है परन्तु इनके द्वारा उचित शैक्षणिक उद्देश्य प्राप्त करने के लिए इनमें कुछ विशेषताएँ जैसे भाषा का सरल होना इत्यादि आवश्यक हैं।

पाठ पुस्तकों का उपयोग इस प्रकार से होना चाहिए कि बालक शिक्षक द्वारा मौखिक विधि से सीखने के पश्चात् पाठ को और अधिक दृढ़ता के साथ हृदयंगम करले।

उदाहरण—शिक्षण में उदाहरण का प्रयोग बालकों को ज्ञान का स्पष्टीकरण कराने के लिए एवं भावों को हृदयंगम कराने के लिए होता है।

सामान्य रूप से उदाहरण के दो भेद किये जा सकते हैं (१) शाब्दिक उदाहरण, तथा (२) दृश्य एवं श्रव्य उदाहरण-शाब्दिक उदाहरण में किसी प्रसंग को समझाने के लिए मौखिक दृष्टान्त या उपमा इत्यादि देना होता है।

शाब्दिक उदाहरण की आवश्यकता बालक के मन में उसी प्रकार के चित्र अङ्कित करने के लिए पड़ती है जिस प्रकार का चित्र शिक्षक के मन में हैं।

शाब्दिक उदाहरण के प्रयोग करने में जो विशिष्ट उद्देश्य ध्यान में रखने चाहिए वे हैं (१) अवधान को आकर्षित करना (२) तर्क करने एवं समझने में सुगमता ला देना (३) अनुभवों को विस्तृत करना (४) कल्पना शक्ति को उत्तेजना प्रदान करना, एवं (५) कार्य करने की प्रेरणा देना। शाब्दिक उदाहरणों को प्रभावशाली ढङ्ग से उपयोग करने के लिए भी बहुत कुछ बातों को ध्यान मे रखना चाहिए, जैसे ऐसे उदाहरणों का ही प्रयोग किया जाय जो छात्रों के अनुभव की सीमा के अन्दर ही हों, इत्यादि।

श्रव्य-दृश्य उदाहरण—ये वे उदाहरण होते हैं जो बालक की श्रवण-दृष्टि की ज्ञानोन्द्रियों को उत्तेजित करके पाठ के कठिन स्थलों को उसे समझने में सहायता प्रदान करते हैं।

मोटे रूप से श्रव्य-दृश्य सामग्री को दो वर्गों में बाँटा जा सकता है। पहिले वर्ग मे वह श्रव्य-दृश्य सामग्री आती है जिसे शिक्षक कक्षा में लेजाकर दिखा सकता है और दूसरे वर्ग में वे उदाहरण आते हैं जिनके पास बालक को लेजाना होता है।

पहिले वर्ग की सामग्री को हम कई उपवर्गों में बाँट सकते हैं।

श्रव्य-दृश्य सामग्री का चुनाव करने में इन सिद्धान्तों को ध्यान में रखना चाहिए।

(१) इन पदार्थों की आवश्यकता (२) चुने हुए पदार्थ सस्ते हैं (३) चुने हुए पदार्थ उपलब्ध हैं (४) दिखाने में अधिक समय नहीं लगता (५) प्रभावशाली हैं (६) उचित हैं (७) सुरक्षित रखे जा सकें।

श्रव्य-दृश्य सामग्री का उपयोग स्पष्टीकरण, प्रेरणा इत्यादि प्रदान करने में होना चाहिए तथा इसका प्रयोग प्रभावशाली ढङ्ग से होना चाहिए।

विशिष्ट प्रकार की श्रव्य-दृश्य सामग्री के अन्तर्गत हम चित्र, छाया-चित्र, चल-चित्र, अर्द्ध चित्रमय उपकरण, श्यामपट, पदार्थ, प्रदर्शन, अभिनय, रेडियो, ग्रामोफोन, टेलीविज़न इत्यादि का वर्णन कर सकते हैं।

चित्रों का प्रयोग अत्यन्त सरलता से किया जा सकता है परन्तु इनके उपयोग में शिक्षक को सावधानी बरतनी चाहिए।

छायाचित्र के अन्तर्गत जो उपकरण आते हैं वे हैं स्लाइडस, फिल्म स्लाइडस, स्टीरियोग्राफ तथा चल चित्र।

चल-चित्र का शिक्षा के क्षेत्र में बहुत महत्वपूर्ण ढङ्ग से उपयोग किया जा सकता है। ये उपकरण शिक्षण के अन्य उपकरणों से अधिक महत्वपूर्ण होते हैं। परन्तु कक्षा में इसका उपयोग बहुत सावधानी पूर्वक होना चाहिए।

अर्द्ध चित्रमय उपकरण हैं मानचित्र, ग्राफ, श्यामपट इत्यादि।

श्यामपट का उपयोग प्रत्येक विद्यालय में तथा प्रत्येक शिक्षक द्वारा किया जाता है। श्यामपट का प्रयोग करने से शिक्षक बालक की श्रवण तथा दृष्टि की ज्ञानोन्द्रियो की सहायता पाठ के समझने में प्राप्त कर लेता है। श्यामपट का प्रयोग करने में शुद्ध भाषा, आकर्षक एवं गतिशील लिखावट इत्यादि का होना आवश्यक है।

पदार्थ—मूल पदार्थ, मॉडल या नमूने के रूप में हो सकते है। ये त्रिदिशा विस्तार में होने के कारण चित्रों इत्यादि से अधिक प्रभावशाली उपकरण सिद्ध होते हैं।

प्रदर्शन—विज्ञान, गणित इत्यादि के शिक्षण में बहुत महत्वपूर्ण उपकरण हैं। परन्तु इसका प्रयोग उपयुक्त ढंग से होना चाहिए।

अभिनय के द्वारा बालक अपनी जाति के बहुत से व्यावहारिक, नैतिक एवं सामाजिक अनुभवों को ग्रहण कर लेता है। इस उपकरण का प्रयोग इतिहास एवं भाषा शिक्षण में अधिक होता है।

ग्रामोफोन और रेडियो की उपयोगिता वर्तमान समय में बहुत बढ़ गई है। रेडियो द्वारा अत्यन्त आकर्षक ढङ्ग से बालकों को विषय का स्पष्टीकरण कराया जा सकता है और सामान्य ज्ञान दिया जा सकता है परन्तु रेडियो का वृहत रूप से कक्षा शिक्षण में उपयोग नहीं किया जा सकता।

भारतवर्ष में टेलीविजन का उपयोग अभी बहुत सीमित रूप में हो है।

अध्ययन के लिए महत्वपूर्ण प्रश्न

१. शिक्षण में उदाहरणों का क्या मूल्य है ? उनका उपयोग किस प्रकार से करना चाहिए ?

२. पाठ्य पुस्तकों के अनुचित प्रयोग ने शिक्षण-कला में क्या विशेषताऐं उत्पन्न करदी हैं ? आप पाठ्य पुस्तकों का उपयोग किस प्रकार करना चाहेंगे।

३. पाठ के उदाहरणों से क्या तात्पर्य है ? किसी एक विषय को लेकर उसके शिक्षण में जो भी उदाहरण प्रयुक्त किये जा सकते हैं, उनकी व्याख्या कीजिए।

४. चल-चित्र से क्या शैक्षिक लाभ प्राप्त किये जा सकते हैं। कक्षा शिक्षण में इनका क्या महत्व है, और कैसे इनका उपयोग किया जा सकता है।

५. रेडियो शिक्षण के क्या उद्देश्य हैं ? इस साधन का प्रयोग कक्षा शिक्षण में कैसे किया जा सकता है।

६. शिक्षण में श्यामपट की महान् महत्ता क्यों है। भाषा, इतिहास, गणित, अथवा विज्ञान का शिक्षक इनका प्रभावशाली ढंग से कैसे उपयोग कर सकता है।

सहायक पुस्तकों की सूची

(१) बौसिङ्ग : **प्रोग्रेसिव वेयड्स**।

(२) रिस्क : **प्रिंसिपल्स एण्ड प्रैक्टिसिज आफ टीचिंग**।

(३) सिंह तथा शास्त्री : **कक्षाध्यापन एवं पाठ-सूत्र निर्माण**, आगरा गयाप्रसाद।

(४) सी० ई० रीवज : **स्टेंडर्स फार हाई स्कूल टीचिङ्ग**, न्यूयार्क, ऐपलटन एण्ड कम्पनी, १९३२।

(५) वुडवेन एवं फ्रीमेन : **मोशन पिक्चरस इन दी क्लास रूम**, बोस्टन, हाउटन मिफलिन, १९२९।

(६) डेल : **आडियो विजुअल मैड्थस इन टीचिङ्ग**।

(७) पार्कर, ऐस० सी० : **मेथड्स आफ टीचिंग इन हाई स्कूल**, बोस्टन १९२०।

अध्याय १३

कक्षा-शिक्षण और वैयक्तिक शिक्षण[1]

शिक्षण देने की विधियों एवं पद्धतियों में समय समय पर परिवर्तन होता रहता है। जैसे जैसे समाज का उद्विकास होता गया और सांस्कृति ने उन्नति की उसी के साथ शिक्षा-दर्शन में भी परिवर्तन होते गये। शिक्षा दर्शन के परिवर्तनों के आधार पर ही शिक्षण विधियों में भी परिवर्तन होता गया। सभ्यता के आरम्भ में शिक्षण की इकाई वैयक्तिक ही थी परन्तु जैसे ही जनतंत्रीय भावनाओं का विकास हुआ वैयक्तिक शिक्षण के स्थान पर समूह के रूप में शिक्षण पर अधिक बल दिया जाने लगा। वर्तमान समय में फिर वैयक्तिक शिक्षण पर बल दिया जाने लगा है। क्योंकि अनेक शिक्षा शास्त्री इसके पक्ष में हैं तथा महान् शिक्षा शास्त्रियों द्वारा प्रतिपादित उनका शिक्षा दर्शन है। अब यह विश्वास किया जाता है कि मानव बालकों में व्यक्तिगत विभिन्नता होती है अतएव उनको जो शिक्षण दिया जाय वह उनकी विभिन्नता को ध्यान में रख कर ही दिया जाय।

व्यक्तिगत विभिन्नता के दृष्टिकोण का विकास

व्यक्तिगत विभिन्नता का विचार कोई बिलकुल नया नहीं है। प्लेटो, अरस्तू इत्यादि इस सम्बन्ध में सचेत थे। परन्तु फ्रान्सिस गेल्टन के तथा अन्य वैज्ञानिकों जैसे चार्ल्स डारविन[3] तथा मैन्डल[4] के अन्य अनुसन्धानों ने व्यक्तिगत विभिन्नता का एक नया दृष्टिकोण प्रस्तुत किया, विशेष तौर से वंशानुक्रम तथा वातावरण के प्रभाव के रूप में। इनके अनुसंधानों के फलस्वरूप ही अनेकों

1—Class teaching and individual teaching, 2—Sir Francis Galton, 3—Charles Darwin, 4—Mendel,

मनोवैज्ञानिक इस सम्बन्ध में अध्ययन करने लगे और बालकों के शिक्षण में वैयक्तिक दृष्टिकोण को अधिक महत्व देने लगे।

लॉक[1] महोदय के अनुसार मन एक कोरी पट्टिया की तरह है जिस पर कुछ भी लिखा जा सकता है। शक्ति मनोविज्ञान[2] के अन्य समर्थक मन को विभिन्न शक्तियों जैसे चिन्तन, इच्छा स्मृति का समूह मानते थे। उनका यह भी विचार था कि इन शक्तियों को किसी भी प्रकार से शिक्षित किया जासकता है। इस प्रकार की विचारधारा पर ही कक्षा शिक्षण को महत्व दिया जाता था क्योंकि यह विचार मान्य था कि प्रत्येक व्यक्ति को एक ही प्रकार की शिक्षा दी जा सकती है।

वर्तमान समय में वैज्ञानिक अनुसंधानों ने उपरोक्त मनोवैज्ञानिक विचारों के थोथेपन को सिद्ध कर दिया है। अब यह माना जाता है कि एक मानव दूसरे से अपनी योग्यताओ, क्षमताओं, रुचियों एवं अन्य वैयक्तिक गुणो में बहुत विभिन्न होता है। इस विचार धारा ने वर्तमान युग के शैक्षणिक दृष्टिकोण में बहुत परिवर्तन ला दिया है। अब कक्षा शिक्षण के स्थान पर वैयक्तिक शिक्षण को अधिक महत्व दिया जाने लगा है।

सामान्य बालक तथा कक्षा पाठ्य-क्रम के सम्बन्ध में पुरातन विचारधारा[3]

पुरातन विचारा के अनुसार कक्षा का पाठ्य-क्रम इस प्रकार निर्धारित किया जाता है कि वह कक्षा मे औसत योग्यता के बालक की आवश्यकतानुसार हो। सब बालकों को जो एक कक्षा में पढ़ते थे एक ही विधि से तथा एक ही प्रकार का पाठ्य विषय पढ़ाया जाता था। इस पर कोई ध्यान नहीं दिया जाता था कि एक ही कक्षा के बालकों में वैयक्तिक विभिन्नता भी हो सकती है। इस प्रकार की शिक्षण विधि का मैडम मॉन्तेसरी तथा दूसरे वर्तमान समय के उच्च शिक्षा शास्त्रियों ने विरोध किया। उन्होंने कहा कि पुरातन प्रकार की शिक्षण विधि में बालक "कीप" की तरह हैं जिसमें उसी मात्रा में तथा उन्हीं गुणों वाली पाठ्य वस्तु को एक ही गति से उढेल दिया जाता है।[4] कक्षा-शिक्षण द्वारा न तो बुद्धिमान बालक को लाभ होता है और न बुद्धिहीन को। इस शिक्षण विधि में बालक निष्क्रिय रहते हैं उन्हें कोई प्रेरणा प्राप्त नहीं होती। शिक्षक

1—Locke, 2—Faculty psychology. 3—Early concepts of class curriculum and average child.

4—"In the traditional lock up system the pupile were treated as "funnels" into which the same amount and quality of subject matter were to be Poured at the same rate for each pupil.

ही कक्षा पर नियंत्रण रखता है और वही सक्रिय रहता है । परन्तु जितने बालक निष्क्रिय रहेगें उतना ही वे कम सीख पायेगें ।

इस प्रकार हम देखते है कि वर्तमान शिक्षा शास्त्री कक्षा शिक्षण के दोषों की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करते हैं और बराबर इसकी कड़ी आलोचना करते हैं । परन्तु यह कहना उचित नहीं है कि कक्षा शिक्षण सर्वथा दूषित है और शिक्षा प्रणाली में इसका कोई स्थान नहीं है । इस प्रकार के शिक्षण में अनेकों लाभ भी हैं । अब हम यहाँ पहिले कक्षा शिक्षण के दोषों का सिलसिले-वार वर्णन करेगे फिर इसके लाभों पर प्रकाश डालेंगे और अन्त में वर्तमान काल में वैयक्तिक शिक्षण से क्या तात्पर्य है और यह कैसे दिया जाता है इस पर विचार करेंगें ।

कक्षा शिक्षण में दोष

(१) कक्षा शिक्षण में सबसे बड़ा दोष यह है कि यह बाल केन्द्रित नहीं है । वर्तमान युग में मनोवैज्ञान के विकास ने यह सिद्ध कर दिया है कि वही शिक्षा प्रभावशाली हो सकती है जो बालक को केन्द्र मानकर प्रदान की जाय ।

(२) एक कक्षा के सब विद्यार्थियों का मानसिक विकास एक समान नहीं होता न ही उनकी शारीरिक क्षमताओं में समानता होती है । उनके सीखने की गति में भी विभिन्नता होती है । अतएव उनको शिक्षण देने में न तो समान विधि अपनाई जा सकती है न ही समान पाठ्य विषय का उपयोग किया जा सकता है । अतएव कक्षा-शिक्षण के स्थान पर वैयक्तिक शिक्षण की अधिक आवश्यकता है ।

(३) कक्षा में बहुत संख्या में विद्यार्थी होते हैं । एक शिक्षक के लिए यह संभव नहीं कि कक्षा के प्रत्येक छात्र की ओर व्यक्तिगत रूप से ध्यान दिया जाय । वर्तमान समय में हमारे देश के विद्यालयों में यह अवगुण बहुत ही स्पष्ट रूप से सामने आरहा है क्योंकि पढ़ने वाले छात्रों की संख्या में पिछले पन्द्राह सालों में बहुत ही वृद्धि हो गई हैं । एक कक्षा में ४० से लेकर ५० छात्र तक होते हैं । यही नहीं कभी कभी तो ७५ से ८० तक संख्या बढ़ जाती है । किसी भी प्रकार से इतने अधिक विद्यार्थियों को एक नियत समय में व्यक्तिगत रूप से शिक्षण नहीं प्रदान किया जा सकता । शिक्षक विद्यार्थियों की व्यक्तिगत कठिनाइयों को सुल झाने में असमर्थ रहता है । इसका फल यह होता है कि विद्यार्थी पाठ में रुचि लेना बंद कर देते हैं, और वे पाठ को नहीं समझ पाते । पाठ न समझने से वे शरारतें करने लगते हैं और कक्षा में विनय की समस्या उठ खड़ी होती है । यहाँ यदि अध्यापक प्रभावशाली व्यक्तित्व वाला है तब तो वह अपने व्यक्तिवर

के प्रभाव से कक्षा को यांत्रिक रूप से शान्त रखता है परन्तु यदि उसकी ओर से जरा भी ढील होती है तो छात्र इतने स्वच्छन्द एवं निर्बन्ध हो जाते हैं और कक्षा में किसी भी प्रकार का शिक्षण संभव नहीं हो पाता।

(४) कक्षा में समान विधि से किसी भी विषय के प्रसंग को सब छात्रों को एक समय में ही पढ़ाया जाता है। शिक्षक यह आशा करता है कि जितनी पाठ्य वस्तु उसने पढ़ायी गयी है वह सब छात्रों द्वारा सीखली जाय। परन्तु बहुधा उसकी यह आशा निराशा में बदल जाती है। क्योंकि प्रत्येक छात्र उस प्रसंग में समान रूप से रुचि नहीं लेता। कुछ छात्रों को वह प्रसंग अत्यन्त रोचक लगता है जबकि कुछ दूसरे छात्रों को वह इतना अरोचक लगता है कि वे किसी भी मूल्य पर उस प्रसंग की ओर अपना अवधान केन्द्रित नही करना चाहते।

(५) कक्षा-शिक्षण में बालक को समय-चक्र के अनुसार पढ़ना पड़ता है। जैसे ही घन्टा समाप्त हो जाता है उसे जो विषय वह पढ़ रहा होता है छोड़ कर नया विषय पढ़ना पड़ता है। यदि एक बालक गणित पढ़ रहा है और उसे उसके प्रश्न हल करने में आनन्द आ रहा है फिर भी जैसे ही गणित का घन्टा समाप्त होता है उसे गणित के प्रश्नों को छोड़कर दूसरा विषय पढ़ना पड़ता है। इस प्रकार के शिक्षण में दो प्रमुख दोष हैं : (१) बालक की लगन एवं अवधान केन्द्रित करने की क्षमता में समय के अनुसार कमी आ जाती है। जो कार्य वह उस समय कर रहा है और जिसमें उसे आनन्द आरहा है जब वह नही कर पाता तो उसका मन उस विषय के सीखने की ओर से हट जाता है और दूसरे विषय की ओर उसका अवधान देर में केन्द्रित होता है तथा उसमें अवधान को शीघ्र तोड़ने की आदत पड़ जाती है। एवं (२) दूसरा विषय जिसे उसे पढ़ने को बाध्य किया जाता है उसमें वह कोई भी रुचि नहीं लेता और इस प्रकार उस विषय को सीखने में असमर्थ रहता है।

(६) यदि कोई छात्र अस्वस्थ होने के कारण या अन्य किसी कारण से विद्यालय मे नहीं आ पाता तो वह जिन दिनों अनुपस्थित रहता है उन दिनों में पढ़ाये जाने वाले पाठों में पिछड़ जाता है। ये पाठ उसे फिर दोबारा नहीं पढ़ाये जा सकते और इस प्रकार एक बार पिछड़ा हुआ छात्र सदैव पिछड़ा ही रहता है जब तक कि कोई उसे घर पर न पढ़ाये।

(७) कक्षा-शिक्षण का सबसे बड़ा दोष जिसके सम्बन्ध में हम ऊपर संकेत कर चुके हैं, यही है कि कक्षा में दिया जाने वाला शिक्षण औसत बालक की ही आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर दिया जाता है। यह न तो प्रतिभावान बालक की आवश्यकताओं की ओर ही सचेत होता है और न पिछड़े बालकों

की। इस प्रकार न तो प्रतिभावान बालकों की प्रतिभा को उभरने के अवसर मिलते हैं न पिछड़े बालकों को प्रगति करने की प्रेरणा मिलती है।

कक्षा-शिक्षण में गुण

(१) कक्षा व्यवस्था के प्रचलन का ठोस आधार आर्थिक है। कोई भी देश इतना धनी नहीं है कि कक्षा व्यवस्था को हटा कर व्यक्तिगत शिक्षण को अपना ले। यदि हम व्यक्तिगत शिक्षण के दृष्टिकोण को अपने सामने रखें तो इसका अर्थ होगा कि प्रत्येक विद्यार्थी के लिए एक शिक्षक की आवश्यकता है। जितने विद्यार्थी होंगे उतने ही शिक्षकों की आवश्यकता की पूर्ती करने के लिए देश के अधिकतर नागरिकों को शिक्षण का उत्तरदायित्व उठाना पड़ेगा। इसका फल यह होगा कि देश की उन्नति रुक जायगी। व्यापार, उद्योग, कृषि, इत्यादि के लिये मनुष्य रहेंगे ही नहीं; सभी शिक्षक बन जायेंगे। यह एक विचित्र परिस्थिति होगी। अतएव समाज के सामने इसके अतिरिक्त और कोई चारा नहीं है कि वह अपने सदस्यों की शिक्षा का आयोजन सामूहिक रूप से करे।

(२) कुछ विशेष विषयो मे कक्षा-शिक्षण का महत्व व्यक्तिगत शिक्षण से कहीं अधिक है। कविता, संगीत, कला, इतिहास, वाचन तथा कहानी कहना इत्यादि विषय से जहाँ प्रेरणात्मक भावना प्रमुख रहती है उनके शिक्षण में कक्षा-पद्धति को अपनाना ही सबसे उत्तम है। साहित्य-शिक्षण, धार्मिक-शिक्षण, कला की प्रेरणा देना इत्यादि की शिक्षा अच्छे प्रकार से तभी दी जा सकती है जब कक्षा विद्यार्थियों से पूर्ण हो। बड़ी कक्षा में छोटी की अपेक्षा संवेग अधिक सरलता से उभर सकते हैं।

(३) कक्षा शिक्षण में "सख्या की सहानुभूति"[1] नामक प्रवृति सक्रिय हो जाती है। इससे तात्पर्य यह है कि बालक कक्षा के दूसरे छात्रों को कुछ करते हुए देखकर स्वयं भी वैसे ही कार्य करने लगते है। यदि एक बालक देखता है कि सारी कक्षा मौन होकर पाठ पढ़ रही है तो वह भी मौन पाठ उचित ढंग से करने की चेष्टा करता है। विद्यार्थी परस्पर एक दूसरे पर प्रभाव डालते है। इस प्रकार वे विषय जो मानव रुचि से सम्बन्ध रखते हैं कक्षा शिक्षण द्वारा ही अच्छे प्रकार से पढ़ाये जा सकते हैं।

(४) कक्षा शिक्षण द्वारा सामूहिक कार्य करने के प्रेरणा बालको को मिल जाती है। बालक शिक्षक तथा अच्छे छात्रों का अनुकरण करके बहुत कुछ सीख जाता है। बालकों में उत्साह का संचार कक्षा शिक्षण द्वारा ही सरलता से किया जा सकता है।

1—Sympathy of numbers.

(५) विद्यार्थियों में प्रतियोगिता की भावना का विकास होता है प्रत्येक विद्यार्थी दूसरे से अच्छा कार्य करने की चेष्टा करने लगता है और इस प्रकार बहुत से विद्यार्थी प्रगति की ओर अग्रसर होते हैं।

(६) शिक्षक, कक्षा-शिक्षण में सक्रिय रहता है। वह पाठ को अच्छी तरह से तैयार करके ही कक्षा में पढ़ाने जाता है और सदैव इस बात के लिए सचेत रहता है कि बालक उसकी कोई त्रुटि न पकड़ लें।

(७) शिक्षक उस प्रसंग को जो वह पढ़ा रहा है ठीक से बालकों के मन मे बैठाने के लिए भिन्न-भिन्न रूप से उसे बालकों के समक्ष प्रस्तुत करता है। उसकी चेष्टा यह रहती है कि प्रत्येक बालक उसे समझ जाय इसलिए वह प्रत्येक विद्यार्थी को समझाने के दृष्टिकोण को सामने रखकर उस प्रसंग को विभिन्न रूप में रखता है। इस प्रकार सम्पूर्ण कक्षा को एक ही प्रसंग को विभिन्न पहलुओ से समझने के अवसर प्राप्त हो जाते हैं जिससे प्रत्येक विद्यार्थी को लाभ होता है। कमजोर छात्र बराबर एक ही चीज के समझाये जाने पर उसे समझ जाता है और तेज छात्र जो पहिले ही पाठ को समझ गया है इस प्रकार के दोहराने से उस पाठ को कंठस्त कर लेता है।

(८) कक्षा मे बालक समूह के रूप मे रहते है। इस कारण उनमे सहानुभूति, सहिष्णुता, सहयोग, स्पर्धा, संघर्ष, क्षमता तथा नेतृत्व आदि के गुणों का विकास होता है। ये गुण भविष्य मे आने वाले उनके सामाजिक जीवन मे अत्यन्त लाभदायक सिद्ध होते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कक्षा शिक्षण मे अनेकों गुण हैं। अतः इन गुणों के होते हुए ऐसा विचार करना गलत होगा कि कक्षा शिक्षण की मौत की घन्टी बज चुकी है। इस समय इस बात पर मतभेद हो सकता है कि कक्षा में कितने विद्यार्थी हों या कक्षा मे पढ़ाई किस प्रकार की जाय परन्तु कक्षा शिक्षण का अन्त नहीं किया जा सकता। मैडम मॉन्तेसरी के समर्थक भी कक्षा-शिक्षण के महत्व को बहुत कम करने में असमर्थ है। उनके समर्थक चाहे शिक्षा देने की इकाई के रूप मे विद्यार्थियों का कक्षा में विभाजन न करें परन्तु संगठन के दृष्टिकोण से कक्षा सदैव महत्वपूर्ण इकाई के रूप में रहेगी।

वैयक्तिक शिक्षण कुछ काल पहिले तक वैयक्तिक शिक्षण पर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया जाता था। व्यक्तिगत विभिन्नता को ध्यान में रखकर शिक्षण देने की विधियों में कोई स्पष्टता नहीं थी। इसके दो कारण थे एक तो यह कि इस क्षेत्र में बहुत कम अनुसंधान हुए थे और दूसरे यह विचार किया जाता था कि व्यक्तिगत विभिन्नताओं को कक्षा-शिक्षण के दोषों को दूर करके विकसित किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त शिक्षण के

वैयक्तिक स्वरूप को एक जनतन्त्र रहित क्रिया के रूप मे देखा जाता था। परन्तु अब यह समझा जाने लगा है कि यदि इस सिद्धान्त को ध्यान मे रखकर व्यक्तिगत योग्यताओ की वृद्धि के लिये पूर्ण अवसर दिये जा सके तथा सब को समान विकास करने के अवसर प्रदान हों तो ये जनतन्त्रीय भावना के सच्चे प्रतीक होगे।

"शिक्षण के व्यक्तीकरण का अर्थ है कि विद्यार्थी को ऐसे सीखने के अनुभव प्रदान किये जा सके जिससे वह स्वयं अपने आप बिना समूह की सहायता के और बहुत कम अध्यापक की सहायता के समूह-विवाद, कक्षा-पाठन और प्रश्नोत्तर के स्थान पर व्यक्तिगत अध्ययन के आधार पर प्रगति कर सके।[1]

वैयक्तित्व शिक्षण पर नॅन महोदय भी बहुत बल देते है। उनके मतानुसार "व्यक्ति ही हर वस्तु का आधार है" और शिक्षा द्वारा उन दशाओ का आयोजन करना चाहिए जिनमे व्यक्तित्व का विकास पूर्ण रूप से हो सके।"[2]

कक्षा, पाठ्यक्रम तथा विद्यालय के लिए यह आवश्यक है कि वह प्रत्येक विद्यार्थी को सुविधाऐ प्रदान करें जिससे विभिन्न बालक अपनी विशिष्ट योग्यताओ का विकास कर सके और उनके व्यक्तित्व का सर्वाङ्गीण विकास हो सके। ऐसी सुविधाओ के आयोजन से वैयक्तिक विभिन्नता के आधार पर शिक्षा सम्भव होगी।

वैयक्तिक शिक्षण में प्रतिभावान बालको की तथा पिछड़े बालको की शिक्षा पर विशेष ध्यान दिया जाता है। परन्तु इससे तात्पर्य यह नहीं है कि एक साधारण विद्यार्थी की आवश्यकताओ पर ध्यान ही नहीं दिया जाता। वैयक्तिक शिक्षण का आधार ही यह है कि न केवल समस्यात्मक बालको पर ही ध्यान दिया जाय वरन् प्रत्येक विद्यार्थी की ओर विशेष ध्यान दिया जाय।

वैयक्तिक शिक्षण व्यवहारिक रूप में :—

वैयक्तिक शिक्षण को व्यवहारिक रूप मे कैसे रखा जाय इस सम्बन्ध में टोलीगत कार्य करने की विधि को कुछ शिक्षा शास्त्रियो ने श्रेष्ठ माना है।

1—"Individualising instructions mean providing learning experiences which make it possible for the pupil to proceed himself without help from the group and very little help from the teacher progresses by individual study instead of throgh group discussion, class, recitation and question answer method.'

2—T. P. Nunn : "Individual is the basis of everything." and that "Education must provide conditions in which individuality develops fully.

विद्यार्थियों को विभिन्न कार्यों को करने के लिए विभिन्न टोलियों बाँट दिया जाता है। इन टोलियों का विभाजन कार्य के अनुसार किया जाता है जैसे उन कार्यों को जो संवेगात्मक प्रेरणा पर आधारित होते हैं। और जिनमें समूह उत्तेजना सक्रिय होती हैं उनके लिए ऐसी टोलियाँ बनाई जाती हैं जिनमें विद्यार्थियो की संख्या अधिक होती है। और ऐसे कार्यों मे जिनमें शिक्षक द्वारा व्यक्तिगत निरीक्षण की आवश्यकता है छोटी टोलियाँ बनाई जाती हैं। विभिन्न टोलियों को विभिन्न प्रकार के कार्य दे दिये जाते हैं और शिक्षक इस बात की ओर से सचेत रहता है कि बालक कार्य में तीव्र रुचि ले। जो शिक्षण प्रणाली, टोलीगत कार्य को महत्त्व देती है, वे हैं डाल्टन-प्रणाली मौरिसन प्रणाली और विनेट की शिक्षण योजना इत्यादि। इन प्रणालियों में कार्य को इकाई के रूप में दिया जाता है और इनके आधार पर ही व्यक्तिगत प्रगति का मूल्यांकन किया जाता है। इन प्रणालियों एवं योजनाओं की सफलता योग्य एवं कुशल शिक्षको पर बहुत कुछ निर्भर रहती है। शिक्षक का कार्य केवल निर्देशन देना होता है परन्तु उसको इस कार्य को सम्पन्न करने के लिए प्रत्येक छात्र के सम्बन्ध में पूर्ण जानकारी रखना आवश्यक है एवं उन्हें समय समय पर छात्रो के कार्यों का अत्यन्त कुशलता पूर्वक निदर्शन करना होता है।

आधुनिक शिक्षण प्रणालियो में शिक्षक, मित्र, दार्शनिक एवं निर्देशक[1] के रूप मे होता है। उससे यह आशा की जाती है कि वह बालको की आवश्यकताओ एवं समस्याओ के सम्बन्ध में जानकारी रखता है और सहानुभूति पूर्वक उन्हें सुलझाने की चेष्टा करेगा। शिक्षक द्वारा बालकों को निर्देशन इस प्रकार दिया जाता है कि उनको नये अनुभव प्राप्त हो जाय। शिक्षक निर्देशन इस प्रकार नहीं देता कि बालकों की स्वतंत्रता नष्ट हो जाय। वह तो बालको को प्रेरणा प्रदान करता है और उनमें आत्म-विश्वास का विकास करता है। परन्तु वह इस बात का भी ध्यान रखता है कि बालक इतने स्वच्छन्द न हो जाय कि उनका विकास ही रुक जाय।

वैयक्तिक शिक्षण की योजना के मानदण्ड

वैयक्तिक शिक्षण की योजना बनाने में निम्न मानदण्डो को ध्यान में रखना चाहिए।

(१) स्पष्ट तथा निश्चित उद्देश्य निर्धारित किये जायँ।[2]

(२) क्रियाओं की रूप रेखा स्पष्ट रूप से बनाली जायँ।[3]

(३) आत्म शुद्धिकरण से अभ्यासों का आयोजन हो।[4]

1—Friend, Philospher and Guide, 2—Definite and clear objectives, 3—Activities must be carefully outlined, 4—Self corrective practice must be provided,

(४) विद्यार्थी द्वारा किये गये कार्य का उचित मूल्याँकन हो।[1]

(५) समय का उचित मूल्याङ्कन प्राप्त कर लिया जाय।[2]

कुछ वैयक्तिक शिक्षण पर आधारित प्रणालियाँ

(१) प्रोजेक्ट प्रणाली

इस पद्धति में बालकों को कार्य करने के लिए कुछ समस्याये दे दी जाती है और उनको इस बात की स्वतन्त्रता प्रदान कर दी जाती है कि वे समस्या को हल करने के लिए जो भी प्रदत्त सामग्री आवश्यक समझें उसे इकट्ठा करें और समस्या का हल ढूढ निकालें। इसमें जो समस्या बालकों के सम्मुख प्रस्तुत की जाती है वह यथा सम्भव जीवन की यथार्थता से सम्बन्धित होती है। समस्या का हल प्राप्त करने के लिए बालकों को विश्लेषण करने की, संश्लेषण करने की अपनी सफलता का मूल्याङ्कन इत्यादि करने की आदत का निर्माण हो जाता है।

(२) खेल-विधि

खेल-विधि भी वैयक्तिक शिक्षण की विधि है। खेल विधि में जो कार्य बालकों को दिया जाता है वह उनके द्वारा खेल ही खेल में सम्पन्न किया जाता है। यह कार्य प्रत्येक बालक की बुद्धि, योग्यता और रुचि के अनुसार ही किया जाता है।

(३) प्रश्नोत्तर

प्रश्नोत्तर विधि को हम वैयक्तिक शिक्षण की विधि के अन्तर्गत इस कारण मानते हैं कि इस विधि द्वारा वे बालक भी सक्रिय हो जाते हैं जो निष्क्रिय होते हैं और यह विद्यार्थियों को चिन्तन करने मे सहायता प्रदान करती है।

(४) डाल्टन प्रणाली

इस प्रणाली की मुख्य प्रवर्तक श्रीमती हेलन पार्कहर्स्ट है। यह तीन सिद्धान्तों पर आधारित है (१) बालकों की स्वतन्त्रता (२) शिक्षक एवं शिक्षार्थी का सहयोग तथा (३) समय का समुचित मूल्याङ्कन और उपयोग।

शिक्षक द्वारा "कार्य" २० दिन के लिए पहिले से निर्धारित कर दिया जाता है और फिर बालक को अपनी गति से कार्य करने की स्वतन्त्रता दे दी जाती है। हर एक बालक स्वयं अपने पढ़ने के समय का विभाजन अपनी रुचि और आवश्यकता के अनुसार करता है।

4—Proper assessment of the work done by the pupil should be done, 5—Budgeting of the time be achieved.

(५) मॉरीसन योजना

मॉरीसन-योजना तथा विनेट की योजना भी पाठ्य वस्तु को शिक्षण की इकाई के रूप में रख कर प्रत्येक बालक को व्यक्तिगत रूप से प्रगति करने के लक्ष्य को सामने रखती हैं। इन सब प्रणालियों एवं योजनाओं का वर्णन हम आगे के अध्यायों में करेंगे।

(६) समूह विवाद-विधि[२]

यह विधि मानसिक सक्रियता को बढ़ाती है और सृजनात्मक चिन्तन को विद्यार्थियों में प्रोत्साहित करती है। समूह विवाद में प्रत्येक सदस्य अपना विचार प्रस्तुत करता है और प्रत्येक बालक दूसरे से सीखता है। समूह विवाद की सफलता बहुत कुछ इस पर निर्भर रहती है कि इसके लिए सावधानी पूर्वक तैयारी की जाय और इसमें भाग लेने वाले सदस्य सक्रिय रहे।

इन विधियो के अतिरिक्त और भी कई विधियाँ हैं जैसे ह्यूरिस्टिक पद्धति वैज्ञानिक विधि इत्यादि जो वैयक्तिक शिक्षण पर ही आधारित है।

वैयक्तिक शिक्षण में गुण

व्यक्तिगत शिक्षण मे अनेको गुण हैं। हम यहाँ संक्षेप मे उनका वर्णन करेंगे।

(१) वैयक्तिक शिक्षण मे प्रत्येक विद्यार्थी के कार्य पर ध्यान दिया जाता है; जबकि कक्षा शिक्षण में सामूहिक कार्य पर अधिक बल दिया जाता है।

(२) इस प्रकार के शिक्षण में प्रत्येक बालक को अपनी गति से प्रगति करने के अवसर मिल जाते हैं।

(३) प्रतिभावान बालक एवं पिछड़े बालकों की ओर उचित प्रकार से ध्यान दिया जा सकता है।

(४) बालक अपनी प्रगति के सम्बन्ध में दुषित धारणाऐं नहीं रखने पाता।

(५) शिक्षक बालक की रुचियों एवं व्यावसायिक प्रवृत्तियों को समझने मे सफल होता है।

(६) यह शिक्षण समय के विभाजन को उचित ढङ्ग से करने में सहायता पहुँचाता है।

(७) शिक्षक को बालकों की कठिनाइयों इत्यादि का निदान करने की आवश्यकता प्रतीत होती है और वह निदान करने की क्षमता प्राप्त करने की चेष्टा करता है।

2—Group discussion method.

(८) यह बालक के सर्वांङ्गीण विकास को प्राप्त करने में सफल होता है।

(९) बालक की मनोवैज्ञानिक एवं सामाजिक आवश्यकताओं की ओर उचित प्रकार ये ध्यान दिया जाता है।

व्यक्तिगत तथा कक्षा-शिक्षण की तुलना

हमने देखा कि व्यक्तिगत तथा कक्षा शिक्षण दोनों में ही बहुत कुछ दोष तथा गुण हैं। वास्तविक रूप में जो कक्षा शिक्षण के गुण हैं वे व्यक्तिगत शिक्षण के दोष है और जो व्यक्तिगत शिक्षण के गुण हैं वे कक्षा-शिक्षण के दोष हैं। हमारा ध्येय यह होना चाहिए कि कक्षा-शिक्षण और व्यक्तिगत शिक्षण के अधिकतर गुण उस प्रणाली में हों जिसे हम अपनाये।

ऐसी भी अनेकों प्रणाली हैं जिनमें कक्षा शिक्षण तथा व्यक्तिगत शिक्षण के अधिकतर गुणों का समावेश करने की चेष्टा की गई है। हम यहाँ इनमें से कुछ का वर्णन करेंगे।

(१) मैकमैन की शिक्षण-विधि

मैकमैन की शिक्षण-विधि मे सम्पूर्ण कक्षा को दो दो बालकों की टोली में विभाजित कर दिया जाता है। इस प्रकार के विभाजन द्वारा प्रत्येक बालक को कक्षा समय में क्रियाशील रखा जाता है। इस विधि में सर्वप्रथम शिक्षक बालकों को कार्य करने की सम्पूर्ण विधि को अच्छी तरह समझा देता है फिर बालक दो दो की टोलियों में बंट जाते हैं और प्रत्येक टोली कार्य करने लगती है। दोनों बालक एक दूसरे के साथ मिलकर साझेदारी मे कार्य करने लगते हैं। प्रत्येक बालक आधे समय तक सीखता है और आधे मे वह अपने साझीदार के प्रश्नों के उत्तर देता है। कुछ देर बाद सब बालक फिर एकत्रित हो जाते हैं। अब शिक्षक उनकी त्रुटियों का सुधार कर देता है। मैकमैन ने कुछ पुस्तकों की रचना भी की है। इन्हें डिफरेंशियल पार्टनरशिप बुक्स[1] कहते हैं। मैकमैन महोदय का विचार है कि केवल इन पुस्तकों की सहायता से बालक उन विषयों में बहुत कुछ सीख लेता है जिनमें पग पग पर शिक्षक की आवश्यकता नहीं है।

निरीक्षित स्वाध्याय[2]

यह प्रणाली हालक्वेस्ट[3] महोदय द्वारा प्रतिपादित की गयी है इस प्रणाली में प्रत्येक समय-चक्र को तीन भागो में विभाजित किया जाता है। पहिले भाग में कुल समय का $\frac{1}{5}$ भाग और दूसरे तथा तीसरे भाग मे कुल समय का $\frac{2}{5}$ भाग

1—Diffential partnership books, 2—Concenrosed study, 3—Hall Quest

रखा जाता है। पहिले भाग में जिसे प्रस्तावना-काल कहते हैं पिछले ज्ञान को दोहराया जाता है और नये ज्ञान को लेने के लिये बालक को तैयार किया जाता है। दूसरे भाग में समस्या प्रस्तुत की जाती है और विद्यार्थियों के अन्दर उसे हल करने की प्रेरणा जागृत की जाती है। शिक्षक समस्या को हल करने की विधियों से बालक को अवगत कराता है परन्तु समस्या का हल नहीं बताता। तीसरे भाग में विद्यार्थी व्यक्तिगत रूप से शान्त बैठकर पढ़ता है और समस्या को हल करने की चेष्टा करता है। इस प्रणाली में कक्षा-शिक्षण और वैयक्तिक शिक्षण दोनों का समन्वय सुन्दर रूप से प्राप्त किया जाता है। जब बालक व्यक्तिगत रूप से कार्य करता है तो शिक्षक के लिए यह संभव हो जाता है कि वह व्यक्तिगत रूप से छात्रों की कठिनाइयों को दूर करे। जब बालकों की जिज्ञासा जागृत की जाती है उस समय शिक्षक बालक की विलक्षण ताओं पर विशेष ध्यान देता है। वह प्रखर, साधारण और मन्द छात्रों की विभिन्न योग्यता पर ध्यान देते हुए उन्हें कार्य प्रदान करता है।

इसी प्रकार की अन्य पद्धतियाँ जैसे गैरी पद्धति, मैसन पद्धति इत्यादि हैं जिनका वर्णन हम आगे के अध्यायों में करेंगे। इन पद्धतियों में दोष भी अनेकों है परन्तु अपने विद्यालयों के लिए हमें वही पद्धति अपनानी होगी जिसमें कक्षा शिक्षण और वैयक्तिक शिक्षण के मुख्य गुणों पर ध्यान दिया जाय।

सारांश

वर्तमान समय में वैज्ञानिक अनुसंधानों के आधार पर यह सिद्ध होगया है कि मनुष्य एक दूसरे से रूचियों, योग्यताओं, क्षमताओं इत्यादि से भिन्न होते हैं। इस कारण वैयक्तिक शिक्षण पर अब विशेष बल दिया जाने लगा है।

कक्षा-शिक्षण में दोष ये हैं—(१) यह बालकेन्द्रित नहीं है (२) कक्षा में सब विद्यार्थियों का मानसिक विकास समान नहीं होता (३) विद्यार्थियों की संख्या बहुत अधिक होती है (४) समान विधि सब छात्रों के साथ अपनाई जाती है (५) विषय, समय-चक्र के अनुसार ही पढ़ना पडता है (६) अनुपस्थित के कारण छात्र पिछड़ जाता है (७) केवल औसत बालक की आवश्यकताओं को ध्यान में रखा जाता है।

कक्षा शिक्षण में गुण -(१) आर्थिक आवश्यकता (२) प्रेरणादायक विषय कक्षा में अच्छे प्रकार से पढ़ाये जा सकते हैं (३) "संख्या की सहानुभूति की प्रवृत्ति का सक्रिय होना (४) सामूहिक कार्य करने की प्रेरणा मिलती है

(५) प्रतियोगिता की भावना का विकास होता है (६) शिक्षक सक्रिय रहता है (७) एक ही प्रसंग के विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डालना (८) बालकों में सामूहिक गुणों का विकास होता है।

कक्षा-शिक्षण के दोषों के कारण अब "वैयक्तिक शिक्षण" पर विशेष बल दिया जाता है। वैयक्तिक शिक्षण को व्यवहारिक रूप में लाने के लिए छात्रों को विभिन्न टोलियों में बाँट दिया जाता है और उन्हें टोलीगत कार्य करने को दिये जाते हैं।

वैयक्तिक शिक्षण की योजना की विशेषता वे हैं (१) निश्चित उद्देश्य (२) स्पष्ट क्रियाओं की रूप रेखा (३) आत्मशुद्धिकरण के अभ्यास (४) कार्य का मूल्यांकन, तथा (५) समय विभाजन।

वैयक्तिक शिक्षण पर आधारित कुछ मुख्य प्रणालियाँ ये हैं (१) प्रोजेक्ट प्रणाली (२) खेल विधि (३) प्रश्नोत्तर (४) डाल्टन प्रणाली (५) मॉरीसन योजना (६) विनेट का प्रणाली (७) समूह विवाद विधि इत्यादि।

वैयक्तिक शिक्षण के गुण—(१) प्रत्येक विद्यार्थी के कार्य पर ध्यान (२) अपनी गति से प्रगति करने का अवसर (३) प्रतिभावान या पिछड़े बालकों पर ध्यान (४) प्रगति के सम्बन्ध मे ठीक धारणाऐं रखना बालक की रुचियो को समझना (६) शिक्षण के समय का उचित विभाजन बालकों की कठिनाइयों का निदान (८) बालकों का सर्वाङ्गीण विकास; तथा (९) बालक की समाजिक एवं मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओं पर ध्यान वैयक्तिक तथा कक्षा शिक्षण दोनों में बहुत से गुण एवं दोष हैं। इससे वही विधि अच्छी समझी जाती है जिसमें इन दोनों पक्षों के बीच में समन्वय प्राप्त कर लिया गया हो। ऐसी विधियों में उल्लेखनीय विधियाँ है मैकमैन विधि, निरीक्षण स्वाध्याय, गैरी पद्धति, मैसन विधि इत्यादि।

अध्ययन के लिए महत्वपूर्ण प्रश्न

१. व्यक्तिगत विभिन्नता के आधार पर शिक्षण विधियाँ और संगठन किस प्रकार के होने चाहिए? हमारे देश के विद्यालयों का उदाहरण लेकर अपने विचारों की व्याख्या कीजिए।

२. कक्षा-शिक्षण के गुण एवं दोषों पर प्रकाश डालिए। कक्षा-शिक्षण के दोषों को कैसे दूर किया जा सकता है।

३. "वैयक्तिक शिक्षण और कक्षा-शिक्षण विधि दोनों ही का स्थान हमारे विद्यालयों मे है" इस कथन की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिये।

४. वैयक्तिक शिक्षण एवं कक्षा-शिक्षण में समन्वय प्राप्त करने वाली कुछ

विधियों का वर्णन कीजिये । इन विधियों के गुणों एवं दोषों पर प्रकाश डालिए ।

सहायक पुस्तकों की सूच

(१) बौसिङ्ग, एन० एल० : प्रोग्रेसिव मेथ्डस ऑव टीचिंग इन सैकेन्डरी स्कूल्स ।
(२) मेसन : एन ऐसे टुवर्डस ए फिलासफी आव एडूकेशन ।
(३) वाशबर्न, सी० डब्लू : ऐडजस्टिंग द स्कूल टु द चाइल्ड ।
(४) हूग्स : लर्निंग एण्ड टीचिंग ।
(५) रिस्क : प्रिंसिपल्स ऐण्ड प्रैक्टिसेज ऑव टीचिंग ।
(६) चौबे, सरयूप्रसाद । शिक्षा सिद्धान्त, आगरा लक्ष्मीनारायण अग्रवाल ।
(७) सिंह एवं शास्त्री : अध्यापन सिद्धान्त एव विशिष्ट पद्धतियाँ, आगरा, गया प्रसाद ।

अध्याय १४

किण्डरगार्टेन पद्धति[1]

किण्डरगार्टेन पद्धति के संस्थापक फ्रेडरिक फ्रोबेल महोदय थे। इनका जन्म १७८२ ई० में जर्मन के ओबरवेसबाक नामक एक गाँव में हुआ था। बचपन मे ही उनकी माता का देहान्त हो गया। उनके पिता अपने काम मे इतने व्यस्त रहते थे कि वे उनकी ओर कोई ध्यान नहीं देते थे। उनकी विमाता भी उनकी ओर से विमुख थी। इस प्रकार उनकी घर पर अवहेलना की जाती थी। इस अवहेलना के कारण ही वे छोटी आयु से ही जंगलो मे घूमने फिरने लगे और उन्हें प्रकृति से प्रेम हो गया। इससे उनमें निरीक्षण करने की आदत का विकास हो गया। इन सब बातों ने उनके आगामी जीवन के शिक्षा दर्शन पर बहुत अधिक प्रभाव डाला।

फ्रोबेल महोदय जब ११ साल के थे तो उनके चाचा ने उन्हें गोद ले लिया। उन्हें एक स्कूल में दाखिल करा दिया गया। परन्तु वहाँ वे बहुत ही पिछड़े हुए छात्रों की श्रेणी में रहे। जब वे पन्द्रह वर्ष के हुए तो उन्हें एक वन-रक्षक [3] के यहाँ काम सीखने के लिए भेज दिया गया। यहाँ पर वे दो वर्ष तक अपना समय जंगलों में घूम फिर कर वृक्षों की देखभाल करने में व्यतीत करते रहे। इस प्रकार कार्य करने से उनमें प्रकृति-प्रेम का अधिक विकास हो गया। इसके पश्चात् उन्होंने जेना युनिवर्सिटी में प्रकृति विज्ञान का अध्ययन लगभग दो वर्ष तक किया। यहाँ के आदर्शवादी दर्शन तथा प्रगतिवादी विज्ञान से परिपूर्ण वातावरण ने उन पर बहुत प्रभाव डाला। परन्तु उन्हें शीघ्र ही

1—Kindergarten, 2—Oberweissbach. 3—Forester,

ही आर्थिक कठिनाइयों के कारण यह विश्वविद्यालय छोड़ना पड़ा। फिर वे शिल्पविद्या को सीखने फ्रेंकफोर्ट-आनमेन[1] गये। परन्तु वहाँ शिल्प विद्या न सीख कर एक अध्यापक हो गये। एक अध्यापक के रूप में वह बहुत सफल रहे। १८०८ ई० वे पेस्टालॉजी के स्कूल युवर्टन[2] में शिक्षक का कार्य करने लगे। यहाँ उन्होंने दो वर्ष तक कार्य किया। परन्तु उन्हें प्राकृतिक विज्ञान का और अधिक ज्ञान प्राप्त करने की लग्न थी अतएव उन्होंने गॉटिनगेन विश्व-विद्यालय में फिर से अध्ययन आरम्भ कर दिया। परन्तु अपने अध्ययन को समाप्ति करने से पहिले वे सेना में भर्ती हो गये। इस सैनिक जीवन ने उनके अन्दर अनुशासन एवं व्यवस्था के प्रति अनुराग को जन्म दिया। जैसे ही युद्ध समाप्त हुआ वे पुरातत्त्व-संग्रहालय के अधिकारी पद पर कार्य करने लगे।

फ्रोवेल महोदय ने १८१६ में एक स्कूल कील हाऊ[3] में खोला। यह विद्यालय उनके शैक्षणिक दृष्टिकोण को व्यवहारिक रूप में रखने के लिए था। आरम्भ में इसमें केवल पाँच बालक थे जो उनके सम्बन्धी थे। इस विद्यालय में उन्होंने खेल द्वारा शिक्षा का आयोजन किया परन्तु आर्थिक कठिनाइयों के कारण इसे बन्द कर देना पड़ा। १८२६ ई० में उन्होंने अपनी पुस्तक "दि एजूकेशन आफ मैन"[4] का प्रकाशन किया। कई स्थानों पर अध्यापन कार्य करने के पश्चात् फ्रोबेल महोदय ने १८३७ ई० में ब्लैंकेन वर्ग[5] में स्कूल खोला। इस विद्यालय का नाम उन्होंने किन्डर-गार्टेन रखा। किन्डर-गार्टेन का अर्थ होता है 'बालकों का बाग'। यह शब्द जर्मन भाषा का है। इस विद्यालय में उन्होंने शिक्षकों को शिक्षण-कला सिखाना भी आरम्भ किया। फ्रोबेल महोदय द्वारा लिखित पुस्तकें तथा उनके अध्यापन की सफलता ने उस समय के शैक्षणिक दृष्टिकोण पर बहुत प्रभाव डाला और कई स्थानों पर किन्डर गार्टेन विद्यालयों की स्थापना की गई। परन्तु उनके विचारों से जर्मनी सरकार[6] सहमत न हो सकी, उसने उन्हें क्रान्तिकारी समझा और सब किन्डर-गार्टेन विद्यालयों को बन्द करवा दिया। इसी दुख में बहुत शीघ्र ही उनका देहान्त हो गया।

फ्रोबेल की दार्शनिक विचारधारा

फ्रोबेल द्वारा प्रतिपादित किण्डर गार्टेन पद्धति का समझना उस समय तक अत्यन्त कठिन है जब तक कि उनके दर्शन के सम्बन्ध में स्पष्ट ज्ञान न प्राप्त किया जा सके। फ्रोबेल का दर्शन आदर्शवादी है। वे आध्यात्मवाद में आस्था

1—Frank fort on-man 2—Yverdon, 3—Keilhau 4—The Education of man 5—Blankenburg. 6—Government of Prussia,

रखते थे। फ्रोबेल के निम्न लिखित दार्शनिक सिद्धान्तों पर उसके द्वारा प्रतिपादित किण्डरगार्टेन पद्धति आधारित है।

(१) फ्रोबेल महोदय भिन्नता में एकता[1] के सिद्धान्त पर विश्वास रखते थे। उनका कहना था कि विश्व की समस्त वस्तुओं में हमें जो भिन्नता दिखाई देती है वास्तव में उन सब में एक एकता है। यही एकता सर्व लौकिक शक्ति या ईश्वर है। यह ईश्वर ही समस्त जीव तथा प्रकृति वस्तुओं का जन्मदाता तथा रक्षक है। ईश्वर में ही भिन्नता का रूप एकता हो जाता है। अतएव वे अपनी शिक्षा द्वारा चाहते थे कि प्रत्येक मानव इस विभिन्नता में एकता के सिद्धान्त को समझ ले और वह विभिन्न वस्तुओं की एकता को पहचान कर ईश्वर को पहिचानने में समर्थ हो।

(२) फ्रोबेल का दूसरा महत्वपूर्ण दार्शनिक सिद्धान्त है 'विकास का सिद्धान्त।'[2] इस सिद्धान्त के अनुसार विकास कोई बाहर से थोपी जाने वाली वस्तु नहीं है। प्रत्येक वस्तु का विकास स्वयं उसमें निहित होता है। जो कुछ भी विकास किसी वस्तु का होता है वह उस वस्तु के आन्तरिक नियम के ही अनुसार होता है। उनकी यह विचारधारा लीबनीज के सिद्धान्त से मिलती झुलती थी। लीबनीज महोदय की ही तरह फ्रोबेल इस सिद्धान्त में आस्था रखते थे कि "बीज में वृक्ष का अथवा बालक में प्रौढ़ मनुष्य का सारा रूप सूक्ष्म रूप में निहित रहता है" फ्रोबेल महोदय ने इस सिद्धान्त को शिक्षा में प्रयोग किया उनके अनुसार बालक का विकास स्वत: होता है। अतएव उसके विकास पर बाह्य रूप से किसी प्रकार का आरोप नहीं होना चाहिए। शिक्षक और अभिभावक विकास की क्रिया में सहायता पहुँचा सकते हैं परन्तु जहाँ विकास आन्तरिक रूप से संभव नहीं है वहाँ वे कुछ नहीं कर सकते। इससे तात्पर्य यह है कि जो कुछ भी आन्तरिक शक्तियाँ विकास के सम्बन्ध में बालक में निहित है उन्हीं के आधार पर बालक का विकास हो सकता है। उस पर कुछ ऊपर से जबरदस्ती नहीं थोपी जा सकती। परन्तु विकास कैसे भी हो उसके लिए अभ्यास आवश्यक है। बालक की निहित मानसिक शक्तियों का यदि विकास करना है तो वह भी अभ्यास के बिना संभव नहीं और यह अभ्यास शिक्षा द्वारा ही प्रदान किया जा सकता है।

(३) **स्वयं-क्रिया का सिद्धान्त** —फ्रोबेल ने स्वयं क्रिया के सिद्धान्त को प्रतिपादित किया। इस सिद्धान्त से तात्पर्य यह है कि बालक सक्रिय होकर स्वयं कार्य करता है। बालक के सीखने में स्वयं क्रिया ही सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। इसी के द्वारा उसकी बुद्धि का विकास होता है। बालक को यदि अपनी प्रवृ-

1—Unity in diversity, 2—Theory of development.

त्तियों एवं प्रेरणाओं, जिनको लेकर वह जन्मता है उनके अनुसार उसे स्वतः अपना विकास करने के लिये छोड़ दिया जाये तो वह अपना व्यक्तित्व का विकास करने में बहुत कुछ सफल होगा।

(४) सामाजिक संस्थाओं द्वारा व्यक्तित्व के विकास का सिद्धान्त—फ्रोबेल महोदय बालक के विकास में सामाजिक पक्ष को महत्व देते हैं। बालक समाज में उत्पन्न होता है और समाज में ही उसे अपना जीवन व्यतीत करना होता है। अतएव जीवन भर समाज उसके ऊपर प्रभाव डालता है। बालक विभिन्न सामाजिक संस्थाओं की सदस्यता के द्वारा तथा समाज में उसके सम्पर्क में आने वाले विभिन्न व्यक्तियों के व्यक्तित्व के प्रभाव द्वारा बहुत कुछ सीख लेता है। इस प्रकार उसकी शिक्षा बहुत कुछ समाज के प्रभाव पर ही आधारित है। अतएव यह आवश्यक है कि शिक्षा के सामाजिक पहलू पर बल दिया जाय। फ्रोबेल ने अपनी शिक्षा-पद्धति में इस दृष्टिकोण को इस प्रकार अपनाया है कि प्रत्येक बालक अन्य बालकों के साथ खेल कूद कर शिक्षा ग्रहण करता है।

फ्रोबेल के अनुसार शिक्षा के उद्देश्य

फ्रोबेल ने अपनी आध्यात्मिक दार्शनिक विचारधारा पर ही अपने शिक्षा के उद्देश्य प्रतिपादित किए है। उनके अनुसार शिक्षा के उद्देश्य निम्नलिखित हैं

(१) बालक में निहित अध्यात्मिक शक्ति का बोध कराना—शिक्षा का उद्देश्य बालक को उस सर्वशक्तिमान शक्ति के सम्बन्ध में ज्ञान कराना समझा गया जो एकता का मूल आधार है या जिसमें विभिन्नता सिमट कर एकता का रूप धारण कर लेती है। बालक को शिक्षा द्वारा यह बोध हो जाय कि वह स्वयं परम शक्ति का अंश मात्र है तथा उसमे, प्रकृति में और ईश्वर का एकत्व है।

(२) अन्तकरण में विद्यमान एवं निरन्तर काम करने वाले ईश्वरीय नियमों के अनुसार बालक का सर्वतोमुखी विकास प्राप्त करना। बालक का सर्वतोमुखी विकास स्वतः क्रिया पर आधारित है। यह विकास ईश्वरीय नियमों द्वारा संचालित होता है और इसके बीज बालक के अन्तर विद्यमान होते हैं अतएव शिक्षा का यह उद्देश्य होना चाहिए कि विकास के आन्तरिक नियमों के आधार पर ही बालक के व्यक्तित्व का सर्वाङ्गीण विकास संभव बने।

फ्रोबेल की शिक्षण-पद्धति

शिक्षा क्यों ?

फ्रोबेल के दार्शनिक सिद्धान्त के आधार पर यह प्रश्न पूछा जा सकता है

कि यदि विकास ईश्वरीय नियम पर निर्भर है और इसमें हस्तक्षेप करना ठीक नहीं तो शिक्षा प्रदान करने की क्या आवश्यकता है। परन्तु फ्रोबेल के अनुसार बालक को जन्म लेने के साथ ही कृत्रिम वातावरण प्रदान हो जाता है। उसके माता-पिता और समाज के दूसरे प्राणी उसके विकास में जानकर या अनजाने रूप से हस्तक्षेप करते हैं। अतएव विकास की स्वाभाविक दशाओं का अन्त हो जाता है। जो दशाऐं उसे जन्म के साथ ही प्राप्त होती हैं वे कृत्रिम होती है जिनमे बालक को सहायता प्रदान किये बिना उसका स्वतः विकास संभव नहीं होता। यह सहायता केवल शिक्षा द्वारा ही दी जा सकती है। यही कारण है कि बालक के लिए शिक्षा आवश्यक है।

शिक्षा कैसे दी जाय ?

शिक्षा द्वारा बालक को यदि स्वतः विकास करने में सहायता प्रदान करनी है तो यह प्रश्न उठता है कि बालक को किस प्रकार की शिक्षा दी जाय जिससे कि यह कार्य उचित ढङ्ग से सम्पन्न हो जाये। शिक्षा देने के लिए फ्रोबेल किण्डरगार्टेन पद्धति का उल्लेख करते है। इस नामकरण के देने मे वह विद्यालय की उपमा बालकों के बाग" से करते हैं। वे शिक्षक को माली की उपमा देते है और बालकों को पौधों की। माली का कार्य बाग मे पौधो के विकास के लिए उपयुक्त दशाऐं प्रस्तुत करना होता है। वह पौधे के लिए पानी आवश्यक खाद एवं मिट्टी का प्रबन्ध कर देता है। इसके अतिरिक्त वह यह भी देखता रहता है कि पौधे का विकास किस ओर हो रहा है उसका निरीक्षण चलता रहता है जहाँ कही भी वह देखता है कि विकास ठीक दिशा मे नही हो रहा है या किन्हीं कारणो से रुक गया है तो वह अपनी सहायता पौधे को प्रदान करता है और जो दूषित प्रभाव उस पर पड़ रहे हैं उन्हें दूर करता है तथा पौधे के विकास को स्वयं उपयुक्त दिशा में होने के लिए छोड़ देता है। यहाँ पर यह ध्यान देने की बात है कि विकास स्वयं पौधा ही करता है। माली तो केवल साधनों का आयोजन मात्र करता है। वह विकास के लिए अपनी ओर से किसी भी प्रकार का दबाव पौधे पर नहीं डालता और न वह पौधे के विकास के समय व्यर्थ हस्तक्षेप करता है। उचित दशाऐं प्रदान करके वह पौधे के विकास का निरीक्षण भर करता रहता है। फ्रोबेल महोदय के अनुसार बालक को शिक्षा भी इसी प्रकार से दी जानी चाहिए। शिक्षक को माली की तरह बालक को स्वतः विकास करने में सहायता प्रदान करनी चाहिए। उपयुक्त वातावरण प्रदान करके बालक को स्वतः क्रिया द्वारा सीखने को छोड़ देना चाहिए। शिक्षक का कर्त्तव्य बालक की स्वाभाविक क्रिया में योग प्रदान करना है।

शिक्षा देने में जो स्वाभाविक-क्रिया बालक के विकास में महत्वपूर्ण है वह हैं खेल। फ्रोबेल के अनुसार शिक्षा इस प्रकार दी जानी चाहिए कि बालक अपनी इस स्वाभाविक क्रिया का उपयोग करके नई-नई बातें सीख सके। शिक्षक बालकों के लिए विभिन्न प्रकार के खेलों का आयोजन कर सकते हैं। यह खेल यदि ठीक प्रकार से आयोजित हुए और शिक्षाप्रद हुए तो बालक खेल ही खेल में बहुत कुछ सीख लेता है। फ्रोबेल बालक के बचपन को उसके विकास मे बहुत महत्वपूर्ण मानता है। बचपन में बालक की प्रवृत्ति खेल की होती है। इस आयु पर वह जो कुछ विकास कर लेता है वह उसके सम्पूर्ण जीवन पर महत्वपूर्ण प्रभाव डालता है। शिक्षा किस प्रकार दी जाय इसका उत्तर हम अधिक सम्यक रूप ने किण्डरगार्टेन प्रणाली का विस्तृत वर्णन करने से दे सकते हैं।

किण्डरगार्टेन प्रणाली

फ्रोबेल की किण्डरगार्टेन प्रणाली उनके दार्शनिक सिद्धान्तों पर आधारित हैं। इनका वर्णन हम ऊपर कर चुके है। इस प्रकार किण्डरगार्टेन एकता के सिद्धान्त, विकास के सिद्धान्त, स्वत: क्रिया के सिद्धान्त, खेल द्वारा शिक्षा के सिद्धान्त, एवं सामाजिक कार्य के सिद्धान्तों पर आधारित है।

किण्डर गार्टेन में खेल का महत्व—किण्डरगार्टेन की पद्धति में खेल को बहुत महत्व पूर्ण स्थान दिया गया है। फ्रोबेल का विश्वास था कि खेल द्वारा बालक को आत्म प्रकाशन के अवसर मिल जाते हैं और इस प्रकार उसका विकास सम्भव होता है। बालक शैशवकाल से ही खेल में रुचि रखता है। वह खेल द्वारा सिखाई हुई बात को शीघ्र सीख लेता है क्योंकि खेल में उसे रुचि होती है और यह उसकी स्वाभाविक क्रिया के आधार पर ही सीखना होता है। अतएव फ्रोबेल अपनी शिक्षण पद्धति की बुनियाद ही खेल द्वारा शिक्षण पर रखते हैं।

किण्डरगार्टेन प्रणाली में बालकों के लिए उचित खेलों का आयोजन किया जाता है जिससे बालकों को आत्माभिव्यक्ति के अवसर प्राप्त हो सके। किण्डरगार्टेन प्रणाली ज्ञान देने पर बल नहीं देती वरन आत्माभिव्यक्ति को शिक्षण देने में मुख्य स्थान देती है। इस पद्धति के अनुसार ज्ञान आकस्मिक रूप से ही प्राप्त किया जाता है। ज्ञान के शिक्षण को कोई आवश्यकता नहीं समझी जाती।

बालकों की खेल की प्रवृत्ति को ठीक मार्ग पर लगाने के लिए शिक्षक को चाहिए कि वह—

(१) बालकों को खेलने की प्रेरणा देकर उन्हें अपनी प्रवृत्तियों के समझने में सहायता दे।

(२) बालकों को खेलों में उन बातों को प्रोत्साहित करे जो अच्छी, लाभदायक एवं उचित हैं।

(३) खेलों में बालकों को अनुचित और हानिकारक बातो से बचाये।

किण्डरगार्टेन का वातावरण

किण्डरगार्टेन का वातावरण इस प्रकार से निर्मित होता है कि उसमें बालक को स्वतन्त्रता पूर्वक स्वतः क्रिया द्वारा विकास करने के अवसर प्रदान किये जा सके। सारा वातावरण आनन्दमय होता है और बालक खेल द्वारा सीखने को उत्सुक रहते हैं। यहाँ बालकों को न डाँटा न फटकारा जाता है। उन्हें न कोई निश्चित किताबें पढ़ने को कहा जाता है न कोई निश्चित कार्य करने को। उन्हें स्वतन्त्रता होती है कि खेलें और विभिन्न क्रियाओं मे अपनी रुचि के अनुसार भाग लें।

बालकों को आत्म-प्रकाशन की शिक्षा तीन प्रकार से दी जाती है।

(१) गीतों द्वारा

(२) अभिनय या गति द्वारा

तथा (३) रचनात्मक कार्यों द्वारा

ये तीनों कार्य साथ ही होते हैं। जैसे बालक जब कोई कहानी सुनते हैं तो उन्हें अभिनय द्वारा भी व्यक्त किया जाता है और ड्राइङ्ग, मिट्टी, कागज इत्यादि पर बनाकर भी वही कहानी प्रस्तुत की जाती है। ये तीनों प्रकार जब एक क्रिया में साथ-साथ प्रयुक्त होते हैं तो बालक की कल्पना शक्ति को प्रोत्साहन मिलता है। उनकी ज्ञानेन्द्रियों का शिक्षण भी इसी प्रकार हो जाता है। अध्यापक का कार्य यह भी है कि वह बालकों के लिए अच्छे गीतों, खेलों और चित्रों का चुनाव करे।

शिशु-गीत—किण्डरगार्टेन प्रणाली में ऐसे गीतों का संकलन किया जाता है जो बालकों की ज्ञानोन्द्रियों तथा माँस पेशियों को गति देते हैं और बालकों के सम्पर्क मे आने वाली अनेक वस्तुओं से उन्हें परिचित कराते हैं। मातृ खेल एवं शिशु गीत इस प्रकार से बनाये जाते हैं कि उनकी भाषा सरल हो और वे खेल ही खेल में बालकों के ज्ञान की वृद्धि करने में सहायता दें तथा बालकों को माँस पेशियों का अभ्यास करायें। ऐसे पचास गीतों का संकलन जो किण्डरगार्टेन में किया गया उसमें से प्रत्येक किसी खेल से सम्बन्धित है और उस गीत का प्रयोजन बालक की किसी न किसी शारीरिक, मानसिक अथवा नैतिक आवश्यकता की पूर्ती करना है। किस क्रम में ये गीत

रखे जायें और कौन से किस अवस्था में चुने जायें इसका निर्णय शिक्षक बालक के विकास के अनुसार करता है।

प्रत्येक शिशु-गीत के तीन भाग होते हैं—

(१) माता या शिक्षक का पथ-प्रदर्शन करने का आदर्श।

(२) पद के साथ संगीत।

तथा (३) चित्र जो गीत पर प्रकाश डाले।

फ्रोबेल के उपहार[1]

किण्डरगार्टेन में न केवल मातृ खेल या शिशु गीत को प्रयोग में लाया जाता है वरन फ्रोबेल ज्ञानेन्द्रियों के शिक्षण के लिए तथा बालकों की आत्माभिव्यक्ति का प्रकाशन के लिए कुछ उपहार एवं क्रियाओं का भी आयोजन करता है।

उपहार फ्रोबेल की शिक्षण विधि का आधार हैं। उपहार ऐसी कुछ वस्तुएं होते है जो खेलने की वस्तुओ जैसी मालूम पड़ती हैं परन्तु यह इस प्रकार से निर्माण की जाती हैं कि इनके द्वारा बालको को शिक्षण मिलता रहता है।

फ्रोबेल ने इन उपहारों को इस प्रकार निर्मित किया कि इन में पदार्थों का क्रमानुसार समावेश होत है। ये उपहार आँख तथा स्पर्शेन्द्रिय को प्रशिक्षित करने के लिए है। ये संख्या में २० है परन्तु अब प्रथम सात ही उपहार के नाम से पुकारे जाते हैं।

(१) **प्रथम उपहार**—इस उपहार में छः रंगीन ऊनी गेदे होती हैं। इनमें से तीन के प्रधान रंग लाल, नीला तथा पीला होता है और तीन के गौण रंग नारंगी, हरा और ऊदा होते है। इन्हे बालकों को ढुलकाने के लिये दिया जाता है। ऐसा करने से बालकों को पदार्थ, रूप, रंग, गति, दिशा तथा मांस पेशियों का उपयोग करने की कला का ज्ञान हो जाता है।

(२) **द्वितीय उपहार** :—इस उपहार में लकडी के बने हुए घनचक्र और बेलन होते है। इनसे खेलने से बालक घन के स्थायित्व तथा चक्र इत्यादि के अस्थायित्व[2] का अन्तर समझ लेते है। इसी प्रकार से बेलन के स्थायी तथा चालक दोनों विशेषताओं को वे समझ लेते हैं।

(३) **तृतीय उपहार**—एक बड़ा घन होता है, तथा आठ छोटे छोटे घनों में विभाजित होता है। इन भागों को विभिन्न प्रकार से संयोजित करके बालक कई लाभदायक कला की वस्तुएं जैसे जीना, दरवाजा, पुल इत्यादि बना सकता है। यह उपहार बालक को प्रारम्भिक योग तथा घटाने का ज्ञान देने में सफल होता है।

1—Gifts. 2—Mobilily.

(४) **चतुर्थ उपहार**—एक बड़ा घन आठ आयत आकारों में विभाजित होता है। प्रत्येक में लम्बाई चौड़ाई से दुगनी और चौड़ाई मोटाई से दुगुनी होती है। तृतीय उपहार तथा इसे मिलाकर बालक कई प्रकार की वस्तुएँ बना सकता है।

(५) **पंचम उपहार**—इसमें भी एक बहुत बड़ा घन होता है जो बीस छोटे घनों में विभाजित रहता है। इन छोटे घनो में से तीन ऐसे होते हैं जो बराबार-बराबर चार टुकड़ों में टूट जाते हैं और तीन घन ऐसे होते हैं जो बीचों बीच से आधे हो जाते है। तीसरा, चौथा और पाँचवाँ उपहार मिलाने से बालक कई प्रकार के सुन्दर नमूने और आकार बना सकता है। इन उपहारों द्वारा आकार और संख्यायों की जानकारी बालको को सुगमता से हो जाती है।

(६) **षष्ठम् उपहार** यह चतुर्थ उपहार से मिलता झुलता होता है। इसमें एक बड़ा घन अठारह पूर्णों में और नौ छोटे-छोटे आयत कुन्दों में विभाजित होता है। यह उपहार पंचम उपहार की भाँति बालक को तरह तरह के आकार और रचना बनाने में सहायता देता है। यह संख्या एवं आकार के सिखाने में भी बहुत उपयोगी होता है।

(७) **सप्तम उपहार**—दो रंगों की बनी हुई चौकोर तथा तिकोनी काठ की तख्तियाँ होती हैं। इस उपहार के द्वारा रेखागणित के आकारों और मीनाकारी के काम का अभ्यास हो जाता है।

इन सात उपहारों के अतिरिक्त शेष उपहार भी बहुत उपयोगी हैं। इनकी उपयोगिता काढ़ने, टोकरी बुनने, ड्राइंग करने, मॉडल बनाने इत्यादि में बहुत है।

व्यापार[1]

फ्रोबेल की तीसरी शिक्षण वस्तु व्यापार कही जा सकती है। व्यापार या कार्य की व्यवस्था खेलों के अतिरिक्त की जा सकती है। बालकों को कार्य करने को उस समय दिये जाते हैं जब उन्हें सब उपहार मिल चुके होते हैं। जो कार्य बालकों को करने को दिये जाते हैं वे इस प्रकार के होते हैं—गोले बनाना कागज काटना, कागज मोढ़ना इत्यादि। वह लकड़ियों के टुकड़े इत्यादि की सहायता से कई प्रकार के आकार बनाते हैं और गोले बनाकर बहुत कुछ, वक्र इत्यादि के गुणों के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त करते हैं। इसी प्रकार कागज मोड़ने या काटने से ज्योमित का उन्हें ज्ञान प्राप्त होता है तथा कला की अभिव्यक्ति का विकास होता है।

1—Occupations,

जितने भी व्यापार या कार्य बालकों को दिये जाते हैं उन सब मे स्पष्ट शैक्षिक मूल्य होता है फ्रोबेल कार्य की उपयोगिता के सम्बन्ध में कहता है कि उनका उद्देश्य "बालको को उनकी सम्पूर्ण प्रकृति के अनुसार व्यवसाय प्रदान करना, उनकी शारीरिक शक्ति में वृद्धि करना, उनकी ज्ञानेन्द्रियों को अभ्यास देना, उनके जागृत मन को कार्य में लगाए रखना और उनकी ज्ञानेन्द्रियों द्वारा उन्हे प्रकृति तथा अपने सह-मानवों से परिचित कराना होता है, विशेष तौर से इनके द्वारा उनके हृदय का तथा प्रेम का पथप्रदर्शन करना, और उन्हे सम्पूर्ण जीवन की मूल आधार भूमि की ओर ले जाना तथा अपने आपसे एकत्व प्राप्त करना होता है"[1]।

बाल्यावस्था में शिक्षण

बाल्यावस्था में शिक्षण किस प्रकार दिया जाय फ्रोबेल ने अपने विचार इस सम्बन्ध मे भी व्यक्त किए है। इस आयु की विशेषता वह खेल न मानकर कार्य मानता है। इस आयु में बालक कार्य और उसके परिणाम में रुचि लेने लगता है। अतएव यह आवश्यक है कि उसे इस अवस्था में अपनी आयु के अनुसार कार्य प्रदान किये जायँ बाल्यवस्था में सबसे महत्वपूर्ण स्थान हाथ के काम और शारीरिक कार्य का है। शारीरिक कार्य द्वारा बालक में रचनात्मक शक्तियो का विकास होता है तथा मांस पेशियो का अभ्यास होता हैं। यह चरित्र निर्माण के लिए बहुत ही उपयुक्त साधन माना जाता है। इस आयु के पाठ्य-क्रम में फ्रोबेल बागवानी तथा प्रकृति अध्ययन, लकड़ी का काम और इसी प्रकार के दूसरे विषयो का समावेश करते हैं। इनके अतिरिक्त धार्मिक शिक्षा, विज्ञान, गणित, ड्राइंग, कला तथा भाषा इत्यादि विषयों का समावेश भी पाठ्य-क्रम में किया जा सकता है।

किण्डरगार्टेन प्रणाली में गुण

किण्डरगार्टेन या बालोद्यान प्रणाली में अनेकों गुण एवं दोष है। यहाँ हम पहिले इस प्रणाली के गुणों का वर्णन करेंगे और फिर इसके दोषों की ओर ध्यान देगें। आधुनिक पाश्चात्य शिक्षा में किस प्रकार इस प्रणाली ने

1—To give the children employment in agreement with their whole nature, to strengthen their bodies, to exercise their sense, to bring them acquainted with nature and their fellow creatures, it is especially to guide aright the heart and the affections, and to lead them to the original ground of all life, to unite with themselves."

क्रान्तिकारी परिवर्तन ला दिए हैं तथा जो विभिन्न देशों में वहाँ की शिक्षा प्रणाली में रूपान्तर आ गया है उसका भी अध्ययन करेंगे।

फ्रोबेल प्रणाली के गुण

(१) यह प्रणाली बालोद्यान प्रणाली कह कर पुकारी जाती है। इस नाम से यह स्पष्ट है कि इस प्रणाली में बालक विद्यालय को एक बगीचा समझते हैं जहाँ उन्हें आत्माभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता होती है। वे वहाँ खेल कूद सकते हैं। मनचाहे कार्य कर सकते हैं। उनके भाव, संवेग एवं प्रवृत्तियों का आदर किया जाता है। उनके जीवन से दमन या दबाव को निकाल फेंका जाता है। ये सब बातें ही इस प्रणाली के सबसे बड़े गुण हैं। आधुनिक मनोविज्ञान ने यह स्पष्ट कर दिया है कि बालक के जीवन के प्रारम्भिक वर्ष अत्यन्त महत्वपूर्ण होते हैं। इन वर्षों मे यदि उस पर दबाव डाला जाता है या उसकी प्रवृत्तियों का दमन किया जाता है तो जीवन भर उसका व्यक्तित्व असतुलित रहता है। अतएव इस काल की शिक्षा खेल, स्वतन्त्रता, मूलप्रवृत्तियों के प्रकाशन के अवसर देने इत्यादि पर निर्भर होनी चाहिए। किण्डरगार्टेन पद्धति में इन सब बातों का ध्यान रखा जाता है।

(२) किण्डरगार्टेन पद्धति मे बालक के वैयक्तिक एवं सामाजिक दोनों प्रकार के विकास का ध्यान रखा गया है। विद्यालय को एक सामाजिक संस्था माना जाता है। यहाँ बालक स्वतन्त्रता पूर्ण वातावरण मे वे सब बातें सीखता है जो सामाजिक जीवन के लिए अत्यन्त आवश्यक है। यहाँ न्याय, उत्तरदायित्व, सत्यता, भाई चारा तथा प्रेम इत्यादि की भावना का विकास होता है। इस पद्धति में विद्यालय को समाज के लघुरूप में माना जाता है।

(३) बालोद्यान प्रणाली में बालक को प्रधानता दी गई हैं। बालक को ही शिक्षा का प्रधान अङ्ग माना गया है। इस प्रकार शिक्षक-प्रधान शिक्षा के जो दोष थे उनको इस प्रणाली द्वारा दूर कर दिया गया। इस प्रणाली में शिक्षक बालकों को मारधाड़ करके नहीं पढ़ाता। वह अपने विचार उन पर नहीं थोपता वरन् उन्हें इस बात का अवसर देता है कि बालक स्वतः क्रिया द्वारा स्वयं सीखें तथा आत्म-शक्ति और आत्म-विश्वास उत्पन्न करें।

(४) इस प्रणाली में खेल को महत्व दिया जाता है। खेल बालक की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। इसको स्वतन्त्रता पूर्वक क्रियाशील होने देने का परिणाम यह होता है कि बालक की अभिरुचियों का विकास हो जाता है। खेल द्वारा शिक्षा आधुनिक शिक्षा की बहुत बड़ी देन है। इस दृष्टिकोण ने सारी शैक्षिक विचारधारा में परिवर्तन ला दिया है। अब बालक को बालक ही समझ कर

शिक्षा दी जाती है न कि छोटा प्रौढ़। बालोद्यान प्रणाली खेल द्वारा शिक्षा के सिद्धान्त को अत्यन्त महत्व देती है। यह शिक्षा प्रणाली बालक को आनन्दमय वातावरण में विकास का अवसर प्रदान करती है ताकि बालक का सर्वतोमुखी विकास हो सके।

(५) बालोद्यान प्रणाली में नेत्र तथा स्पर्शेन्द्रिय के प्रशिक्षण पर बल दिया जाता है। जो कुछ भी ज्ञान हम बाह्य जगत का प्राप्त करते हैं वह हम अपनी इन्द्रियों द्वारा ही करते हैं। यदि इन्द्रियों का प्रशिक्षण ठीक है और वह सत्यता एवं सुगमता से किसी वस्तु का ज्ञान हमें देती हैं तो हमारे निर्णय एवं तर्क-शक्ति जो इस ज्ञान पर आधारित होंगे वे उपयुक्त एवं प्रभावशाली होंगे अन्यथा ये सब त्रुटिपूर्ण हो जायेंगे और हम जीवन की किसी भी स्थिति में ठीक से निर्णय न लेने के कारण उसका मुकाबला करने में असमर्थ रहेंगे। किण्डरगार्टेन पद्धति में इन्हीं दोषों को हटाने के विचार से ज्ञानेन्द्रियों के शिक्षण को महत्व दिया गया है। फ्रोबेल के उपहार ज्ञानेन्द्रियों के शिक्षण के लिए अत्यन्त उपयोगी है। इनके द्वारा बालक खेल ही खेल में रंग, रूप, आकृति, आकार इत्यादि का ज्ञान ग्रहण कर लेता है। वह ज्योमित की विभिन्न आकृतियों को पहिचानने लगता है और उनकी विशेषताओं को समझ लेता है।

(६) फ्रोबेल की पद्धति में शारीरिक श्रम की महत्ता को स्वीकार किया गया है। यह इस पद्धति का सर्वोत्तम गुण है। बालक कार्य करके सीखते हैं।" वे बागवानी करते है, चटाई बुनते हैं, सीते हैं पिरोते हैं। इस प्रकार कार्य करने मे उनका शरीर सक्रिय हो जाता है और उनकी अनेक मूल प्रवृत्तियों को प्रकाशन का अवसर मिल जाता है। बालक शारीरिक श्रम के प्रति श्रद्धा रखने लगते हैं वे किसी कार्य को नीच अथवा किसी भी शैक्षणिक क्रिया को निम्न कोटि का मानते हैं।

(७) इस प्रणाली के उद्देश्य अध्यात्मवाद द्वारा प्रदान किये जाते हैं परन्तु इसकी विधि भौतिकवाद की प्रतीक है। वास्तव में इस विधि में भौतिक वाद एवं अध्यात्मवाद का अपूर्व समन्वय है। शिक्षा द्वारा फ्रोबेल बालक जो एकत्व की भावना का अभ्यास कराना चाहते है। विश्वभर की वस्तुऐं विभिन्न होने पर भी एकता के सूत्र में बन्धी है, इसी विभिन्नता में एकता का ज्ञान बालक को प्राप्त कराना इस प्रणाली का ध्येय माना जाता है। व्यवहार में फ्रोबेल निरीक्षण, चिन्तन, तुलना, माना निर्धारण विधियों के प्रयोग को प्रतिपादित करता है। उसका विचार है कि इन सब के द्वारा बालक विश्व की विभिन्न वस्तुओं में एकता का दिग्दर्शन करता है।

किण्डरगार्टेन प्रणाली में एक गुण यह भी है कि इसमें प्राकृतिक अध्ययन

एवं बागवानी पर बल दिया जाता है। फ्रोबेल से पहिले इन विषयों पर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया जाता था परन्तु फ्रोबेल ने देखा कि प्रकृति-अध्ययन द्वारा बालक मे निरीक्षण, विचार और तर्क की आदतों का विकास होता है। प्राकृतिक अध्ययन द्वारा बालक उस संसार में जिसमें वह रहता है, प्रेम करना सीख जाता है और उसमें ईश्वर के प्रति श्रद्धा जागृत हो जाती है।

किण्डरगार्टेन प्रणाली में दोष

(१) फ्रोबेल के दार्शनिक सिद्धान्त का समझना कभी-कभी कठिन हो जाता है। वे जो एकता के सम्बन्ध में विचार व्यक्त करते हैं उसका समझना अत्यन्त कठिन है। एकता के सिद्धान्त को प्राप्त करने के लिए वह गोले, घन इत्यादि उपहारों का वर्णन करते हैं। बालक की समझ से यह सब परे की बातें हैं। वह इन मूर्त वस्तुओं से एकता का अमूर्त विचार ग्रहण करने में असमर्थ रहता है। बालक में अमूर्त के सम्बन्ध में चेतनता बहुत कुछ अनुभवों के बाद आती है। यदि उससे यह आशा की जाय कि वह अमूर्त को शीघ्र समझ लेगा तो यह शिक्षा प्रणाली में दोष ही समझा जायगा।

(२) फ्रोबेल के दार्शनिक सिद्धान्त में एक और त्रुटि की ओर हम संकेत कर सकते हैं वह यह है कि फ्रोबेल यह आशा करता है कि ज्ञान या अनुभव बालक के अन्दर जो निहित विकास है उसको व्यक्त करने से प्राप्त होता है। यह विश्वास किया जाता है कि ज्ञान आन्तरिक को बाह्य बनाने से नही प्राप्त होता वरन् ज्ञान के लिए बालक को वातावरण को समझना होगा और उसे अपने अनुकूल बनाना होगा।

(३) फ्रोबेल द्वारा दिए हुए उपहारों में कृत्रिमता है। इसके अतिरिक्त वे किसी निश्चित ढंग से प्रस्तुत नहीं किए जाते हैं। यही कारण है कि बहुत से विद्यालयों ने किण्डरगार्टेन पद्धति को अपनाकर भी उपहारों को अपनी शिक्षण विधि में कोई स्थान नहीं दिया है। वे उपहारों के स्थान पर ज्ञानेन्द्रियों का शिक्षण अन्य साधनों से करते हैं।

(४) फ्रोबेल की विधि में विभिन्न विषयों में सह-सम्बन्ध प्राप्त नहीं किया जाता। प्रत्येक विषय को अलग अलग पढ़ाया जाता है। एक पाठ तथा दूसरे पाठ में समन्वय का अभाव रहता है। परन्तु वर्तमान समय में समन्वय के सिद्धान्त को बहुत महत्व दिया जाता है। अब यह विश्वास किया जाता है कि विभिन्न विषय जब परस्पर सम्बन्ध द्वारा सिखाये जाते हैं तो शिक्षण अधिक महत्वपूर्ण ढङ्ग से दिया जाता है। वास्तव में प्रकृति अध्ययन, हाथ का काम, स्वास्थ्य, पढ़ाई और लिखाई इत्यादि में समन्वय प्राप्त करना चाहिए।

(५) किण्डरगार्टेन विधि में सामाजिक एकता पर बहुत बल दिया जाता

है। अधिक सामाजिक एकता पर बल देने का प्रभाव यही पड़ता है कि बालक के व्यक्तिगत विकास की अवहेलना होती है। प्रत्येक बालक दूसरे से भिन्न होता है। उसकी रुचियों अभिरुचियों, योग्यताओं क्षमताओं, इत्यादि में अन्तर होता है इसलिए उनको शिक्षण देने में व्यक्तिगत विकास पर बल देना अनिवार्य है।

(६) किण्डर गार्टेन प्रणाली मे उपहार एवं व्यवसाय पर ही सारा शिक्षण केन्द्रित होता है। शिक्षण बालक को उपहार प्रदान करता है उन्हें बताता है कि वह कैसे कार्य करें तथा उनकी कार्य विधि का निरीक्षण करता है इसके स्थान पर यदि बालक को अधिक स्वतंत्रता दी जाय वह स्वयं अपने कार्य को चुने और उसे उत्तरदायित्व दिये जायें तो अधिक प्रभावशाली ढङ्ग से उसका शिक्षण हो सकेगा।

इस प्रकार हम देखते हैं कि किण्डरगार्टेन प्रणाली में कुछ ऐसे दोष हैं जिनका निराकारण करना सर्वथा आवश्यक है। हमारे देश में अनेको विद्यालय इस पद्धति को अपना रहे हैं परन्तु इन विद्यालयों में भारतीय बालकों की आवश्यकतानुसार गीतों, खेलों इत्यादि में परिवर्तन करना आवश्यक है। इस समय विभिन्न देशों मे किण्डरगार्टेन प्रणाली को अपना लिया गया है। परन्तु खेलों, कथाओं और गीतो में बालक के मनोविज्ञान के आधार पर परिवर्तन कर लिए गये है। इसके अतिरिक्त सुविधा के आधार पर इस पद्धति में कक्षा से बाहर विचरण तथा प्रकृति अध्ययन के लिए विभिन्न स्थानों पर जाने का कार्यक्रम बन्द कर दिया गया है। अब विद्यालय के कार्यक्रम का आरम्भ भी गाने से नहीं होता वरन् यह शिक्षक द्वारा बालक की अनुभूति और रुचि के विषय पर वार्तालाप आरम्भ करने से होता है।

किण्डरगार्टेन पद्धति तथा आधुनिक शिक्षा

किण्डरगार्टेन पद्धति आधुनिक शिक्षा की एक महत्वपूर्ण पद्धति है। जैसा हमने ऊपर कहा है इस पद्धति को अब विभिन्न देशों ने अपनी शिक्षा प्रणाली मे अपना लिया है। छोटे बालकों को इस पद्धति के अनुसार शिक्षा देने की व्यवस्था प्रायः प्रत्येक देश कर रहा है।

आधुनिक शिक्षा पर फ्रोबेल महोदय की विचारधारा ने बहुत प्रभाव डाला हैं। अब विद्यालय बालकों के लिए एक आकर्षित करने वाला तथा आनन्द प्रदान करने वाला स्थान माना जाता है। यह एक सामाजिक संस्था के रूप में समझा जाता है। बाल केन्द्रित शिक्षा पर बल दिया जाता है। बालको को उनकी आवश्यकथानुसार शिक्षा देने की व्यवस्था की जाती है। यह नहीं समझा जाता कि बालक छोटा व्ययस्क है जिसे प्रौढ़ जीवन की आवश्यकताओं की

पूर्ति के लिए शिक्षा दी जाय। इसके अतिरिक्त समस्त शिक्षा प्रणालियाँ अब बालकों के शिक्षण में ज्ञानोन्द्रियों की शिक्षा पर बल देती हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आधुनिक शिक्षा ने बहुत कुछ किण्डरगार्टेन पद्धति से ग्रहण किया है। आज जो बालकों की शिक्षा का रूप है वह इस पद्धति के महान देन पर अधारित है, इसमें कोई संदेह नहीं।

सारांश

किण्डर गार्टन पद्धति के संस्थापक फ्रेडरिक फ्रोबेल थे। वे आध्यात्मिक आदर्शवाद मे विश्रवास रखते थे और अपनी शिक्षण पद्धति को इन्होंने अपनी दार्शनिक विचारधारा पर ही आधारित किया। **फ्रोबेल महोदय के दार्शनिक सिद्धान्त**—हैं (१) भिन्नता में एकता (२) विकास का सिद्धान्त (३) स्वयं-क्रिया का सिद्धान्त (४) सामाजिक संस्थाओं द्वारा व्यक्तित्व के विकास का सिद्धान्त **फ्रोबेल के अनुसार शिक्षा के उद्देश्य यह हैं** (१) बालक में निहित अध्यात्मिक शक्ति का बोध कराना (२) अन्तस में विद्यमान एवं निरन्तर काम करने वाले ईश्वरीय नियमो के अनुसार बालक का सर्वतोमुखी विकास प्राप्त करना।

फ्रोबेल महोदय शिक्षा की आवश्यकता मे विश्वास रखते हैं। शिक्षा प्रदान करने में वह विद्यालय को बालकों के बाग के रूप में समझते हैं और बालकों की उपमा कोमल पौधे से देते हैं।

किण्डरगार्टेन पद्धति में खेल को जो बालक की एक स्वाभाविक क्रिया समझी जाती है बहुत महत्व दिया जाता है। इस पद्धति में बालकों के लिए ऐसे खेलों का आयोजन किया जाता है जो उन्हें आत्माभिव्यक्ति के अवसर प्रदान करे **किण्डरगार्टेन का वातावरण** इस प्रकार से निर्मित होता है कि उसमें बालक को स्वपन्त्रतापूर्वक स्वत: क्रिया द्वारा विकास करने के अवसर प्राप्त हों। आत्म प्रकाशन की शिक्षा तीन प्रकार से दी जाती है (१) गीतों द्वारा (२) अभिनय द्वारा तथा (३) रचनात्मक कार्यों द्वारा।

गति बालक की ज्ञानोन्द्रियों एवं मांसपेशियों को गति देते हैं। **फ्रोबेल के उपहार** उसकी शिक्षण-विधि के आधार हैं। ये कुल बीस होते हैं जिनमें से प्रथम सात ही महत्वपूर्ण है। इन उपहारों द्वारा बालक की ज्ञानोन्द्रियों को प्रशिक्षित किया जाता है।

व्यापार—फ्रोबेल व्यापार और कार्यों की व्यवस्था खेलों के अतिरिक्त भी करते है। यह बालक को ज्ञान प्राप्त कराने में महत्वपूर्ण है।

किण्डरगार्टेन प्रणाली में गुण—(१) बालक को स्वतन्त्रता होती है (२) बालक का वैयक्तिक तथा सामाजिक दोनों प्रकार के विकास का ध्यान

रखा जाता है (३) बाल प्रधान है (४) खेत को महत्व दिया जाता है (५) नेत्र तथा स्पर्शेन्द्रियों को शिक्षण पर बल दिया जाता है (६) शारीरिक श्रम की महत्ता को माना जाता है (७) भौतिकवाद एवं अध्यात्मवाद का अपूर्व मिलन है (८) प्राकृतिक अध्ययन एवं बागवानी पर बल दिया जाता है।

किण्डरगार्टेन प्रणाली में दोष हैं—(१) एकता का दार्शनिक सिद्धान्त समझना कठिन है (२) बालक में निहित विकास द्वारा ज्ञान नहीं प्राप्त किया जा सकता है (३) उपहारों में कृत्रिमता है (४) विभिन्न विषयों एवं पाठों में सह-सम्बन्ध का अभाव है (५) वैयक्तिक शिक्षण की अवहेलना होती है (६) बालक को कम उत्तरदायित्व दिये जाते है।

इन दोषों के होते हुए भी किण्डरगार्टेन प्रणाली ने आधुनिक शिक्षा में एक महान् क्रान्ति ला दी है।

अध्ययन के लिए महत्वपूर्ण प्रश्न

१. फ्रोबेल के दार्शनिक विचार क्या थे ? उनका प्रभाव उसकी शिक्षण-विधि पर किस प्रकार पड़ा ?

२. "आधुनिक-शिक्षा, शिक्षण से अधिक सीखने पर जोर देती है।" फ्रोबेल के सिद्धान्तों के अनुसार उक्त कथन की समीक्षा कीजिए।

३. किण्डरगार्टेन पद्धति में क्या दोष हैं ? भारतीय विद्यालयों में इसे किस रूप में अपनाया जा सकता है।

४. फ्रोबेल के अनुसार शिक्षा के उद्देश्य क्या है। इन उद्देश्यों की प्राप्ति वह किस प्रकार से करना चाहते है।

सहायक पुस्तकों की सूची

(१) रस्क : द डाक्ट्रिन्स ऑव ग्रेट एडूकेटर्स।

(२) फ्रोबेल : एडूकेशन बाई डेवेलपमेन्ट।

(३) फ्रोबेल : द एडूकेशन ऑव मैन।

(४) ह्यूज, जे० एल० : द एडूकेशनल थियोरीज ऑव फ्रोबेल एण्ड हरबार्ट।

(५) भाटिया एवं भाटिया : शिक्षण पद्धति और सिद्धान्त।

अध्याय १५

मान्टेसरी प्रणाली[1]

छोटे बालकों की शिक्षा के लिए मान्टेसरी प्रणाली एक उत्तम प्रणाली मानी जाती है इस प्रणाली की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें व्यक्तिगत रूप से शिक्षा देने पर बल दिया जाता है। आधुनिक मनोविज्ञान ने यह सिद्ध कर दिया हैं कि प्रत्येक बालक एक दूसरे से भिन्न है अतएव प्रत्येक बालक की शिक्षा-दीक्षा से उसकी विशिष्ट आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर होनी चाहिए। यह प्रणाली इसी सिद्धान्त को ध्यान में रख कर आधुनिक मनोविज्ञान की नवीनतम खोजो पर आधारित की गई है। इस प्रणाली की प्रवर्तक हैं मेरिया मान्टेसरी।

मेरिया मान्टेसरी का जीवन

यहाँ हम बहुत संक्षेप में डा० मेरिया मान्टेसरी के जीवन-चरित्र की ओर दृष्टिपात करेंगे। डा० मान्टेसरी का जन्म जुलाई १८७० ई० में इटली देश में हुआ था। उन्होंने पहिले डाक्टरी की शिक्षा प्राप्त की। फिर रोम यूनिवर्सिटी से एम० डी० की डिग्री प्राप्त कर कुछ वर्षा तक वे मन्द-बुद्धि बालकों के शिक्षण का कार्य करती रहीं। इस कार्य को करने में ही उन्हें बालकों के प्रारम्भिक वर्षों की शिक्षा का उचित आयोजन करने की रुचि जागृत हुई। उन्होंने जड़ बुद्धि वाले, लंगड़े तथा बहरे बालकों की चिकित्सा करते समय यह अनुभव किया कि यदि इस प्रकार के बालकों को नये ढङ्ग से शिक्षा दी जाय तो वे बहुत कुछ सीख सकते हैं। उन्होंने देखा कि ऐसे बालकों को यदि इन्द्रियों

1—Montessori Mothod.

का शिक्षण दिया जाय तो वे बहुत सी ऐसी बातें सीख लेते हैं जो साधारण शिक्षा से नहीं सीख पाते उन्होंने इसके पश्चात् साधारण बालकों की शिक्षा में भी रुचि लेना आरम्भ कर दिया; जिसे मान्टेसरी प्रणाली या मॉन्टेसरी पद्धति के नाम से पुकारा जाता है।

डा० मान्टेसरी को अपने विचारानुसार विद्यालयों की स्थापना का अवसर उस समय मिला जब सन् १९०७ में गुड बिलडिंग के रोमन ऐसोसियेशन के डायरेक्टर ने यह योजना बनाई कि प्रत्येक बस्ती के साथ एक छोटा सा स्कूल खोला जाए तथा इन स्कूलों में तीन से लेकर सात साल तक की आयु के बालकों को खेलने कूदने तथा कुछ काम करने के अवसर प्रदान करने का आयोजन किया जाय। इन स्कूलों के निरीक्षण का काम डा० मान्टेसरी को सोपा गया। उन्होंने सन् १९०७ में सर्वप्रथम ऐसा विद्यालय खोला। इस विद्यालय का नाम रखा गया "बच्चों का गृह" जिसमें बालकों की ज्ञानोन्द्रियों की शिक्षा को विशेष महत्व दिया गया।

डा० मान्टेसरी को अपनी शिक्षा प्रणाली में, जिसका वर्णन उन्होंने अपनी पुस्तक "मान्टेसरी पद्धति"[1] में भी किया है, आशातीत सफलता मिली। उनकी पद्धति वैज्ञानिक पहलू पर बल देने वाली है तथा इसका आधार ठोस मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों पर है।

मान्टेसरी पद्धति को अब तक संसार के अनेकों देशों में अपनाया गया है। इंगलैंड, हालैण्ड इत्यादि अनेकों देशों ने इसे अनिवार्य रूप से अपना लिया है। भारतवर्ष में भी इस पद्धति का प्रचार बहुत अधिक जोरों से हो रहा है।

मान्टेसरी प्रणाली के शैक्षिक सिद्धान्त

मोन्टेसरी प्रणाली के आधार भूत सिद्धान्त निम्नलिखित हैं।

(१) बालक की अन्तर्निहित शक्तियों के विकास के लिए शिक्षा

मान्टेसरी की शिक्षण पद्धति का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण, आधारभूत सिद्धान्त है कि शिक्षा बालक का आन्तरिक विकास है। वे शिक्षा द्वारा बालक के व्यक्तित्व का विकास करना ही शिक्षा का उद्देश्य मानती हैं। इस रूप में उनका दृष्टिकोण रूसो, पेस्टालॉजी तथा फ्रोबेल से भिन्न मिलता-जुलता है।

फ्रोबेल की तरह ही मान्टेसरी बालक के व्यक्तित्व के विकास को महत्व देती हैं। वे बालक में विकास की शक्ति उसी प्रकार उसमें निहित मानती है जैसे कि किसी पेड़ के बीज में उस पेड़ के विकास की सम्पूर्ण शक्ति निहित

1—Montessori Method.

रहती है । इससे तात्पर्य यह है कि बालक का विकास उन शक्तियों के द्वारा नहीं होता जो उससे बाहर हैं वरन उसके विकास के सम्पूर्ण तत्त्व स्वयं उसमें निहित होते हैं जिन्हें एक कुशल शिक्षक समुचित वातावरण प्रदान कर के उन्हें विकसित होने के पूर्ण अवसर प्रदान करता हैं। जैसे बीज उसी समय वृक्ष का रूप धारण करता है जब उसके चारों ओर का वातावरण उसके विकास के अनुकूल होता है। उसी प्रकार बालक उस समय विकास करता है जब कि शिक्षक द्वारा उसके आन्तरिक विकास के अवसर प्रदान किये जाते हैं। इसी कारण यह कहा जाता है कि शिक्षक को बालक की देखभाल उसी प्रकार करनी चाहिए जैसे माली बगीचे की देखभाल करता है।

डा० मान्टेसरी के अनुसार बालक की जन्मजात शक्तियों को उभारना ही शिक्षक का कर्त्तव्य है। जो शक्तियाँ उसमें अन्तर्निहित है शिक्षक जब उनको विकसित कर लेता है तो यही उसकी शिक्षा कहलाती है। मान्टेसरी का कथन है कि "बालक एक शरीर है जो बढता है; तथा आत्मा है जो विकास प्राप्त करता है।" अतएव शिक्षा द्वारा सदैव यह चेष्टा करनी चाहिए कि इन दोनों रूपों में बालक को अपने व्यक्तित्व के विकास की ओर ले जाने में कोई भी कठिनाई का अनुभव न हो।

(२) स्वतन्त्रता का सिद्धान्त

इस सिद्धान्त से तात्पर्य यह है कि बालक को अपनी भावनाओं, संवेगों, विचारों, योग्यताओं, रुचियों, रुझान, गतिवाही क्रियाओं इत्यादि को व्यक्त करने की पूर्ण स्वतन्त्रता मिले। जब बालक का विकास उसमे अन्तर्निहित रहता है तो उसे प्रकट करने के लिए उन्हें स्वतन्त्रता प्रदान करने की भी आवश्यकता है। बालक को यह स्वतन्त्रता मिलना आवश्यक है कि वह अपनी रुचि के अनुसार कार्य कर सके। यदि उसे स्वतन्त्रता न मिले तो उसकी स्वाभाविक शक्तियों का विकास रुक जायगा। इस प्रकार उसका व्यक्तित्व का दूषित बन जायगा। उसमें आत्म-विश्वास एवं आत्म-निर्भरता का अभाव हो जायगा। स्वतन्त्रता देने से यहाँ हमारा तात्पर्य यही है कि बालक को अपनी मूल प्रवृत्तियों एवं शक्तियों के अनुसार चलने के अवसर मिलें। जो कुछ उसकी मूल प्रकृति प्रेरणा दे उसी के अनुसार वह कार्य करने को स्वतन्त्र रहे। इस प्रकार के वातावरण को प्रदान करने से बालक बहुत कुछ स्वयं ही सीख लेता है। उसकी उन शक्तियों का बिना किसी अवरोध के विकास हो जाता है जो उसमें अन्तर्निहित हैं। उसमें आत्म-निर्भरता आजाती है और वह आत्म-संयम एवं आत्म-नियन्त्रण आदि गुणों को ग्रहण करने में सफल होता है।

(३) आत्म-शिक्षण[1]

मॉन्टेसरी का तीसरा महत्वपूर्ण शिक्षण का सिद्धान्त है—आत्म-शिक्षण। इस सिद्धान्त को हम दूसरे सिद्धान्त के साथ ही साथ समझ सकते हैं। जब बालक को स्वतन्त्रता दी जाय तो इस कथन से अभिप्राय यह है कि बालक को शिक्षा में कोई बल या शक्ति का प्रयोग नहीं किया जाना चाहिए। देवी मान्टेसरी इसी सिद्धान्त के बल पर यह प्रतिपादित करती है कि बालक को अपने आप ही नये ज्ञान को सीखना चाहिए। इस प्रकार से सीखने से बालक के ऊपर कोई अवरोध नही होते। उसे यह स्वतन्त्रता प्राप्त हो जाती है कि वह जिस गति से चाहे सीखे।

स्वयं-शिक्षा या आत्म-शिक्षण द्वारा सीखने में शिक्षक बालकों के कार्य मे हस्तक्षेप नहीं करता। वह बालकों को आदेश इत्यादि नहीं देता हैं। वह तो बालक को अपनी ही गति से सीखने की स्वतन्त्रता दे देता हैं। बालक जिस प्रकार चाहे उस प्रकार सीख सकता है। उससे यह आशा नहीं की जाती कि वह कुछ काम आवश्यक रूप से ही करेगा। शिक्षक का स्थान इस पद्धति मे गौण है। वह केवल पथ-प्रदर्शन करता है। वह बालक की क्रियाओं का निरीक्षण करता रहता है और जहां भी आवश्यक समझता है बालकों को सहायता पहुँचाता रहता है।

बालक आत्म-शिक्षण द्वारा सीखें इसके लिए मान्टेसरी ने शिक्षा-यन्त्रों[2] का अविष्कार किया है। बालकों को ये यन्त्र दे दिये जाते हैं और वे इन्हें जैसे चाहे वैसे प्रयोग करते हैं। परन्तु इन यन्त्रों के बनाने मे यह सावधानी रखी जाती है कि इनका प्रयोग एक ही प्रकार से किया जा सके। अतएव जब बालक इनका प्रयोग अपने ढंग से करते हैं तो वे बार-बार त्रुटि करते हैं परन्तु कई बार त्रुटि करने के उपरान्त वे अपनी भूल समझ लेते है और अपनी गलती सुधार लेते हैं। इस प्रकार उनका आत्म-शिक्षण हो जाता है। बालक बिना किसी शिक्षक की सहायता के अपनी त्रुटियों में अपने आप सुधार ले आते हैं।

(४) व्यक्तित्व का सिद्धान्त

यह सिद्धान्त विकास के, स्वतन्त्रता के तथा आत्म-शिक्षण के सिद्धान्तों पर ही आधारित है। जब बालक को स्वतन्त्र वातावरण में आत्म-शिक्षण द्वारा स्वतः विकास करने के लिए छोड़ दिया जाता है तो उसके व्यक्तित्व का विकास उचित दिशाओं में होता है। सामूहिक शिक्षा में बालक को आत्मविकास करने

1—Self-Education. 2—Didactic Apparatus.

की सुविधाऐं प्राप्त नहीं होती। उसे अपनी अन्तर्निहित शक्तियों के प्रकाशन के अवसर नहीं मिल पाते। इन्हीं कारणों से मान्टेसरी कक्षा-शिक्षण विधियों एवं सामूहिक शिक्षा का विरोध करती हैं। उनका विश्वास है कि शिक्षा इस प्रकार दी जाय कि व्यक्तित्व के विकास पर कोई अवरोध न हो। शिक्षक बालक की आवश्यकता, एवं उसके मानसिक तथा शारीरिक वृद्धि को समझ कर ही उसे सहायता प्रदान करे। प्रत्येक बालक के सम्बन्ध में सूक्ष्म से सूक्ष्म जानकारी रखने के उपरान्त ही शिक्षक बालक को सहायता प्रदान कर सकता है। इस प्रकार व्यक्तिगत रूप से प्रत्येक बालक की शक्तियों को समझे बिना शिक्षक उचित ढङ्ग से उनकी शिक्षा में सहयोग प्रदान नहीं कर सकता।

(५) खेल द्वारा शिक्षा

मान्टेसरी की शिक्षण विधि में खेल द्वारा शिक्षा को महत्व दिया जाता है। मान्टेसरी जो शिक्षा यंत्र बालकों के लिये प्रस्तुत करती है वे चाहती हैं कि बालक उनसे खेले और खेल ही खेल में उनका निश्चित प्रकार से उपयोग करना सीखें। इस प्रकार वे आत्म-शिक्षा द्वारा सीखने में खेल को बहुत महत्व देती है। बालक शिक्षा यन्त्रों के साथ खेलते खेलते ही वर्णमाला, गणित, रेखा-गणित आदि विषय सीख जाते है। खेल में ही वे विभिन्न वस्तुओं का स्पर्श करते हैं, देखते हैं, स्वाद करते हैं, और गायन इत्यादि सुनते हैं। इस प्रकार उनको विभिन्न ज्ञानोन्द्रियों का शिक्षण मिल जाता हैं। उनकी श्रवण शक्ति, दृष्टि शक्ति, स्पर्श, बोध, स्वाद, इत्यादि में परिपक्वता आ जाती है।

यहाँ पर यह बात ध्यान देने योग्य है कि जो खेल मान्टेसरी पद्धति में बालकों को खेलने को कहे जाते है, वे साधारण खेलों से बहुत विभिन्न होते हैं। ये खेल नाम-मात्र के ही खेल होते है वास्तव में तो इनके द्वारा बालकों से कार्य कराए जाते हैं। किन्तु इस प्रकार के खेलों में आत्म-स्फूर्ति का कोई स्थान नही होता अतएव ये खेल बालक के मस्तिष्क पर जोर डालते हैं और इस दृष्टिकोण से अमनोवैज्ञानिक कहलाते हैं।

(६) माँसपेशियों की शिक्षा[1]

डा० मान्टेसरी का विश्वास है कि बालक की शिक्षा में न केवल मानसिक तत्वों पर ही बल देना चाहिए वरन शारीरिक तत्वों को भी मुख्य स्थान देना चाहिए। वे कहती हैं कि बालक की प्रारम्भिक शिक्षा इस प्रकार की होनी चाहिए कि वे अपने शरीर को ठीक से संतुलित कर सके और अंग प्रत्यंग में सन्तुलन स्थापित कर सके। इसके लिए पुट्ठों तथा माँसपेशियों की शिक्षा की

1—Muscular Training,

अत्यन्त आवश्यकता होती है। बालक को यह सीखना आवश्यक है कि वह कैसे अपने अंगों का उचित प्रयोग कर सके। इसके लिए उसे भली-भांति चलना, फिरना, दौड़ना सीखना चाहिए। उसमे आत्म-निर्भरता की भावना का विकास करना चाहिए तथा उसे अपने काम स्वयं करने को प्रोत्साहित करना चाहिए।

(७) ज्ञानेन्द्रियों की शिक्षा[1]

ज्ञानेन्द्रियाँ ही ज्ञान के द्वारा हैं। हम जो कुछ भी ज्ञान ग्रहण करते हैं वह ज्ञानेन्द्रियों द्वारा ही ग्रहण करते हैं। इसी कारण मान्टेसरी अपनी शिक्षण पद्धति में ज्ञानेन्द्रियों के शिक्षण पर बल देती हैं। उनका कहना है कि यदि ज्ञानेन्द्रियो का शिक्षण ठीक नहीं होता तो जो कुछ भी ज्ञान उनके द्वारा ग्रहण किया जायगा वह अस्पष्ट एवं अपूर्ण ही होगा। बालकों की ज्ञानेन्द्रियाँ तीन से सात वर्ष तक सक्रिय रहती है इसी कारण उसकी ज्ञानेन्द्रियों का शिक्षण इस काल में उचित ढंग से दिया जाना चाहिए। बालकों को शिक्षा देते समय ऐसी चेष्टा करनी चाहिए जिससे उनकी ज्ञानेन्द्रियों को अभ्यास मिल जाय और वे परिपक्व हो जायँ। मान्टेसरी के शिक्षा-यन्त्र ज्ञानेन्द्रियों के विकास में बहुत महत्वपूर्ण भाग लेते हैं।

मान्टेसरी पद्धति प्रयोग में

उपर्युक्त वर्णित मॉन्टेसरी के सिद्धान्तों पर ही उसकी शिक्षण पद्धति आधारित है। यहाँ हम अब इस पद्धति के प्रयोग मे आने वाले स्वरूप का वर्णन करेंगे।

मान्टेसरी शिक्षण-पद्धति पर आधारित विद्यालयों को बाल-भवन[2] कहा जाता है। इन बाल-भवनों में विशेष प्रकार के उपकरण तथा विभिन्न प्रकार की सामग्री का प्रयोग किया जाता है तथा शिक्षा देने की जो विधि अपनाई जाती है वह इस सामग्री के उचित उपयोग पर केन्द्रित होती है। अतः हम यहाँ मान्टेसॉरी पद्धति के प्रयोगात्मक रूप का वर्णन करने मे मुख्यतः इन दो बातों पर ही प्रकाश डालेंगे मान्टेसरी विद्यालय तथा उनमें काम में आने वाली सामग्री एवं उस सामग्री को प्रयोग में लाने की विधि।

मान्टेसरी विद्यालय का भवन—मान्टेसरी विद्यालयों में एक बड़ा सा कक्ष होता है जिसमे बैठकर बालक यन्त्रो एवं अन्य उपकरणों से खेलते तथा सीखते हैं। इस कक्ष से ही मिले हुए कई छोटे-छोटे अन्य कक्ष होते हैं। ये कक्ष, भोजन-कक्ष, विश्राम-कक्ष, गोष्ठी कक्ष, शारीरिक-श्रम-कक्ष तथा स्नान-कक्ष के रूप में प्रयुक्त होते हैं। मान्टेसरी विद्यालयों में इन कमरों से मिला

1—Sense Training. 2—Children's home.

हुआ ही एक बगीचा होता है। इस बगीचे में जाकर बालक खेल कूद सकते हैं तथा यदि वे चाहें तो उसमें छायादार स्थानों में बैठकर कोई काम करके सीख भी सकते हैं। बालकों को इस बात की पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त होती है कि वे जब चाहे कमरे में बैठकर सीखें और जब चाहें तब बाग में जाकर खेलें। वे यहाँ बैठकर भोजन भी कर सकते है। इस प्रकार इनको खुली हवा मे खेलने कूदने तथा अपना विकास करने के अवसर प्राप्त हो जाते हैं।

भवन की सज्जा—मान्टेसरी विद्यालयों के भवन की सज्जा में भी विशेषता होती है। यहाँ वर छोटी-छोटी बनी हुई मेजें, अलमारियाँ, कुर्सियाँ इत्यादि होती हैं जिन पर बैठ कर बालक आराम से लिख-पढ़ या खेल सकते हैं। इन कुर्सियों इत्यादि को बालक इधर-उधर खिसका सकते हैं परन्तु इनकी सफाई करना तथा उनकी देखभाल करने में उनका ही उत्तरदायित्व होता है। बालकों को अपना सामान संभाल कर रखने के लिए दराज भी दी जाती है। इसके अतिरिक्त बड़े कमरे में पर्याप्त नीचाई पर श्यामपट बने होते हैं जिन पर बालक जब चाहें तब ड्राइंग बना सकते तथा चित्र इत्यादि चिपका सकते हैं।

सीखने के भवन मे वे सब शैक्षिक उपकरण रखे रहते हैं जिनका अविष्कार मैडम मान्टेसरी ने किया है। ये शिक्षोपकरण कई प्रकार के होते है और बालकों की सुविधा को ध्यान मे रख कर प्रयोग किये जा सकते हैं। ये संख्या में कितने ही हों इनकी कोई सीमा निर्धारित नही होती। इनमें जिस विशेषता पर मान्टेसरी बल देती है वह यह है कि "एक समय में एक प्रकार का उपकरण केवल एक ही ज्ञानोन्द्रिय को सक्रिय करे।" मान्टेसरी चाहती हैं कि प्रयोग द्वारा जब एक ज्ञानोन्द्रिय को सक्रिय बनाया जा रहा हो तो दूसरी इन्द्रियाँ सक्रिय न हों।

कुछ शिक्षोपकरण जिनका उपयोग किया जाता है निम्नलिखित हैं—

(१) छोटे बड़े बेलनाकार।
(२) छोटे बड़े आकार के घन।
(३) भिन्न-भिन्न माप के लकड़ी के गुटके तथा एक छेदों वाला तख्ता।
(४) छोटे बड़े लकड़ी के आयताकार टुकड़े।
(५) विविध प्रकार रंगों की टिकियाँ।
(६) लकड़ी के अक्षर।
(७) विभिन्न चिकनी तथा खुरदरी वस्तुएं।
(८) भिन्न-भिन्न भार की लकड़ियाँ तथा टिकियाँ।

इन सब शिक्षोपकरण को रखने के लिए लम्बे और नीचे सन्दूक होते हैं।

बालक स्वयं इसमें सामान रखते तथा निकालते हैं। इन सन्दूकों के ऊपरी भागों को बालक फूल-पत्तियाँ बना कर सजाते है।

प्रधान कक्ष मे शिक्षोपकरण के अतिरिक्त अन्य कई प्रकार के सामान होते हैं। बालकों को बैठने के लिए विभिन्न रंगों के आसन दिये जाते हैं। उनके खेलने-कूदने के लिए खिलौने तथा अन्य मनोरंजन की सामग्री भी रहती है। गाने बजाने का सामान, नाप तौल के यन्त्र इत्यादि भी यहाँ रहते हैं। बालक इन यन्त्रों का स्वयं उपयोग करके गाना, बजाना, नापना, तौलना इत्यादि सीखते हैं।

स्नान के कमरे में बालकों को ऊंचाई को ध्यान में रखकर नल लगाए जाते है तथा सिन्क[1] होते है। बालक अपने आप इस कक्ष मे उनका उपयोग करते है। ड्रेसिङ्ग के कमरे में प्रत्येक बालक के पास अपनी अलमारी होती हैं इसमे के साबुन, तौलिया इत्यादि रखते हैं।

भोजन के कमरे मे नीची मेजें, कुर्सियाँ तथा दराजें होती है। इनमें तश्तरियाँ, चमचियाँ, चाकू, मेजपोश, रूमाल, लोटे इत्यादि होते है। बालक को अपनी मेज स्वयं बिछाने तथा लगाने की स्वतन्त्रता होती है।

बाल-घर मे बालक स्वयं ही प्रत्येक कार्य करते हैं। वे कमरे को झाड़ते हैं, फर्नीचर को साफ करते हैं भोजन को परोसते है, कपड़ो को धोते है तथा अन्य दूसरे कार्य करते हैं। यहाँ का वातावरण एक परिवार का सा होता है और बालक को वे सब चीजे उपलब्ध होती है जो उन्हें एक आदर्श घर मे मिलनी चाहिए। इसके साथ ही साथ घर में जिन कार्यों के करने की उनसे आशा की जाती है वे सब कार्य यहाँ करते हैं।

बालकों के घर में ऊंचाई मापने का यंत्र पेडियो-मीटर भी होता है। बालक इस यन्त्र पर खड़ा होकर अपनी ऊंचाई स्वयं नाप लेता है। इस यन्त्र में एक छोटा सा स्टूल होता है, जिसके मध्य में दो लकड़ी के खम्भे लगे होते हैं। इनके ऊपर धातु का एक चपटा टुकड़ा होता है। इससे ही एक ऊपर नीचे होने वाला इण्डीकेटर लगा होता है। इस यन्त्र का उपयोग करके बालक अपने शारीरिक रेकॉर्ड को स्वयं रखना सीख जाते हैं।

शिक्षण-विधि

मान्टेसरी शिक्षण विधि को तीन भागों में बाँटा जासकता है

(१) कर्मेन्द्रियों की शिक्षा[2]

(२) ज्ञानेन्द्रियों की शिक्षा[3]

1—Sink. 2—Motor Education, 3—Sensory Education.

(३) भाषा की शिक्षा[1]

(१) **कर्मेन्द्रियों की शिक्षा**—बालकों को सबसे प्रथम कर्मेन्द्रियों का शिक्षण दिया जाता है। बालघर मे बालक अपना कार्य स्वयं करते हैं। इस प्रकार कार्य करने से उनकी कर्मेन्द्रियों का प्रशिक्षण हो जाता है। बालघर में बालक अपने से सम्बन्धित सब प्रकार के कार्य करते हैं। वे स्वयं हाथ मुंह धोते है, कपड़े बदलते है, मेज़ कुर्सी इत्यादि को ठीक स्थान पर रखते हैं, कमरा सजाते हैं, वस्तुओ को क्रम से रखते हैं, भोजन बनाते है, बर्तन साफ करते है, भोजन परोसते और इसी प्रकार के अन्य कार्य करते हैं। इन कार्यों के करने से उनकी मांसपेशिया सक्रिय हो जाती हैं और उनकों पर्याप्त व्यायाम मिल जाता है, जिससे वे दृढ़ तथा परिपक्त हो जाती है।

शिक्षा उपकरणों मे इस प्रकार के कई फ्रेम होते हैं जिनमें रबड़ के या कपड़े के टुकड़े लगे होते हैं। ये कपड़े बाँधे जा सकते है या इनमें बटन या हुक लगाये जा सकते हैं। बालक इन मे हुक लगाने की चेष्टा करते है और धीरे धीरे अभ्यास द्वारा बटन लगाना सीख जाते है। इस प्रकार के कार्यों में वे आनन्द भी लेते हैं और अपने अङ्ग प्रत्यंग को सन्तुलित करना भी सीख जाते है। बालक के दैनिक जीवन में जो भी कार्य आने वाले होते हैं बाल-भवन मे उन सब को करने को बालकों को प्रोत्साहित किया जाता है। इस प्रकार उनकी कर्मेन्द्रियों की शिक्षा भी हो जाती है और उनमें व्यावहारिक कुशलता भी आजाती है। वे सभ्य तथा शिष्ट बन जाते हैं। उसकी बात-चीत करने के ढंग में आकर्षण आजाता है उसका स्वास्थ सुधर जाता है। उनको शारीरिक व्यायाम या शारीरिक कार्य उनकी अवस्था के अनुसार करने को दिये जाते हैं। इन कार्यों में उनकी रुचि बनाये रखने के लिए उन्हें ताल और लय के साथ व्यायाम कराये जाते हैं। संगीत के साथ साथ व्यायाम करने में उसकी रुचि बनी रहती है।

(२) **ज्ञानेन्द्रियों की शिक्षा**—ज्ञानेन्द्रियों की शिक्षा शैक्षिक उपकरण द्वारा दी जाती है। मान्टेसरी के विचारानुसार बालक प्रारम्भिक कक्षाओं में सूक्ष्म विचारों को नहीं समझ सकते अतएव वे सूक्ष्म विचारों से सम्बन्धित शिक्षा का विरोध करती हैं और ज्ञानेन्द्रियों की शिक्षा पर बल देती हैं।

विभिन्न इन्द्रियों के शिक्षण के लिए बालकों को विभिन्न प्रकार के शिक्षोपकरण दिये जाते हैं। ये शिक्षोपकरण एक समय में एक ही इन्द्रिय को सक्रिय बनाते हैं। जो शिक्षोपकरण ज्ञानोन्द्रियों के शिक्षण के लिए प्रयुक्त किये जाते हैं वे इस प्रकार हैं।

1—Language teaching.

(१) छड़ें लगी हुई ठोस लकड़ी के तीन कुलक[२]। बालक का ध्यान सबसे पहिले इन टुकडों की ओर आकर्षित होता है। प्रत्येक टुकड़े मे दस छोटे-छोटे बेलनों की एक पंक्ति लगी होती है तथा इनको पकड़ने के लिए एक बटन भी लगा रहता है। इन तीन लकड़ी के टुकड़ों में बेलनों के व्यास तथा ऊंचाई में भी अन्तर होता है। पहिले लकड़ी के टुकड़े में बेलन एक ही ऊंचाई के होते हैं परन्तु उनके व्यास मे भिन्नता होती है। द्वितीय में वे ऊंचाई तथा आकार दोनों में विभिन्न होते हैं और तृतीय में व्यास तो सबमें एक ही होता है परन्तु उनकी ऊंचाई में विभिन्नता होती है। बालक बेलनों को निकालता है। इधर उधर उनको मिला देता है और फिर उन्हें उनके उपयुक्त स्थान पर रखने की चेष्टा करता है। इस शिक्षोपकरण द्वारा उनकी स्पर्शेन्द्रिय का प्रशिक्षण हो जाता है। इस प्रकार बालक अपनी त्रुटियों को स्वयं सुधारना सीख लेता है।

(२) दूसरा यंत्र जो ज्ञानोन्द्रियो के प्रशिक्षण के लिए बालकों को दिया जाता है उसमें ठोस टुकड़ों के तीन सेट होते है जिनमें निम्नलिखित वस्तुएं होती हैं—

(क) लाल रंग के घनाकार टुकड़े।

(ख) भूरे संक्षेत्र।

(ग) छड़ें—हरे रंग की, तथा क्रम से लाल, नीली रंगी हुई।

लाल रंग के घनाकार काठ के टुकड़ों की सहायता से बालक मीनार बनाता है। मीनार के बनाने में बालक सीख जाता है कि सबसे बड़ा टुकड़ा कहाँ रखना चाहिए और सबसे छोटा कहाँ। इससे उसकी नेत्रेन्द्रिय का शिक्षण हो जाता है। उसे ऊंचाई का ज्ञान हो जाता है तथा छोटे एवं बड़े के सम्बन्ध में उसके विचार स्पष्ट हो जाते हैं। इस यन्त्र में एक छोटा आयताकार तख्ता भी होता है। इस तख्ते के दो भाग होते हैं एक चिकना तथा दूसरा खुरदुरा। इससे बालक को चिकनी तथा खुरदुरी सतह का ज्ञान हो जाता है।

इनके अतिरिक्त जो यंत्र शिक्षण में प्रयुक्त किये जाते हैं वे हैं—

(३) विभिन्न आकृतियों कीं ठोस ज्यामितीय वस्तुएं (बेलन, गोला, शंकु स्तूप इत्यादि)

(४) आयताकार मेजें जिनकी सतह खुरदुरी और कुछ की चिकनी होती है।

(५) भिन्न भिन्न प्रकार के ऊनों के गोले।

(६) विभिन्न वजन के छोटे लकड़ी के टुकड़े।

(७) दो सन्दूक जिनमें ६४ रंगीन गोलियाँ होती हैं।

1—Sets.

(८) दराजों की एक पेटी जिसमें ठोस चीजें रखी रहती हैं।

(९) कागज के ऐसे कार्डों की तीन मालाऐं जिन पर तरह तरह की ज्यौमितीय आकृतियाँ चिपकी हुई रहती है।

(१०) बेलनाकार बन्द सन्दूकों का संग्रह।

(११) संगीत करने वाली घन्टियो की दोहरी मालाएं। लकड़ी के बने हुए बोर्ड जिनमें संगीत में काम मे आने वाली लकीरें बनी हुई हों तथा सुरों के लिए लकड़ी के छोटे छोटे टुकड़े।

इन सब यन्त्रो का उपयोग करके बालक की विभिन्न ज्ञानोन्द्रियों का प्रशिक्षण हो जाता है।

उपर्युक्त उपकरण मे नेत्रेन्द्रिय का विकास विभिन्न रंगों की टिकियों को देकर किया जाता है। इन टिकियो मे और सब बातें तो एकसी होती हैं परन्तु रगों मे विभिन्नता होती है। बालक से एक समय में एक ही रंग की टिकिया को निकलवाया जाता है। इस प्रकार वे रंगो की पहिचान करना सीख जाते है और उनकी दृष्टि इंद्रिय प्रशिक्षित हो जाती है। इसी प्रकार से अन्य इंद्रियों का भी प्रशिक्षण किया जाता है।

रगों की स्मृति के विकास के लिए ऊपर नम्बर सात पर वर्णन किया हुआ यन्त्र प्रयुक्त होता है। प्रत्येक सन्दूक मे जो ६४ गोलियाँ होती हैं उनमें से आठ विभिन्त रंग की होती हैं और इन प्रत्येक आठ मे से हर एक के एक ही रंग के आठ विभिन्न छायारंग होते हैं। बालक से पहिले विभिन्न रगों के जोड़े बनाने को कहा जाता है जिससे कि वह रंगों के जोडों की पहिचान करना सीख जायँ फिर इसके पश्चात् एक ही रंग के विभिन्न छाया रंग के जोड़े बनाने को कहा जाता है जिससे कि उसे एक रंग के विभिन्न छाया रंग क्या होते हैं इसकी जानकारी प्राप्त हो और वह प्रत्येक रंग के विभिन्न छाया रंगो की पहिचान कर सके।

एक उपकरण जो ज्यौमित की प्राकृतियों का ज्ञान देता है तथा नेत्रेन्द्रिय एवं स्पर्शेन्द्रिय को शिक्षित करता है वह एक ऐसा बड़ी मन्जूसा होती है जिसमे छः दराजें होती हैं। इन सभी दराजों के फर्श पर छः प्रकार की ज्यौमितीय आकृतियाँ बनी हुई होती हैं। प्रत्येक दराज में एक ही प्रकार की ज्यौमित की आकृति होती हैं परन्तु उस आकृति की नापें विभिन्न होती हैं। जैसे यदि एक त्रिभुज की आकृति को एक दराज में प्रयुक्त करना है तो जो छः आकृति बनी होंगी वे एक बड़े त्रिभुज की और उससे छोटे की तथा इसी प्रकार विभिन्न त्रिभुजों की होगी। छः ज्यौमितीय आकृति जो प्रत्येक दराज मे होती हैं वे वृत, त्रिभुज आयत इत्यादि की होती है। इस यन्त्र में प्रत्येक दराज के फ़र्श पर

ज्यौमितीय आकृति बनी होती है और उसी आकृति को बनाने वाले लकड़ी के टुकड़े उसमें होते है। दराजों में से लकड़ी के टुकड़ों को निकाल दिया जाता है और फिर बालक को फर्श पर बनी हुई आकृति को देखकर उन्हें यथा स्थान रखना होता है। इस यंत्र द्वारा बालकों को लिखने तथा ड्राइंग करने के लिए भी तैयार कर दिया जाता है।

डा० मान्टेसरी ने विभिन्न प्रकार के उपकरणों का अविष्कार ध्वनि, घ्राण तथा स्वाद की ज्ञानोन्द्रियों के प्रशिक्षण के लिए भी किया है। ऊपर जिस उपकरण का वर्णय नम्बर ग्यारह पर किया गया है वह ध्वनि की ज्ञानेन्द्रिय के प्रशिक्षण में प्रयुक्त होती है। यह गायन के प्रशिक्षण में बहुत उपयोगी होती है। घ्राण और स्वाद की ज्ञानेन्द्रिय के प्रशिक्षण के लिए बोतलों में काफी, चीनी, नमक इत्यादि भर कर रख दिया जाता है और बालकों से उन्हें चखने एवं सूंघने को कहा जाता है।

हम अन्त में कह सकते है कि ज्ञानेन्द्रियों की शिक्षा में प्रत्येक यंत्र का प्रयोग इस प्रकार होता है—

(१) समानताओं की पहचान समान वस्तुओं के जोड़े बनाना तथा उन्हें उचित स्थान पर रखना।

(२) पदार्थों में दीखने वाली विभिन्नता को पहचानना।

(३) एक से प्रतीत होने वाले पदार्थों में विभिन्नता को पहिचान।

भाषा और गणित[1]

डा० मॉन्टेसरी बालक को सर्वप्रथम लिखना सिखाने के पक्ष में है। उनका विचार है कि बालक लिखना सीखते सीखते पढ़ना भी सीख जायगा। जो शिक्षोपकरण बालक की मांसपेशियों के प्रशिक्षण के लिए होते हैं उन्हीं के साथ खेलते खेलते बालक पेन्सिल या कलम पकड़ना सीख जाता है और वह लिखना आरम्भ कर देता है। अतएव मान्टेसरी भाषा-शिक्षण में लिखने को प्राथमिकता देती है। लिखना इसलिए भी आसान होता है क्योंकि इसमें शुद्ध उच्चारण एवं लय की आवश्यकता नहीं होती जिनका पढ़ने में महत्वपूर्ण स्थान है।

लिखना

जब बालक लगभग चार वर्ष का होता है तब उसे लिखना सिखाया जाता है। बालक लिखना सीखने से पहिले अपनी मांसपेशियों में सन्तुलन करना सीख लेता है। विभिन्न प्रकार की शारीरिक क्रियाओं के करने के द्वारा उसमें एक प्रकार की कार्य करने की स्वतन्त्रता आजाती है और वह अपने कार्यों को

1—Language, Arithmetic.

वातावरण के अनुकूल बनाने में सफल होता है। मान्टेसरी के अनुसार लिखने के शिक्षण तीन क्रियायें कराना आवश्यक हैं—(१) कलम, पेन्सिल इत्यादि पकड़ने का अभ्यास—इसके लिए कागज या पाटी पर रेखागणित की विभिन्न आकृतियाँ खींचकर बालकों से उनकी रेखाओं पर स्याही या खड़िया भरवाने का अभ्यास कराना चाहिए। इस प्रकार का अभ्यास करने से बालक कलम या पेन्सिल का पकड़ना सीख लेते हैं (२) अक्षरों का स्वरूप समझना : रेकमाल कागज़ पर कटे अक्षरों पर बालकों से अंगुलियाँ फेरने को कहा जाता है इस प्रकार बालकों को अक्षरो के रूप के सम्बन्ध में ज्ञान हो जाता है तथा (३) रेकमाल कागज के अक्षरों पर उंगली फेरते समय बालक उसकी ध्वनि उच्चारित करता है। इस प्रकार बालक अक्षर और उसकी ध्वनि में साहचर्य्य स्थापना कर लेता है। फिर वह ध्वनि से शब्द को पहिचानने लगता है और बार बार ऐसा करने से वह इस अक्षर और ध्वनि का सम्बन्ध अपने मस्तिष्क में दृढ़ कर लेता है। जब इस प्रकार का अभ्यास हो जाता है तो बालक स्वतः लिखना आरम्भ कर देता है। मान्टेसरी के अनुसार यह "लेखन का विस्फोट"[1] कहलाता है। इस प्रकार से सीखने से बालक को डेढ़ माह में ही लिखना आजाता है।

पढ़ना

मान्टेसरी विधि में पढ़ना सिखाने के लिए पहिले कागज़ या श्यामपट पर लिखी हुई परिचित वस्तुओं का वाचन कराया जाता है। बालक लिखना सीखने में ही बहुत से शब्दों की ध्वनि को सीख जाता है अतएव पढ़ना सीखने में वह सरलता से परिचित शब्दों की ध्वनियो का ठीक से उच्चारण करने लगता है। जब ऐसा करने लगता है तब शिक्षिक बालक से पूरे शब्द को कई बार दोहरवाता है। जब बालक के मस्तिष्क में जो कुछ भी शब्द की ध्वनि है वह दृढ़ हो जाती है तो शिक्षिका बालक से उस वस्तु के नीचे रखने के लिए कहती है जिसका कि वह नाम होता है। बालक लिखना सीखने के पन्द्रह दिन के अन्दर ही पढ़ना सीख जाता है। क्योंकि जो कुछ भी क्रियाएं सीखने के लिए होती हैं वे पढ़ने की ओर भी लेजाने वाली होती है।

(३) गणित

गणित के सिखाने के लिए इस प्रणाली में लम्बी सीढ़ियों का उपयोग किया जाता है। ये सीढ़ियाँ लकड़ी के दस ऐसे टुकड़ों के मिल कर बनती हैं

1—Outburst of writing.

जिनकी लम्बाई एक से दस डेसीमीटर तक होती है। इसके अतिरिक्त गिनती सिखाने के लिए गोलियों इत्यादि की सहायता भी ली जाती है।

मान्टेसरी पद्धति में गुण

मान्टेसरी पद्धति में निम्नलिखित गुण हैं—

(१) मान्टेसरी पद्धति वैज्ञानिक है क्योंकि इसमें अनुभव तथा परीक्षण पर बल दिया जाता है।

(२) अल्प आयु के बालकों के लिए यह पद्धति बहुत उपयोगी है। बालक शिक्षोपकरणों से खेलकर बहुत कुछ सीख लेते हैं।

(३) इस पद्धति में ज्ञानेन्द्रियों की शिक्षा पर जो बल दिया जाता है उससे अधिकतर शिक्षा शास्त्री सहमत हैं। ज्ञानेन्द्रियों की शिक्षा जब तक उचित ढङ्ग से नहीं होगी तब तक बालक कुछ भी ज्ञान ग्रहण करने में असमर्थ रहेगा।

(३) इस पद्धति की मुख्य विशेषता यह है कि यह बालक की स्वतन्त्रता में आस्था रखती है। कक्षा में बालक को अपनी अर्न्तनिहित शक्तियों का विकास करने की पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त होती है।

(५) लिखना सिखाने के लिए यह पद्धति अद्वितीय है। इस पद्धति द्वारा लिखना बहुत शीघ्र ही आ जाता है। यह पद्धति लिखने के पश्चात पढ़ना तथा गणित भी बड़े ही मनोवैज्ञानिक ढङ्ग से सिखाती है।

(६) इस पद्धति में स्वः क्रिया द्वारा सीखने पर बल दिया जाता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से यह एक अत्यन्त अच्छी विधि है। इसमें बालक स्वयं सक्रिय रहता है और अपनी सक्रियता के आधार पर ही शिक्षा ग्रहण करता है। उसमें आत्म-विश्वास, आत्म-निर्भरता एवं आत्म-प्रकाशन की भावनाएँ जागृत हो जाती हैं।

(७) इस पद्धति में बाहर से कोई अनुशासन नहीं थोपा जाता। बालक 'आत्म-संयम' द्वारा स्वयं अनुशासित रहते हैं। उनके ऊपर किसी प्रकार का बाहरी हस्तक्षेप या दबाव नहीं होता।

(८) इस पद्धति में जो प्रायोगिक कार्य कराये जाते हैं उनका सामाजिक महत्व होता है। बालक जब उन क्रियाओं को करता है जो व्यावहारिक हैं तो उसमें व्यावहारिकता तथा सामाजिकता के गुणों का विकास हो जाता है।

मान्टेसरी पद्धति के दोष

उपरोक्त शिक्षण पद्धति के गुणों का विवेचन करने के उपरान्त हम इस पद्धति के दोषों पर भी दृष्टिपात करेंगे। इन दोषों के प्रति किलपैट्रिक महोदय

ने अपनी पुस्तक "मान्टेसरी एक्जामिन्ड"[1] में तथा विलियम स्टर्न[2] महोदय ने अपनी पुस्तक "साँइकोलॉजी आफ अर्ली चाइल्डहुड"[3] में इस पद्धति की आलोचना की है। यहाँ हम इन शिक्षा-शास्त्रियों एवं अन्य विद्वानों के द्वारा प्रस्तुत की हुई मॉन्टेसरी पद्धति की आलोचनाओं का वर्णन करेंगे।

(१) मान्टेसरी पद्धति का मुख्य दोष यह है कि इसमें एक समय में केवल एक ही इन्द्रिय के प्रशिक्षण पर बल दिया जाता है। इस प्रकार प्रत्येक ज्ञानेन्द्रिय का शिक्षण अलग-अलग किया जाता है। परन्तु वास्तविक जीवन में ऐसा नहीं होता। समस्त ज्ञानेन्द्रियों का प्रतिक्षण एक साथ ही होता है। किसी भी कार्य के करने मे मन एक इकाई के रूप में कार्य करता है। यदि इन्द्रियों का प्रशिक्षण अलग-अलग देने पर बल दिया जाय तो ऐसा भान होने लगता है कि "शक्ति मनोविज्ञान" का आधार लेकर ही मान्टेसरी ऐसी शिक्षा पर बल देती है; परन्तु शक्ति मनोविज्ञान आज ठुकराया जा चुका है। अतः शक्ति मनोविज्ञान पर पर आधारित शिक्षण विधि को उचित नहीं समझा जा सकता।

(२) मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से मान्टेसरी पद्धति में जो दूसरा दोष है वह यह कि मान्टेसरी तीन से सात वर्ष के बालक में उच्चकोटि की मानसिक क्रियाओं का अभाव समझती है और यह मानती है कि इस आयु में बालक को केवल ज्ञानेन्द्रिय अनुभव ही प्राप्त होते हैं। वास्तव में तीन वर्ष की आयु के बालक में भी मानसिक क्रियायें होती हैं उसको केवल ज्ञानेन्द्रियों की शिक्षा ही पर्याप्त नहीं है। ऐसी शिक्षा उसकी जिज्ञासा शान्त करने मे असफल ही रहती है अतएव ज्ञानेन्द्रियों की शिक्षा के साथ-साथ मानसिक विकास के लिये भी शिक्षा देना आवश्यक है।

(३) तीसरी अमनोवैज्ञानिक बात जो इस विधि मे है वह यह है कि इस पद्धति मे बालक अक्षर और शब्द से चलकर वाक्य का ज्ञान प्राप्त करता है। परन्तु आधुनिक मनोविज्ञान के गेस्टाल्ट सम्प्रदाय के अनुसार बालक को सम्पूर्ण वस्तु का ज्ञान कराना चाहिए। पूर्ण का ज्ञान पहिले होना चाहिए और फिर उसका भागों में विश्लेषण होना चाहिए। इस प्रकार वाक्य या शब्द से चलकर अक्षरों का बोध बालक को कराना चाहिए।

(२) मान्टेसरी द्वारा उपयोग किये जाने वाले शिक्षोपकरणों की भी आलोचना की जाती है। यह कहा जाता है कि शिक्षोपकरणों के प्रयोग करने से बालक का एकाङ्गी विकास होता है। ये यन्त्र बालक की शिक्षा को यंत्रवत् बना देते हैं। वे जीवन की वास्तविकताओं से परिचित न होकर बनावटी

---

2 - Montessori Examined, 2—William Stern, 3—Psychology of early Childhood.

वस्तुओं के सहारे सीखने की चेष्टा करता है। इस प्रकार उसका शिक्षण अपूर्ण ही रहता है।

(५) इस पद्धति में बालकों को पूर्ण स्वतन्त्रता नहीं होती जो शिक्षोपकरण उसे दिये जाते है उनसे ही उसे खेलना होता है। वह अपनी स्वाभाविक क्रियाओं को जैसे चाहे वैसे नहीं कर सकता वरन् उसे एक निश्चित प्रकार से ही शिक्षोपकरण का प्रयोग करके अपनी अन्तर्निहित शक्तियों का विकास करना होता है।

(६) शिक्षोपकरण काफी महंगे होते हैं जिनका उपयोग भारत के साधारण विद्यालयों में होना अत्यन्त कठिन है। निर्धन भारत प्रत्येक विद्यालय के लिए इनका आयोजन नहीं कर सकता।

(७) शिक्षोपकरण द्वारा शिक्षा देना तो अच्छा है परन्तु इस प्रकार से दी जाने वाली शिक्षा में शिक्षक का कोई महत्व नहीं। वह अपने व्यक्तित्व से बालकों को अधिक प्रभावित नहीं कर सकता क्योंकि जो कुछ भी उनको सीखना है वह तो शिक्षोपकरण द्वारा ही सीखा जायगा अतएव शिक्षक अपनी ओर से बालकों को शिक्षा देने मे न कुछ घटा सकता है न बढ़ा।

(८) मान्टेसरी पद्धति में सामाजिकता की भावना की ओर भी कोई विशेष ध्यान नहीं दिया जाता। बालकों में सामाजिक एवं सामूहिक कार्य करने की भावना को प्रोत्साहन नहीं मिलता है।

(९) इस पद्धति में कल्पनात्मक एवं क्रियात्मक खेलों का अभाव है। मान्टेसरी बालकों को परियों की कहानी इत्यादि से दूर रखना चाहती हैं। वे बालकों की कल्पना को प्रोत्साहित करने के पक्ष में नहीं है। उसका विचार है कि किस्से कहानियाँ बालक को यथार्थता मे दूर ले जाते हैं। अतएव उनकी पद्धति में कल्पना का कोई स्थान नहीं। परन्तु यह दृष्टिकोण ठीक नहीं है। मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से बालक के विकास में कल्पना का भी बहुत महत्व होता है। कल्पना के द्वारे बालक की बहुत सी मूल-प्रवृत्यात्मक इच्छाओं की पूर्ति हो जाती है। कल्पना की बहुलता दोषपूर्ण है न कि किसी भी रूप में कल्पना का विकास। यदि कल्पना का विकास न होगा तो बालक कभी भी अच्छा लेखक, कवि या वैज्ञानिक नहीं बन सकेगा।

(१०) इस पद्धति में समय बहुत नष्ट होता है। ज्ञानेन्द्रियों की शिक्षा साधारण बालकों की विद्यालय के बाहर भी हो जाती है। परन्तु इस विधि में साधारण एवं मन्द बुद्धि के बालकों, सबको काफी समय तक ज्ञानेन्द्रियों की

शिक्षा ग्रहण करनी होती है। इससे मन्द बुद्धि बालक तो लाभ उठा सकते हैं परन्तु साधारण बालकों का समय ही नष्ट होता है।

उपरोक्त वर्णिन दोष हालांकि काफी गम्भीर हैं फिर भी इतने नहीं कि इस पद्धति को ठुकरा दिया जाय। वास्तव में छोटे बालकों को शिक्षा देने में यह पद्धति बहुत ही सफल होती है। इस पद्धति में फ्रोबेल, पेस्टॉलॉजी, रूसों इत्यादि सब शिक्षा शास्त्रियों के मतों का समावेश है फिर भी इस पद्धति का भारत में प्रयोग करने के लिए इसमें बहुत कुछ हेर फेर की आवश्यकता है।

सारांश

मान्टेसरी प्रणाली की जन्मदात्री मेरिया मान्टेसारी का जन्म १८७० ई० में हुआ था। इन्हें सन् १९०७ में उन्हें अपनी नवीन शिक्षण पद्धति को व्यवहारिक रूप देने का अवसर मिला। इन्हीं दिनों उन्होंने एक ऐसा विद्यालय खोला जिसका नाम "बच्चों का गृह रखा"।

मान्टेसरी प्रणाली के शैक्षिक सिद्धान्त ये हैं—(१) बालक को शिक्षा उसकी स्वाभाविक विकास की शक्तियों को उभार कर, देनी चाहिए (२) बालक को अपनी अन्तर्निहित शक्तियों को प्रकट करने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए (३) बालक की शिक्षा में आत्म-शिक्षण को महत्व दिया जाना चाहिए (४) बालक को व्यक्तिगत रूप से शिक्षा देनी चाहिए (५) शिक्षा देने में खेल को महत्व देना चाहिए (६) मांसपेशियों को शिक्षा देना चाहिए, तथा (७) ज्ञानेन्द्रियों की शिक्षा को महत्वपूर्ण स्थान देना चाहिए।

मान्टेसरी पद्धति पर आधारित जो विद्यालय खोले जाते हैं उन्हें बाल-भवन कहते हैं। बालभवन की इमारत मे एक बड़ा सा कमरा होता है जिसमें बालक बैठकर सीखते हैं। इस कमरे से मिले हुए कई छोटे-छोटे कमरे होते हैं। इन कमरों से मिला हुआ एक बागीचा होता है।

बाल-भवन की सज्जा इस प्रकार होती है कि बालक सरलता से इसमें रखी हुई कुर्सियाँ मेजों इत्यादि का उपयोग कर सकें। बड़े कमरे में शिक्षोप-करण रखे रहते है जिनके साथ खेल कर बालक शिक्षा प्राप्त करते हैं। बालघर में बालक स्वयं ही हर कार्य को करते हैं।

मान्टेसरी की शिक्षण विधि को तीन भागों में बाँटा जा सकता है (१) कर्मेन्द्रियों की शिक्षा (२) ज्ञानेन्द्रियों की शिक्षा और (३) भाषा की शिक्षा। बालघर में शिक्षोपकरण की सहायता से तथा बालकों को अपना कार्य स्वयं करने को प्रोत्साहित करने से कर्मेन्द्रियों की शिक्षा प्रदान की जाती है। ज्ञानेन्द्रियों की शिक्षा शिक्षोपकरण द्वारा दी जाती है। विभिन्न इन्द्रियों के शिक्षण

के लिए बालकों को विभिन्न शिक्षोपकरण दिये जाते हैं। भाषा से शिक्षण में मान्टेसरी बालक को पढ़ने से पहिले लिखना सिखाने के पक्ष में है। गणित के शिक्षण के लिए विशेष प्रकार के शिक्षोपकरण का प्रयोग किया जाता है।

मान्टेसरी पद्धति में गुण—(१) यह वैज्ञानिक है (२) अल्प आयु के बालकों के लिये उपयोगी है (२) ज्ञानेन्द्रियों की शिक्षा पर बल दिया जाता है (४) बालक को स्वतन्त्रता प्रदान करती है (५) लिखना सिखाने के लिए यह पद्धति अद्वितीय है (६) इस पद्धति में क्रिया द्वारा सीखने पर बल दिया जाता है (७) आत्म-संयम के सिद्धान्त द्वारा अनुशासन रखा जाता है (८) प्रायोगिक कार्य का सामाजिक महत्व है।

मान्टेसरी पद्धति में ये दोष हैं—(१) इसमें एक समय में केवल एक ही इन्द्रिय के प्रशिक्षण पर बल दिया जाता है (२) केवल इन्द्रिय प्रशिक्षण पर ही बल दिया जाता है (३) बालक अक्षर से चलकर शब्द और वाक्य सीखता है (४) शिक्षोपकरण का उपयोग करने में बालक का विकास एकांगी होता है (५) बालक को पूर्ण स्वतन्त्रता नहीं होती (६) शिक्षोपकरण काफी महँगे होते हैं (७) शिक्षक का इसमें कोई महत्व नहीं होता (८) सामाजिक भावना की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया जाता (९) कल्पना का विकास करने को कोई स्थान नहीं होता (१०) समय बहुत नष्ट होता है।

अध्ययन के लिए महत्वपूर्ण प्रश्न

१. मान्टेसरी पद्धति में क्या विशेषताएं हैं? इन विशेषताओं के आधार पर इस पद्धति का मूल्यांकन कीजिए।
२. मान्टेसरी पद्धति किन सिद्धान्तों पर आधारित है। उन सिद्धान्तों का विवेचन कीजिए।
३. शिक्षोपकरण से आप क्या समझते है? मान्टेसरी पद्धति के अनुसार कौन से शिक्षोपकरण का उपयोग आवश्यक रूप से करना चाहिए?
४. मान्टेसरी पद्धति में शिक्षक के स्थान पर प्रकाश डालिए।
५. मान्टेसरी पद्धति के दोष एवं गुणों की विवेचना कीजिए।
६. भारतवर्ष के विद्यालयों में मान्टेसॉरी पद्धति को किस रूप में अपनाया जा सकता है? अपने विचारों का स्पष्टीकरण कीजिए।

सहायक पुस्तकों की सूची

(१) मान्टेसरी, मेरिया : **मान्टेसरी मैथड**।
(२) क्लिपैट्रिक : **मान्टेसरी एकजामिन्ड**।

(३) स्टर्न, विलियम : **साइकोलॉजी आफ अर्ली चाइल्डहुड** ।
(४) मिश्र, आत्मानन्द : **शिक्षण-कला**, प्रयाग, गर्ग ब्रदर्स ।
(५) अग्रवाल, ऐम० के० : **शिक्षा के तात्विक सिद्धान्त**, मेरठ, राजेश पब्लिशिंग हाउस ।
(६) भाटिया बी० डी०, कमला भाटिया : **शिक्षण पद्धति और सिद्धान्त**, दिल्ली, द्वाबा हाउस ।
(७) खान, ऐफ० बी०, सक्सेना मनोहरस्वरूप : **मार्डन एजूकेशनल डवलॅप-मेन्टस**, कानपुर गौतम ब्रदर्स ।

अध्याय १६

प्रोजेक्ट प्रणाली

प्रोजेक्ट शब्द का प्रयोग सबसे पहिले रिचार्ड्स[1] महोदय ने सन् १९०० में किया था। रिचार्डस महोदय कोलम्बिया विश्वविद्यालय के प्रशिक्षण विद्यालय में मैन्युल ट्रेनिङ्ग विभाग के प्रधान थे। इन्होने प्रोजेक्ट शब्द का उपयोग उस स्थान पर किया जहाँ बालक एक वास्तविक समस्या को स्वयं अपनी योजना बना कर तथा यह निर्धारित करके कि योजना के सफल होने में किन पदों का प्रयोग करना पड़ेगा, हल करने की चेष्टा करता है। इसके पश्चात सन् १९०८ मे स्टीवेन्सन[2] महोदय ने मैसेच्युस्टैस मे औद्योगिक विद्यालयो मे कृषि के पाठ्य-क्रम के सम्बन्ध में इसका प्रयोग किया। सन् १९११ मे मैसेच्युस्टैस के "स्टेट बोर्ड ऑफ एडूकेशन"[3] की रिपोर्ट में इस शब्द का वर्णन किया गया। इस रिपोर्ट ने कृषि की शिक्षा को माध्यमिक विद्यालयों मे प्रोजेक्ट विधि से पढ़ाने को मान्यता प्रदान की। फिर इस विधि का वर्णन सन् १९१८ के "फैडरल बोर्ड ऑफ वोकेशनल एडूकेशनल"[4] मे मिलता है। परन्तु इस विधि को एक शिक्षा-प्रणाली का व्यावहारिक रूप देने वाले किलपैट्रिक[5] महोदय ही हैं। इन्होंने पारकर[6], डीटवी,[7] मेरियन[8] इत्यादि शिक्षा शास्त्रियो के शैक्षिक सिद्धान्तों पर इस प्रणाली को आधारित किया।

प्रोजेक्ट शब्द की परिभाषा

किलपैट्रिक महोदय ने प्रोजेक्ट की इस प्रकार परिभाषा दी है **प्रोजेक्ट वह**

1—Richards, 2—Stevenson, 3—State Board of Education 4—Federal Board of Vocational Education, 5—Kilpatrick, 6—Parker, 7—Dewey, 8—Merian.

सहृदय उद्देश्यपूर्ण कार्य होता है जो पूर्ण संलग्नता के साथ सामाजिक वातावरण में किया जाय। यह परिभाषा किलपैट्रिक ने सितम्बर १९१८ में दी थी। फिर १९२१ में किलपैट्रिक ने इस परिभाषा में और सुधार किये। अब उन्होंने जो परिभाषा की वह इस प्रकार थी प्रोजेक्ट "सोद्देश्य अनुभव की कोई इकाई, सोद्देश्य क्रिया का कोई उदाहरण है जहाँ पर कि आधिपत्य रखने वाला प्रयोजन एक अन्तर्निहित प्रवृत्ति के रूप मे (१) कार्य के उद्देश्य को निर्धारित करता है, (२) उसकी क्रिया का निर्देशन करता है तथा (३) इसको आन्तरिक प्रेरणा प्रदान करता है।"[1] यह किलपैट्रिक की परिभाषा स्पष्ट रूप से दार्शनिक आधारो पर अवलम्बित है।

प्रोफेसर स्टीवेन्सन प्रोजेक्ट की परिभाषा इस प्रकार देते है कि **"प्रोजेक्ट एक समस्यामूलक कार्य है जो अपनी स्वाभाविक परिस्थितियों के अन्तर्गत पूर्णता को प्राप्त करता है"**[2]

प्रोजेक्ट की उपर्युक्त परिभाषाओं से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रोजेक्ट एक समस्यात्मक ढङ्ग के कार्य की इकाई है जिसको पूर्ण करने के लिए विद्यार्थी स्वयं योजना बनाता है और स्वाभाविक ढङ्ग से उस योजना पर कार्य करता है। वह समस्यात्मक कार्य पूर्ण करने में भौतिक पदार्थों का प्रयोग करता है साधारण कक्षा शिक्षण मे बालक निष्क्रिय श्रोता होता है परन्तु समस्यात्मक कार्य करने में वह एक सक्रिय सीखने वाला हो जाता है। बालक समस्यात्मक कार्य को पूर्ण करने की योजना बनाने मे उन सिद्धान्तों को भी सीख जाता है जो कि इस क्रिया मे महत्वपूर्ण है। इस प्रकार इस पद्धति में सबसे प्रथम एक समस्यामूलक कार्य बालक के सम्मुख प्रस्तुत होता है। बालक इस कार्य को पूर्ण करने के लिए योजना बनाता है जो उसे उन सिद्धान्तों का अवलोकन करा देते हैं जो इस समस्यात्मक कार्य के करने में निहित हैं।

स्टीवेन्सन द्वारा दी हुई परिभाषा में एक और बात ध्यान देने योग्य है वह यह कि जो समस्यामूलक कार्य बालक के सम्मुख प्रस्तुत किया जाता है वह

1—Kilpatrick, W-H., "An Introductory statement : Definition of Terms", in Teachers College Record, Vol. 22, p. 283 (Sept, 1921) : Project is defined as "any unit of purpose, ful experience, any instance of purposeful activity where the dominating purpose, as an inner urge. (1) fixes the aim of the action, (2) guides its process (3) furnishes its drive, its inner motivation."

2—A project is a problematic act carrried to completion in its natural setting.

बालक के वास्तविक जीवन से सम्बन्धित होता है। अतएव विद्यालय में जो कार्य बालक को करने को दिये जाते हैं वे वास्तविक रूप लिए होते है जिनमें बालक को सच्ची रुचि होती है। इस परिभाषा में स्वाभाविक परिस्थितियों के अन्तर्गत कार्य को पूर्णता प्राप्त करने से यह आशय है कि बालक समस्यात्मक कार्य करने मे पदार्थों और अन्य प्रदत्त सामग्री का उपयोग इस प्रकार करता है जैसा कि वह अपने वास्तविक जीवन में करता है। विद्यालय में उसके कार्य करने के ढङ्ग बनावटी नहीं होते वरन् वे वैसे ही होते हैं जैसे कि विद्यालय से बाहर। इस प्रकार स्वाभाविक परिस्थितियों के अन्तर्गत कार्य करने से बालक उन परिस्थितियों की अपेक्षा अधिक सीख जाता है जो कि कृत्रिम होती है।

प्रोजेक्ट पर कार्य करने से बालक समस्या को समझ लेता है। वह उसको हल करने की विधि सीख लेता है और इसके अतिरिक्त पाठ्य-क्रम के विषयों का ज्ञान यथार्थ जीवन की समस्याओं के सम्बन्ध में प्राप्त कर लेता है। उसे समस्यामूलक कार्य को पूर्ण करने के लिए अनेकों विषयों का ज्ञान प्राप्त करना होता है। उस कार्य को पूर्ण करने मे विषयों का ज्ञान प्राप्त करने की आवश्यकता प्रतीत होती है। अतएव वह उस ज्ञान को सीखने की चेष्टा करता है। इस प्रकार वास्तविक परिस्थितियों में जब उसकी रुचि जागृत हो जाती है तो वह स्वतः ही विषय सम्बन्धी ज्ञान को ग्रहण करता है।

प्रोजेक्ट की विशेषताएं

प्रोजेक्ट की विशेषताऐं निम्नलिखित होती हैं—

(१) **प्रयोजन**[1]—प्रोजेक्ट की सबसे पहली विशेषता यह है कि उसमे कोई प्रयोजन होना चाहिए। बालकों के समक्ष जब कोई समस्यामूलक कार्य रखा जाय तो उसे पूरा करने का कोई प्रयोजन, अथवा उद्देश्य आवश्यक है जैसे यदि एक लड़की के सामने अपनी फ्रोक सीने का प्रोजेक्ट रखा जाय तो फ्रोक सीने में क्या प्रयोजन है इसे उसे जानना आवश्यक है। लड़की को ड्रामा खेलना है इसके लिए उसे फ्राक चाहिए। अतएव यहाँ समस्यामूलक कार्य फ्रोक सीना होगया जिसका उद्देश्य ड्रामें में उस फ्रोक को पहिन कर भाग लेना है। इस प्रकार का उद्देश्य सामने होने से बालक बड़ी तत्परता से कार्य करते है और बहुत शीघ्र कार्य करना सीख जाते हैं। प्रत्येक कार्य जब सोद्देश्य होता है तो उसे करने मे बालकों आनन्द आता है और उसकी सफलतापूर्वक समाप्ति पर हमें सन्तोष मिलता है।

(२) **क्रिया शीलता**[2]—प्रोजेक्ट पद्धति में क्रिया को प्रधानता दी जाती है। क्रिया को प्रधानता देने से आशय यही है कि जो कुछ भी बालक सीखे वह

1—Purpose. 2—Activity.

स्वयं सक्रिय रहकर सीखे। "करके सीखना" सीखने की सबसे उत्तम विधि मानी जाती है। इस पद्धति में इस विधि का बहुत ही उचित ढङ्ग से प्रयोग किया जाता है। बालकों को जो कार्य दिये जाते हैं वे उन्हें करके व्यवहारिक रूप से शिक्षा ग्रहण करते हैं। यदि उन्हें उचित प्रकार के कार्य दिये जायं तो वे बालको की बुद्धि, विचार शक्ति, तर्क शक्ति इत्यादि मे वृद्धि करते हैं।

(३) **यथार्थता**[1]—प्रोजेक्ट के समस्यामूलक कार्य में यथार्थता का होना आवश्यक है। जो समस्यात्मक कार्य बालक को प्रस्तुत किए जायं वे वास्तविक होने चाहिए और स्वाभाविक रूप से ऐसी परिस्थिति मे पूरे होने चाहिए जो वास्तविक हैं। वास्तविक परिस्थितियों मे जब बालक काम करते हैं तो वे समस्या के सम्बन्ध में सब आवश्यक तत्वो को समझ लेते है और बहुत कुछ महत्वपूर्ण बातें सीख जाते हैं जो उनके वास्तविक जीवन मे अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होती है। इस प्रकार प्रोजेक्ट की तीसरी विशेषता वास्तविकता भी बहुत महत्वपूर्ण है। वास्तविकता से अभिप्राय यही है कि विद्यालय में जो परिस्थितियाँ बालकों को कार्य करने को दी जायँ। वे विद्यालय के बाहर के जीवन के अनुकूल ही हों। विद्यालय मे जो वातावरण बालकों को प्रदान किया जाय उसमें कृत्रिमता न हो।

(४) **उपयोगिता**[2]—बालक उन्हीं कार्यों के करने मे रुचि लेते हैं जो उनको उपयोगी प्रतीत होते हैं। इस सम्बन्ध मे उनका दृष्टिकोण प्रौढ व्यक्ति की तरह होता है। जो कार्य बालको के लिए उपयोगी हैं और उनकी तत्कालीन आवश्यताओं की पूर्ति से सम्बन्धित होते हैं उन कार्यों के करने में बालकों को प्रेरणा मिलती रहती है और वे उनमें रुचि लेते हैं। अतएव उपयोगिता प्रोजेक्ट की चौथी विशेषता है।

(५) **स्वतन्त्रता**[3]—प्रत्येक प्रोजेक्ट में बालकों को स्वयं अपना कार्य चुनने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए। शिक्षक की योग्यता इसी बात पर निर्भर है कि वह बालकों को इस बात के लिए उत्साहित करे कि जिस प्रोजेक्ट पर शिक्षक कार्य कराना चाहता है उसका प्रस्ताव बालक स्वयं रखे। कार्य करने में उनके ऊपर कोई बन्धन न हो और वे स्वतन्त्रता पूर्वक समस्या को हल करने की योजना बनायें और उन पर कार्य करें।

प्रोजेक्ट के प्रकार

प्रोजेक्ट के मुख्यतः दो प्रकार होते हैं। एक तो व्यक्तिगत प्रोजेक्ट[4] और दूसरे सामूहिक प्रोजेक्ट[5]। व्यक्तिगत प्रोजेक्ट में कोई सामान्य प्रोजेक्ट ले लिया

1—Reality, 2—Utility. 3—Freedom, 4—Individual project, 5—Group Projects.

जाता है तथा प्रत्येक विद्यार्थी को अपने तरीके से स्वयं ही सम्पूर्ण प्रोजेक्ट पर कार्य करने को कहा जाता है । जैसे प्रत्येक बालक को अपनी पूरी पोशाक सीने को कहा जायँ । ऐसे प्रोजेक्ट में प्रत्येक बालक वही कार्य करता है परन्तु इसमें एक दूसरे से सहयोग का स्थान नहीं होता है । एक और प्रकार से व्यक्तिगत प्रोजेक्ट दिये जाते हैं वे यह कि प्रत्येक बालक को एक अलग प्रोजेक्ट पर कार्य करने को कहा जाय ।

सामूहिक प्रोजेक्ट मे एक प्रोजेक्ट पर ही सम्पूर्ण कक्षा मिलकर कार्य करती है । इसमे सहयोग की भावना जागृत हो जाती है । बालक एक दूसरे से मिलकर कार्य करना सीख लेते है । ऐसे प्रोजेक्ट मे विभिन्न बालक प्रोजेक्ट के विभिन्न अगो पर कार्य करते है । प्रयोजनवादी सामूहिक प्रोजेक्ट को ही अच्छा मानते है ।

किलपैट्रिक महोदय प्रोजेक्ट का वर्गीकरण चार प्रकार से करते है । वे इस प्रकार हैं—

(१) **सृजनात्मक या रचनात्मक प्रोजेक्ट**—ऐसे प्रोजेक्ट जिनमे कि यह उद्देश्य होता है कि किसी विचार या योजना को बाह्य रूप से स्पष्ट किया जाय वे रचनात्मक या सृजनात्मक होते है । ऐसे प्रोजेक्टों के उदाहरण हैं नाँव बनाना, पत्र लिखना, ड्रामा इत्यादि प्रस्तुत करना ।

(२) **रसास्वादन या आनन्द के प्रोजेक्ट**[1]—रसास्वादन इत्यादि के प्रोजेक्ट ऐसे होते है जिनमे कि सौन्दर्यनुभूति का उद्देश्य होता है जैसे किसी कहानी का सुनना, या गायन का सुनना या किसी चित्र की रसात्मक अनुभूति करना ।

(३) **समस्यात्मक प्रोजेक्ट**[2]—जब किसी बौद्धिक कठिनाई को हल करने की समस्या बालकों के समक्ष प्रस्तुत की जाती है तो यह समस्यात्मक प्रोजेक्ट कहलाता है जैसे ओस कब और क्यो गिरती है ? दिल्ली की आबादी मे क्यों वृद्धि होती जा रही है ?

(४) **अभ्यास या विशिष्ट सीखने के प्रोजेक्ट**[3]—ये ऐसे प्रोजेक्ट होते हैं जिनमें कि उद्देश्य यह होता है कि किस सीमा तक बालको ने कौशल या ज्ञान को सीख लिया है । इस प्रकार के प्रोजेक्ट के उदाहरण हैं एक निश्चित सीमा तक लिखना सीखना या निश्चित स्तर तक जोड़ना सीखना इत्यादि ।

ऐलसवर्थ कोलिन्स के अनुसार प्रोजेक्ट के प्रकार ये हैं (१) खेल प्रोजेक्ट (२) सैर-सपाटे वाले प्रोजेक्ट (३) कहानी प्रोजेक्ट तथा (४) नैतिक प्रोजेक्ट ।

1—The appreciation or enjoyment project, 2—The problem project, 3—The drillor specific learning project,

प्रोजेक्ट प्रणाली की कार्य-पद्धति

एक प्रोजेक्ट को पूर्ण करने के लिए इन चार पदों की आवश्यकता होती है: (१) उद्देश्य निर्धारित करना[1] (२) कार्यक्रम बनाना[2] (३) योजना को क्रियान्वित करना[3] तथा (४) कार्य का पूरा करना[4]। प्रस्तुत प्रथम पद के हम दो भाग कर सकते हैं (क) परिस्थिति उत्पन्न करना[5] तथा (ख) योजना चुनना[6]। इसके अतिरिक्त एक पद अन्त में और जोड सकते है वह है कार्य का लेखा रखना।[7] यहाँ पर हम इन पदों का एक एक करके वर्णन करेगें।

(१) उद्देश्य निर्धारित करना

(क) **परिस्थिति उत्पन्न करना**—प्रोजेक्ट को निर्धारित करने मे यह आवश्यक है कि बालक प्रोजेक्ट को स्वयं चुने। इसके लिए शिक्षक को ऐसी परिस्थितियाँ को उत्पन्न करना चाहिए जिससे कि बालकों को उचित प्रोजेक्ट चुनने मे सहायता मिले। शिक्षक किस प्रोजेक्ट पर कार्य कराना चाहता है बालक के समक्ष उसे इस प्रकार समस्यात्म रूप मे रखे कि बालक उस समस्या को हल करने की योजनाएं प्रस्तुत करने लगे। जो योजनाएं बालक प्रस्तुत करें उन पर शिक्षक तथा दूसरे विद्यार्थियों द्वारा विचार विमर्श होना चाहिए। इस प्रकार स्वतंत्रता पूर्वक विचार विमर्श करने से बालक उस प्रोजेक्ट की ओर आकर्षित होने लगेगा जो शिक्षक उससे कराना चाहता है।

(२) **योजना चुनना**—जब बालक यह अनुभव करने लगता है कि कोई प्रोजेक्ट उसे चुनना है तथा उस पर कार्य करना है तब वह उस सम्बन्ध में योजनाऐं प्रस्तुत करता है। वे इस समय शिक्षक को चाहिए कि उसे अपने प्रस्तावों को रखने की पूर्ण स्वतंत्रता दे दे। फिर इन योजनाओं पर वाद-विवाद प्रोत्साहित करना चाहिए ताकि योजनाओं की वे बातें चुनी जा सकें जिनसे सब विद्यार्थी सहमत है तथा वे प्रोजेक्ट को पूर्ण करने मे उपयोगी हैं। शिक्षक बालकों को योजना चुनने में बहुत सहायता पहुँचा सकता है। वह बालकों द्वारा प्रस्तुत योजनाओं में गुण एवं दोषो की ओर उनका ध्यान आकर्षित कर सकता है। वह योजना मे उन बातों का स्पष्टीकरण कर सकता है जिन्हें बालक समझ नही पाये हैं। इस प्रकार शिक्षक को बालको का पथ-प्रदर्शन इस प्रकार करना चाहिए कि वे उस प्रोजेक्ट को चुनें जो शैक्षणिक दृष्टिकोण से सबसे मूल्यवान है।

(३) **कार्यक्रम बनाना**—योजना या प्रोजेक्ट चुनने के पश्चात् तीसरा पद

1—Purposing 2—Planning, 3—Execution, 4—Judging, 5—Creating the situation, 6—Choosing the project, 7—Recording.

उस योजना को पूर्ण करने का कार्यक्रम बनाना है। इसके लिए भी बालकों को स्वयं ही कार्यक्रम प्रस्तुत करना चाहिए। शिक्षक को यह पथ-प्रदर्शन करना आवश्यक है कि बालक जो कुछ भी कार्यक्रम बनाये स्वाभाविक परिस्थितियों में पूर्ण होने वाला हो। बालक जब अपने कार्यक्रम प्रस्तुत करें तो उन पर वाद विवाद को प्रोत्साहित करना चाहिए। अन्त में जो भी कार्यक्रम चुने जायँ उस पर विद्यार्थियों द्वारा खूब विचार विमर्श होना चाहिए। कार्यक्रम बनाने में यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि प्रत्येक विद्यार्थी को उसकी योग्यता के अनुसार कार्य करने को मिले। सामूहिक प्रोजेक्ट में सारी कक्षा मिलकर एक प्रोजेक्ट पर कार्य करती है। प्रोजेक्ट के विभिन्न बालक कार्य करते हैं। शिक्षक को बालकों को प्रोत्साहित करना चाहिए कि वे अपनी रुचि के अनुसार उन अङ्गों को चुन लें जिन पर वे कार्य करना चाहते है। शिक्षक को यह देखना चाहिए कि जो कार्य बालको को मिले है वे उनकी योग्यता के अनुसार ही है।

(४) **कार्यक्रम क्रियान्वित करना**—जब बालक अपना कार्यक्रम निर्धारित कर लेते हैं तो चौथे पद में उसे पूर्ण करना होता है। इस पद में प्रत्येक बालक स्वयं कार्य करता है। वह क्रिया द्वारा सीखता है। कार्य करते समय उसे बहुत सी प्रदत्त-सामग्री इकट्ठी करनी होती है इसके लिए उसे सुविधाएँ प्राप्त होनी चाहिए और उसे पर्याप्त समय देना चाहिए जिसमें वह यह सामग्री इकट्ठी कर सके। प्रोजेक्ट को क्रियान्वित करते समय बालक बहुत से विषयों के सम्बन्ध में ज्ञान ग्रहण करता है। अतएव शिक्षक को बालकों को इन सम्बन्धित विषयो को सीखने को सदा प्रोत्साहित करना चाहिए और जहाँ भी बालक कठिनाई महसूस करे वहाँ उसे सहायता प्रदान करनी चाहिए। शिक्षक को अपनी ओर से शिक्षा देने की चेष्टा नहीं करनी चाहिए वरन् बालक को अपनी गति से सीखने पर बल देना चाहिए।

(५) **कार्य का निर्णय**—प्रोजेक्ट प्रणाली का पाँचवाँ पद कार्य का निर्णय है। जब कार्य पूर्ण हो जाता है तो शिक्षक एवं छात्रों को यह निर्णय करना होता है कि कार्य कहाँ तक सफल हुआ। कार्य या प्रोजेक्ट की सफलता से आशय यह है कि जिस उद्देश्य को लेकर कार्य किया गया था। वह प्राप्त हुआ है अथवा नहीं। यह निर्णय करने में भी बालकों को अपने विचार व्यक्त करने की पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिए। सब विचारों पर समस्त कक्षा के सामने विचार विमर्श होना चाहिए तदुपरान्त कोई निर्णय लेना चाहिए। इस पद पर जो कुछ भी बालकों ने कार्य किया है उसका पुनरावलोकन हो जाता है और

यदि उन्होंने कोई त्रुटि की हैं तो उनके सम्बन्ध में वे जानकारी प्राप्त कर लेते हैं ।

(६) **कार्य का लेखा**—जो कुछ भी प्रोजेक्ट के सम्बन्ध में कार्य किया जाय बालकों को उसका लेखा रखना चाहिए । शिक्षक जब कार्य निर्धारित करे तो उसे भी बालकों को लिखा देना चाहिए ताकि बालक उसके अनुसार कार्य करते रहे । बालकों ने जो विषय प्रोजेक्ट के सम्बन्ध में पढ़े होते हैं उन का भी लेखा रखना चाहिए । इसके अतिरिक्त अन्त में कार्य की आलोचना भी लिखनी चाहिए ।

प्रोजेक्ट पद्धति में विशिष्ट कठिनाइयाँ[1]

प्रोजेक्ट पद्धति के प्रयोग में कुछ विशिष्ट कठिनाइयाँ भी आती हैं । ये कठिनाइयाँ विभिन्न प्रकार की होती है जिनका वर्णन हम इस प्रकार कर सकते हैं ।

(१) प्रोजेक्ट पद्धति में कक्षा नियंत्रण की समस्या होती है । जब तक शिक्षक कुशल नही है कक्षा का वातावरण एक अच्छे बाजार की तरह हो जाता है । प्रत्येक बालक अपना मत व्यक्त करने लगता है और सब या कई बालक एक साथ बोलने लगते हैं, जिससे कक्षा की व्यवस्था नष्ट हो जाती है । कुछ उद्दण्ड बालक दूसरे बालकों को बोलने का अवसर ही नहीं देते । ऐसे अवसरों पर शिक्षक को अत्यन्त सावधानीपूर्वक कार्य करना चाहिए । इसके अतिरिक्त शिक्षक को इस बात का निर्णय करने में भी कठिनाई अनुभव होती है कि बालकों के कार्य या योजना बनाने मे कब हस्तक्षेप करे और कब न करे ।

(२) प्रोजेक्ट के चुनाव मे भी कठिनाई का अनुभव होता है प्रोजक्ट बालकों को स्वयं चुनना चाहिए परन्तु बालको को उसे चुनने की उचित परिस्थितियाँ प्रदान करना कठिन है ।

(३) प्रोजेक्ट प्रणाली के आधार पर पाठ्य-क्रम का संगठन करना भी कठिन है । प्रोजेक्ट चाहे कैसे ही चुने जायँ उनके आधार पर विषयो का ज्ञान क्रमिक तथा प्रगतिशील रूप में देना अत्यन्त कठिन है ।

(४) विद्यालय के सङ्गठन के साथ प्रोजेक्ट के कार्यक्रम को सम्बन्धित करना भी कठिन है । प्रोजेक्ट को पूर्ण करने मे विशेष प्रकार का कार्यक्रम आवश्यक है । यह कार्यक्रम ऐसा हो सकता है जिसमें विद्यालय का संगठन रुकावट डाले ।

1—Special problems of the project Method.

प्रोजेक्ट चुनने में ध्यान देने योग्य बातें

(१) वे प्रोजेक्ट चुनना चाहिए जिनका निश्चित शैक्षणिक मूल्य हो।

(२) वे प्रोजैवट चुनना चाहिए जिनमें परिस्थितियों की आवश्यकताओं को ध्यान में रखा गया हो।

(३) जो वस्तुऐं प्रोजैक्ट के लिए आवश्यक हैं वे उपलब्ध हैं या नहीं यह ध्यान में रखकर प्रोजेक्ट चुनना चाहिए।

(४) प्रोजेक्ट चुनने में यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि जितना समय उसको पूर्ण करने में लगता है वह उसके प्राप्त शैक्षणिक मूल्य से बहुत अधिक तो नहीं है।

(५) वे वस्तुऐं जो प्रोजेक्ट के लिए आवश्यक हैं, वे इतनी मूल्यवान नहीं होनी चाहिए कि विद्यालय या बालक व्यक्तिगतरूप से उन्हें खरीद न सकें।

(६) प्रोजेक्ट के चुनाव का मुख्य आधार यह होना चाहिए कि "क्या वे शैक्षणिक मूल्य जो वाँछित हैं इस प्रोजेक्ट से सबसे अच्छे ढङ्ग से प्राप्त किये जा सकते हैं ?"

(७) एक प्रोजेक्ट जो चुना जाय वह उतने समय मे समाप्त हो जाना चाहिए जितनी कि सीमा पाठ्यक्रम को पूर्ण होने में उसके लिये निर्धारित की गई है। इससे तात्पर्य यह है कि कोई भी प्रोजेक्ट इतने समय तक नहीं चलना चाहिए कि वह निर्धारित विभिन्न विषयों के पाठ्य-क्रम को पूर्ण होने में रुकावट डाले।

प्रोजेक्ट पद्धति में गुण

(१) प्रोजेक्ट पद्धति का सबसे बड़ा गुण यह है कि इसका आधार मनोवैज्ञानिक है, यह पद्धति सीखने के नियमों पर अधारित है। जिन नियमों पर यह अधारित है वे इस प्रकार हैं—

(क) तत्परता का नियम[1]—सीखना उसी समय अच्छे ढंग से होता है जब बालक ज्ञान ग्रहण करने को पूर्ण तत्पर हो। प्रोजैक्ट प्रणाली मे इस बात पर विशेष ध्यान दिया जाता है। कि बालक ज्ञान ग्रहण करने के लिये तत्पर हो। बालकों के सम्मुख समस्या उत्पन्न की जाती है। वे प्रोजेक्ट का चुनाव करते हैं और कार्यक्रम निर्धारित करते हैं इस प्रकार नवीन ज्ञान ग्रहण करने के लिये वे तत्पर हो जाते हैं।

(ख) अभ्यास का नियम[2]—अभ्यास के द्वारा ही हमारे मस्तिष्क मे ज्ञान

1—Law of readiness, 2—Law of Exercise.

दृढ़ हो जाता है। जब हम बार बार अभ्यास करते हैं तो उस चीज को सीख जाते हैं जिसका अभ्यास कर रहे हैं। प्रोजेक्ट प्रणाली में अभ्यास को बहुत महत्व दिया जाता है। बालक को जो प्रोजेक्ट दिये जाते हैं वे वह यथार्थ जीवन की परिस्थितियों में उस पर कार्य करता है और इस प्रकार वह वास्तविक रूप से अभ्यास करता रहता है। सभ्यास के कारण ही जो ज्ञान वह इस पद्धति द्वारा सीखता है वह उसके मस्तिष्क में दृढ हो जाता है।

(ग) **प्रभाव का नियम**[3]—हम उस कार्य को शीघ्र एवं सरलता से सीख लेते हैं जिसे करने में हमें संतोष प्राप्त होता है। संतोष सीखने में सफलता प्रदान करता है और असंतोष असफलता। प्रोजेक्ट प्रणाली में इस नियम का भी उपयोग होता है। प्रोजेक्ट बालक की यथार्थ जीवन की कुछ आवश्यकतों पर केन्द्रित रहता है। जब बालक प्रोजेक्ट को पूर्ण कर लेता है तो उसकी आवश्यकता की पूर्ति हो जाती है और वह संतोष अनुभव करने लगता है। इस प्रकार उसकी शिक्षा अत्यन्त ही प्रभावशाली ढंग से चलती है।

(२) इस पद्धति में बालक प्रोजेक्ट चुनने मे स्वयं अपना प्रयोजन निर्धारित करता है। विद्यार्थियों को इस बात की स्वतंत्रता होती है कि वे अपने ढङ्ग से सोचे और योजना बनायें। उन्हें अपना कार्यक्रम निर्धारित करने की भी स्वतंत्रता होती है। बालक प्रोजेक्ट चुनकर स्वयं कार्य करता है और जीवन की वास्तविक परिस्थिति में जिस ज्ञान की आवश्यकता होती है उसे अपने आप सीखता है। प्रोजेक्ट प्रणाली द्वारा उसकी चिन्तन, निर्णय, इत्यादि की शक्तियों का विकास होता है।

(३) इस पद्धति में बालक सोच समझकर कार्य करता है। वह यह जानता है कि जो कुछ भी कार्य वह कर रहा है वह उसके यथार्थ जीवन में महत्वपूर्ण है तथा उसके कुछ निश्चित उद्देश्य हैं जिन्हें उसे प्राप्त करना है। इस प्रकार वह प्रोजेक्ट पर कार्य करते समय बराबर इस बात से अवगत रहता है कि वह क्या कर रहा है और क्यों कर रहा है। वह कोई भी ज्ञान रट कर या स्मृति पर बल देकर बिना समझे बूझे नहीं सीखता है। समझ कर कार्य करके जो ज्ञान प्राप्त होता है वह अधिक स्थायी होता है।

(४) इस पद्धति द्वारा बालको की अन्वेषण शक्ति में वृद्धि होती है। बालक चिन्तन करके अपनी कार्यविधि निर्धारित करता है। वह विविध प्रदत्त सामग्री को एकत्रित करने के सम्बन्ध में विचर रहा है और प्रोजेक्ट को पूर्ण करने में इस सामग्री के उपयोग पर ध्यान देता है जो सामग्री

3—Law of effect.

लाभकारी सिद्ध होती है उसे इकट्ठा करता है और शेष पर ध्यान देना बन्द कर देता है।

(५) प्रोजेक्ट प्रणाली बालक को सिखाने की प्रजातंत्रीय विधि है इसमें बालक अपने ढंग से काम करने को स्वतन्त्र रहता है। वह स्वयं योजना बनाता है, कार्यक्रम निर्धारित करता है और उस पर कार्य करता है परन्तु जो कुछ भी वह करता है उसमें दूसरों का सहयोग प्राप्त कर लेता है। वह कक्षा में विचार विमर्श के पश्चात् ही कार्यक्रम पर कार्य करना आरम्भ करता है। इसके अतिरिक्त सामूहिक प्रोजेक्ट में वह दूसरे बालकों के साथ मिलकर कार्य करता है। उसका प्रत्येक कार्य इस दृष्टिकोण से सम्पन्न किया जाता है कि पूर्ण प्रोजेक्ट को सफलता मिले। इस प्रकार उसमें उन भावनाओं का प्रदुर्भाव हो जाता है जो जनतन्त्र के लिए परम आवश्यक है। जैसे सहयोग, मित्रता, सद्भावना, दूसरों के विचारों एवं स्वतन्त्रता का आदर इत्यादि।

(६) इस पद्धति द्वारा बालक अपने उत्तरदायित्व को समझने लगते हैं और उनमें आत्मनिर्भरता का विकास हो जाता है। चूंकि उन्हें उत्तरदायित्व प्राप्त होता है अतः वे विरोधी विचारों पर निर्णय करना सीख जाते हैं।

(७) इस पद्धति में बालक स्वयं कार्य करके सीखता है। उसे प्रोत्साहित किया जाता है कि वह प्रत्येक प्रकार के कार्य स्वयं करे। इस तरह से वह श्रम की महत्ता में आस्था रखने वाला बन जाता है।

(८) यह पद्धति विषयों में परस्पर सह-सम्बन्ध को महत्व देती है। मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से विषयों को पृथक पृथक पढ़ाने से बालक जो ज्ञान प्राप्त करते हैं वह टूटा फूटा होता है और मस्तिष्क में एकत्व को उत्पन्न करने में बाधक होता है। अतएव ऐसा ज्ञान देना अवांछनीय है। इसके अतिरिक्त यह भी एक महत्वपूर्ण मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त है कि जो कुछ भी बालक को पढ़ाया जाय वह उसके वास्तविक जीवन से सम्बन्धित हो। प्रोजेक्ट विधि इन दोनों बातों में मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण को ही अपनाती है। इस विधि द्वारा शिक्षण में विषयों के समन्वव को महत्व दिया जाता है तथा योजना को जीवन की वास्तविक परिस्थितियों पर अधारित किया जाता है।

प्रोजेक्ट पद्धति में दोष

(१) सबसे प्रथम तो इस पद्धति में यह दोष है कि ऐसे प्रोजेक्ट जो वांछित शैक्षिक मूल्य के हैं सरलता से नहीं चुने जा सकते। उनके चुनने के लिये समय, सहनशीलता तथा पर्याप्त समझदारी आवश्यक है। आम तौर पर शिक्षकों के पास न तो इतना समय ही होता है और न उनमें इतनी सहनशीलता ही होती है कि वे अच्छे और प्रभावशाली प्रोजेक्टों को बालकों को

चुनने के लिए प्रोत्साहित कर सके। इसका फल यह होता है कि बहुधा बालक दूषित, अवांछनीय तथा अनुचित प्रोजेक्ट चुन लेते हैं। ऐसे प्रोजेक्टों में न तो विद्यार्थी ही रुचि लेते हैं न उनका कोई शैक्षणिक मूल्य होता है।

(२) विभिन्न सामग्री, पुस्तकें, यन्त्र इत्यादि जिनकी अच्छे प्रोजेक्टों को पूर्ण करने में आवश्यकता होती है वे बहुत महंगे होते हैं और इस कारण इन का आयोजन साधारण विद्यालय नहीं कर पाते। अतएव इस पद्धति को सामान्य रूप से प्रत्येक विद्यालय नहीं व्यवहार में ला सकते।

(३) इस पद्धति में एक और बड़ा दोष यह है कि इसमें बालकों को विभिन्न विषयों का शिक्षण नियमित रूप मे नहीं मिलता। बालक जो कुछ ज्ञान प्राप्त करत हैं उसमे शृङ्खलाबद्धता नहीं होती। वह थोड़ा थोड़ा प्रत्येक विषय को सीखते है परन्तु सम्यक रूप से किसी भी एक विषय की शिक्षा उन्हें नहीं मिल पाती। अतएव उनका ज्ञान अपूर्ण रहता है। हाँ यह दोष तब हट सकता है। जब प्रोजेक्ट पद्धति और कक्षा पठन विधि दोनों का प्रयोग करके बालक को शिक्षा प्रदान की जाय।

(४) प्रोजेक्ट प्रणाली का प्रयोग करने से पाठ्य-क्रम मे जो कुछ भी वांछनीय एवं महत्वपूर्ण है वह अनिवार्य रूप से नहीं पढ़ाया जाता। यह संभव हो सकता है कि बालक वषभर जिन प्रोजेक्टो पर कार्य करते हैं उनमें किसी विषय विशेष में जो सबसे महत्वपूर्ण उपयोगी सिद्धान्त हैं उनकी कोई आवश्यकता ही न पड़े और इस प्रकार उनकी शिक्षा ही न हो पाया इस प्रकार पाठ्यक्रम पूर्णरूप से प्रोजेक्टो पर आश्रित रहता है और इस प्रकार बहुत से नियम, सिद्धान्त तथा दूसरी आवश्यक बातें बालकों के समक्ष प्रस्तुत ही नही हो पाती।

(५) इस पद्धति द्वारा पाठ्य-क्रम का पूरा होना भी कठिन है। जितना पाठ्य-क्रम वर्षभर में पूरा करना है प्रोजेक्ट प्रणाली द्वारा उतना पाठ्य-क्रम पूरा नही हो पाता क्योकि प्रोजेक्ट इस आधार पर नही चुने जाते कि एक निश्चित पाठ्यक्रम पूरा कराना है।

(६) बहुधा प्रोजेक्टों पर कार्य करने में बालकों के समय की शक्ति व्यर्थ कार्यों में हो जाती है। प्रोजेक्टों को पूर्ण करने मे बालक कभी कभी ऐसे कार्य करते हैं जिनसे उनको किसी प्रकार का लाभ नहीं पहुँचता और उनमें कोई फल निहित होता है। इस प्रकार व्यर्थ के कार्यों में तो समय नष्ट हो जाता है और जहाँ आवश्यक है वहाँ उन्हें अभ्यास नहीं मिल पाता।

(७) इस पद्धति में शिक्षक का स्थान गौण है। उसके ज्ञान योग्यता एवं व्यक्तित्व से बालक बहुत अधिक लाभ नहीं उठा पाते। परन्तु इस दोष का

उत्तर यह दिया जा सकता है कि प्रोजेक्ट पद्धति में तो शिक्षक की योग्यता का विशेष महत्व है जब तक शिक्षक योग्य नहीं होगा वह उन परिस्थितियों को प्रस्तुत नहीं कर पायगा जिनमें कि वांछनीय प्रोजेक्ट चुना जा सके।

(८) सामूहिक प्रोजेक्ट में यह दोष है कि इसमें व्यक्तिगत रुचियों एवं प्रवृत्तियों की अवहेलना होती है। सब बालकों को एक ही प्रोजेक्ट देने से उनमें समानता को स्वीकार कर लिया जाता है परन्तु यह गलत है। बालकों में व्यक्तिगत विभिन्नता भी होती है।

(९) सबसे अधिक कठिनाई प्रोजेक्ट पद्धति में परीक्षा के क्षेत्र में है। जैसी शिक्षा और परीक्षा प्रणाली आजकल चल रही है उसमें प्रोजेक्ट पद्धति का कोई स्थान नहीं क्योंकि परीक्षा में सफलता तभी मिल सकती है जब किसी निश्चित पाठ्य-क्रम की शिक्षा दी जाय। निश्चित पाठ्य-क्रम का प्रोजेक्ट पद्धति में कोई स्थान नहीं है।

(१०) इस पद्धति में एक और बड़ा दोष यह है कि यह पद्धति बालकों के समक्ष जो समस्याएँ प्रस्तुत करती है वे अधिकतर प्रौढ़ जीवन की होती हैं। ऐसा करना ठीक नहीं, बालकों को प्रौढ़ जीवन की समस्याएँ यथा सँभव नहीं देना चाहिए।

प्रोजेक्ट पद्धति के बहुत से दोषों का ऊपर विवेचन किया गया है, परन्तु फिर भी इस पद्धति में गुण इतने मूल्यवान हैं कि हम इस पद्धति को अपनाने का विरोध नहीं कर सकते। यदि प्रोजेक्ट ठीक से चुने जायँ और शिक्षक लग्न एवं उत्साह से कार्य करें तो यह प्रणाली बालकों को बहुत ही प्रभावशाली ढङ्ग से शिक्षा प्रदान कर सकती है।

यह पद्धति भारतीय विद्यालयों में अपनायी जा सकती है। इसके लिए योग्य, महनती एवं उत्साह से परिपूर्ण शिक्षकों की आवश्यकता है। इसके अतिरिक्त शास्त्र के शिक्षा शास्त्री जो ज्ञान उपार्जन पर अधिक बल देते हैं उसे हटाना होगा। जब वे अनुभव एवं क्रिया सीखने पर बल देना प्रारम्भ करेंगे तभी इस प्रणाली की उपयोगिता स्पष्ट हो जायगी।

सारांश

"प्रोजेक्ट एक समस्यामूलक कार्य है जो अपनी स्वाभाविक परिस्थितियों के अन्तर्गत पूर्णता को प्राप्त करता है। यह परिभाषा प्रोफेसर स्टीवेन्सन द्वारा दी गई है जो अधिकतर शिक्षा शास्त्रियों को मान्य है।

प्रोजेक्ट की विशेषताएँ ये हैं : (१) प्रयोजन (२) क्रियाशीलता (३) यथार्थता (४) उपयोगिता, तथा (५) स्वतन्त्रता । **प्रोजेक्ट के दो प्रकार** होते हैं (१) व्यक्तिगत प्रोजेक्ट एवं (२) सामूहिक प्रोजेक्ट । किलपैट्रिक महोदय प्रोजेक्ट का वर्गीकरण चार प्रकार से करते हैं । वे हैं—

(१) सृजनात्मक या रचनात्मक प्रोजेक्ट (२) रसास्वादन या आनन्द के प्रोजेक्ट (३) समस्यात्मक प्रोजेक्ट (४) अभ्यास या विशिष्ट सीखने के प्रोजेक्ट ।

प्रोजेक्ट की कार्य पद्धति में छः पदों का वर्णन हम कर सकते है वे हैं (१) परिस्थित उत्पन्न करना (२) योजना चुनना (३) कार्यक्रम बनाना (४) कार्यक्रम क्रियान्वित करना (५) कार्य का निर्णय (६) कार्य का लेख ।

प्रोजेक्ट पद्धति में जो विशिष्ट कठिनाइयाँ आती हैं वे है (१) कक्षा नियंत्रण की कठिनाई (२) प्रोजेक्ट के चुनाव की कठिनाई (३) पाठ्य-क्रम का संगठन करने की कठिनाई तथा (४) विद्यालय संगठन के साथ प्रोजेक्ट के कार्यक्रम से सम्बन्धित करने की कठिनाई ।

प्रोजेक्ट चुनने में ध्यान देने योग्य बातें ये हैं (१) शैक्षणिक मूल्य का प्रोजेक्ट चुनना (२) परिस्थितियों की आवश्यकता के अनुसार चुनना (३) आवश्यक वस्तुओं को ध्यान में रख कर चुनना (४) समय को ध्यान में रख कर चुनना (५) वस्तुओं के मूल्य को ध्यान में रखना (६) वांछित शैक्षणिक मूल्यों को ध्यान में रख कर चुनना तथा (७) प्रोजेक्ट समय के अन्दर समाप्त हो जायँ इसे ध्यान मे रखना ।

प्रोजेक्ट पद्धति में गुण—(१) सीखने के नियमों पर केन्द्रित हैं (२) बालक स्वयं प्रोजेक्ट चुनता है (३) बालक समझ कर कार्य करता है (४) बालक की अन्वेषण शक्ति में वृद्धि होती है (५) प्रजातन्त्रीय विधि है (६) बालक उत्तरदायित्व को समझते हैं (७) बालक स्वयं कार्य करके सीखते है (८) विषयों में परस्पर सह-सम्बन्ध होता है ।

प्रोजेक्ट पद्धति के दोष—(१) प्रोजेक्ट चुनना कठिन है (२) सामग्री महंगी होती है (३) विभिन्न विषयों का शिक्षण नियमित रूप से नही मिलता (४) पाठ्यक्रम में जो वांछनीय है वह आवश्यक रूप से नहीं पढाया जाता (५) पाठ्यक्रम पूरा नहीं हो पाता (६) समय की क्षति होती है (७) शिक्षक का स्थान गौण है (८) व्यक्तिगत रुचियों की अवहेलना होती है (९) परीक्षा लेने में कठिनाई होती है (१०) बालकों के समक्ष प्रौढ जीवन की समस्यायें प्रस्तुत करती है ।

अध्ययन के लिए महत्वपूर्ण प्रश्न

१. प्रोजेक्ट पद्धति से आप क्या समझते हैं ? इसकी विभिन्न परिभाषाओं की विवेचना कीजिए ।

२. प्रोजेक्ट पद्धति का मनोवैज्ञानिक पहलू क्या है ? इस पहलू की विशेषताओं का वर्णन कीजिए ।

३. हमारे देश के विद्यालयों में प्रोजेक्ट पद्धति क्यों इतनी कम प्रयोग की जाती हैं । इसके गुणों एवं अवगुणों पर प्रकाश डालिए ।

४. प्रोजेक्ट पद्धति किन सिद्धान्तों पर अवलम्बित है । इन सिद्धान्तों के शैक्षिक महत्व का विस्तृत रूप से वर्णन कीजिए ।

सहायक पुस्तकों की सूची

(१) विलपैट्रिक, डब्यु. एच. : एन **इन्ट्रोडक्टरी स्टेमेन्ट : डेफीनेशन आव टर्मस** इन टियचरस कालेज रिकार्ड, वोल्यम २२, पी. २८३ (सितम्बर १९२१)

(२) बौसिङ्ग : **दि टोबल्म मेथडआव टीचिङ्ग**

(३) अग्रवाल : एस० के०: शिक्षा के तात्त्विक सिद्धान्त, मेरठ, राजेश हाउस

(४) खान एण्ड सक्सेना : मार्डन एडूकेशनल डवलपमेन्ट, कानपुर, गौतम ब्रदर्स ।

अध्याय १७

डाल्टन योजना[1]

डाल्टन योजना वैयक्तिक रूप से शिक्षा देने पर बल देने वाली एक महत्व-पूर्ण पद्धति है। इस योजना की जन्म-दात्री मिस हेलन पार्कहर्स्ट[2] थी क्योंकि इस योजना का प्रयोग सबसे पहिले डाल्टन नगर के विद्यालयों में हुआ इस कारण इसे डाल्टन योजना कहते हैं। मिस पार्कहर्स्ट ने इस योजना के निर्माण से पहिले डा० मान्टेसरी के साथ कई वर्ष तक कार्य किया। मिस पार्कहर्स्ट उनके बहुत से विचारों से सहमत हो गईं और यह उनका विचार दृढ़ हो गया कि वैयक्तिक आधार पर शिक्षा देने से ही बालक का सर्वतोमुखी विकास संभव है। उन्होंने डा० मान्टेसरी के मूल सिद्धान्तों को स्वीकार करके ही अपनी शिक्षा योजना प्रस्तुत की।

डाल्टन पद्धति के उद्देश्य

डाल्टन पद्धति का निर्माण भी प्रचलित शिक्षा के दोषों को दूर करने के लिये हुआ। प्रचलित शिक्षा में बालक की व्यक्तिगत रुचि को कोई महत्व नहीं दिया जाता था। शिक्षा का उद्देश्य यही समझा जाता था कि बालक के मस्तिष्क मे किसी न किसी प्रकार विभिन्न विषय सम्बन्धी ज्ञान ठूंस दिया जाय। इसके लिए बालक को मारा पीटा भी जाता था। यही कारण था कि बालक विद्यालय को एक जेल की कोठरी समझते थे। वे जहाँ तक होता था विद्यालय में न जाने की चेष्टा करते थे। कुमारी पार्कहर्स्ट ऐसी दशा से असंतुष्ट थीं। वे व्यक्तिगत स्वतन्त्रता एवं वैयक्तिक विभिन्नता के आधार पर शिक्षा देने के पक्ष

1—Dalton plan, 2—Miss Helen Parkhurst.

में थीं। अतएव उन्होंने अपनी शिक्षा पद्धति में इन बातों को महत्व दिया और शिक्षा का उद्देश्य बालक को एक ऐसे वातावरण मे जहाँ उस पर कठोर प्रतिबन्धन न हों अपने व्यक्तित्व का विकास करने के अवसर प्रदान करना समझा। डाल्टन पद्धति में इस बात को महत्व दिया गया कि विद्यालय का वातावरण ऐसा होना चाहिए जो बालकों की रुचि को शिक्षा ग्रहण करने के प्रति प्रोत्साहित करे। बालक स्वयं अपने ढङ्ग से कार्य करके शिक्षा ग्रहण करें। शिक्षक का कार्य पथ-प्रदर्शक का हो। वह बालको को मार पीट कर शिक्षा न दे वरन उन्हें स्वतन्त्रता प्रदान करे कि वे पाठ्य विषय सम्बन्धी कार्य अपनी रुचि के अनुसार करें।

डाल्टन योजना के उद्देश्य के सम्बन्ध में कुमारी पार्कहर्स्ट स्वयं अपने विचार इस प्रकार व्यक्त करती हैं "इस योजना का उद्देश्य बालकों को साधारण कक्षा में मिलनी वाली जीवन की परिस्थितियों से बिलकुल भिन्न परिस्थितियों में रख कर एक नये प्रकार के शैक्षणिक समाज को जन्म देना तथा विद्यालय के सामाजिक जीवन का पुनः संगठन करना था।" इस प्रकार इस पद्धति का उद्देश्य बालकों को इस प्रकार का वातावरण प्रदान करना था जो सरल हो और जिसमें कार्य करने मे वे आनन्द प्राप्त करे। डाल्टन योजना विद्यालय के सामाजिक जीवन की एक नई रूप रेखा प्रस्तुत करती है। इस योजना मे प्रचलित कक्षा शिक्षण के महत्व को समाप्त करके वैयक्तिक शिक्षण उद्देश्य को अपनाया और कक्षा में इस प्रकार की परिस्थितियो के निर्माण पर बल दिया जो वैयक्तिकता को प्रोत्साहित करें।

डाल्टन योजना का स्वरूप

डाल्टन योजना के उद्देश्य[1] का वर्णन करने में हमारा अभिप्राय द्विविधि था एक तो यह कि इस योजना की आवश्यकता क्या थी ? और दूसरे इस योजना के क्या उद्देश्य रखे गये ? हमने देखा कि योजना की आवश्यकता प्रचलित शिक्षा में सुधार लाने के लिए प्रतीत हुई और इसके उद्देश्य इस प्रकार निर्धारित किए गये कि प्रचलित शिक्षा पद्धति में वांछित सुधार लाये जा सकें। यहाँ हम यह वर्णन करेंगे कि इन उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए इस योजना को रूप रेखा किस प्रकार निर्धारित की गई।

---

1 —The New Era, act, 1930, p. 105 : "The aim of Dalton plan was to create a new type of educational society, by putting boys and girls under entierely different conditions of living from those provided in the ordinary class room and to organize the community life of the school."

इस पद्धति में दैनिक कार्यक्रम का प्रारम्भ दिन भर के कार्य की योजना बनाने से होता है। इसके कार्य के लिए पन्द्रह से तीस मिनट दिये जाते हैं। इसके पश्चात बालकों को दो या तीन घन्टे विषय सम्बन्धी प्रयोगशाला में कार्य करने को कहा जाता है और फिर तीसरे पहर को बालकों को व्यक्तिगत रूप से या सामूहिक रूप से रचनात्मक कार्य तथा खेल मे भाग लेने के अवसर प्रदान किये जाते हैं।

इस योजना मे मुख्य बात यह है कि इसमें कक्षा के कमरे के स्थान पर पर विभिन्न विषयों को प्रयोगशालाएँ होती है। इन प्रयोगशालाओं में समस्त वह सामग्री उपलब्ध होती है जो उस विषय सम्बन्धी कार्य करने में बालकों को चाहिए। प्रयोगशालाओं मे चार्ट होते हैं, सब प्रकार के विषय सम्बन्धी उपकरण होते है तथा विषय सम्बन्धी उपयोगी पुस्तकें होती हैं। बालक यहाँ अपने मन से आ जा सकते है और जितनी देर उन्हें किसी विषय में रुचि रहती है उतनी देर उस विषय सम्बन्धी कार्य कर सकते हैं। शिक्षक प्रत्येक विषय की प्रयोगशाला में बालकों को सहायता पहुँचाने के लिए उपस्थित रहता है परन्तु जब उनकी विषय पर कार्य करने मे रुचि नही है तब उन्हें कार्य करने को बाध्य नही करता। बालकों को प्रत्येक विषय में एक महीने में कितना कार्य करना है इसका ठेका दे दिया जाता है। इस कार्य को जितनी देर उनका मन लगे उतनी देर प्रत्येक दिन प्रयोगशाला में कार्य करके अपनी गति पर स्वयं नियंत्रण रख कर एक महीने में समाप्त कर सकते हैं। एक वर्ष में लगभग आठ ठेके प्रत्येक विषय में उन्हें दिये जाते हैं। इस प्रकार यह योजना अनेकों अच्छे शैक्षिक सिद्धान्तों पर आधारित है।

डाल्टन पद्धति के प्रमुख सिद्धान्त

डाल्टन पद्धति जिन प्रमुख सिद्धान्तों पर आधारित है वे निम्नलिखित है—

(१) बाल-केन्द्रित शिक्षा।

(२) अध्ययन के लिए बालक को पूर्ण स्वतन्त्रता।

(३) बालक द्वारा स्वयं प्रशिक्षण।

(४) शिक्षक पथ-प्रदर्शक के रूप में।

(५) सामूहिक शिक्षा।

(१) **बाल-केन्द्रित शिक्षा**—डाल्टन योजना में शिक्षक के स्थान पर बालक को प्रमुख स्थान दिया जाता है। बालक अपनी रुचि एवं योग्यता के अनुसार शिक्षा ग्रहण करता है। उससे शिक्षक यह नहीं कहता कि इस विषय को किसी न किसी प्रकार स्मरण करलो वरन वह उसे कार्य का ठेका प्रदान करता

देता है और फिर उसे अपनी रुचि के अनुसार कार्य करने को छोड़ देता है। इस प्रकार विभिन्न योग्यता के बालको को अपनी गति से विषय सम्बन्धी ज्ञान प्राप्त करने की स्वतन्त्रता होती है। इस योजना में प्रत्येक विद्यार्थी से यह आशा नहीं की जाती कि वह प्रत्येक विषय में एक सामान्य स्तर पर होगा वरन् उसकी प्रगति उसकी स्वयं की व्यक्तिगत रुचि एवं योग्यता पर निर्भर है। इस प्रकार यह पद्धति बालक को अपनी शिक्षा ग्रहण करने में स्वयं उसी को उत्तरदायी ठहराती है। यह उसी को केन्द्र मान कर शिक्षा पर बल देती है।

(२) **अध्ययन के लिए पूर्ण स्वतन्त्रता**—डाल्टन योजना बालक को इस बात की पूर्ण स्वतन्त्रता देती है कि बालक अपनी गति से विषय सम्बन्धी ज्ञान ग्रहण करे। इस योजना मे समय सारणी इत्यादि का कोई बन्धन नही होता। बालक जहां चाहे जिस विषय की प्रयोग शाला में जितनी देर चाहे कार्य करने को स्वतन्त्र रहता है। वह किसी भी विषय पर जिसमें उसकी रुचि है घन्टो कार्य कर सकता है और उसमें दूसरे बालको की अपेक्षाकृति कहीं अधिक प्रगति कर सकता है। इसके अतिरिक्त बालकों को पूर्ण स्वतन्त्रता प्रदान करने से अनुशासन की समस्या ही नही उठ पाती। बालक अपनी रुचि के कार्य मे लीन रहता है अतएव उसे अनुशासनहीन बनने का कोई अवसर ही नही होता। वह स्वानुशासन के महत्व को सीख जाता है।

(३) **बालक द्वारा स्वयं स्वशिक्षण**—उपरोक्त दो सिद्धान्तों के वर्णन में हम यह स्पष्ट कर चुके हैं कि इस योजना में बालक को अपनी शिक्षा में अपनी गति से प्रगति करने की व्यवस्था होती है। अतएव इस योजना के तीसरे महत्वपूर्ण सिद्धान्त को हम 'बालक द्वारा स्वयं स्व-शिक्षण" की व्यवस्था कह सकते हैं। बालक को यह स्वतन्त्रता होती है कि वह जिस विषय को चाहे जितनी देर तक पढ़ सकता है। उसे स्वयं उस विषय पर बिना किसी रोक-टोक के कार्य करने को स्वतन्त्र रहता है। उसे शिक्षक के निर्देश की कोई आवश्यकता नहीं होती। परन्तु जहाँ वह आवश्यक समझे वहाँ शिक्षक की सहायता उसे उपलब्ध हो सकती है। किन्तु जो कुछ भी कार्य का ठेका उसे दिया जाता है उसको उसे स्वयं ही कार्य करके पूरा करना पड़ता है।

(४) **शिक्षक पथ-प्रदर्शक के रूप में**—इस योजना में शिक्षक को एक पथ-प्रदर्शक का रूप दिया जाता है। उसका कार्य बालकों को उचित दिशा की ओर अग्रसर करना होता है। वह बालकों को एक माह में कितना कार्य करना है इसे निर्धारित करता है तथा उन्हें उस कार्य को पूरा करने के लिए जो कुछ भी निर्देश आवश्यक होते है, देता है। इस प्रकार शिक्षक कार्य के ठेके को निर्धारित करके तथा उन्हें आवश्यक निर्देश देकर स्वयं अपनी गति से कार्य

करने को छोड़ देता है। बीच में बालकों के कार्य में वह व्यर्थ हस्तक्षेप नहीं करता। हाँ जहाँ बालक कुछ कठिनाई अनुभव करते हैं वहाँ वह उनकी सहायता के लिए सदैव तत्पर रहता है।

(५) **सामूहिक शिक्षा**—डाल्टन योजना मे वैयक्तिक शिक्षण पर बल दिया गया है परन्तु इसके साथ ही साथ इस योजना मे सामूहिक शिक्षा की अवहेलना नहीं की जाती। इस योजना का कार्यक्रम इस प्रकार बनाया जाता है कि वैयक्तिक शिक्षण के साथ-साथ बालकों की सामूहिक भावनाओं का भी विकास होता रहे। इसके लिए प्रायः कार्य आरम्भ करने से पहिले सब विद्यार्थी सामूहिक रूप से एकत्रित होते हैं। इसके अतिरिक्त संध्या को जब विषय सम्बन्धी कार्य समाप्त कर लेते हैं तब सब फिर एकत्रित होते हैं और विचार विमर्श करते हैं। सायंकाल खेल तथा रचनात्मक कार्यों में भी वे सामूहिक रूप से भाग लेते हैं। प्रयोगशाला में भी बालक जब स्वतन्त्र रूप से कार्य करते हैं तब वे एक दूसरे की सम्मति ले सकते हैं और इस प्रकार से उन्हें एक दूसरे के सम्पर्क मे आने के अवसर मिल जाते है।

डाल्टन योजना की विशेषताएँ

(१) **कक्षा के स्थान पर प्रयोगशालाएँ**—इस योजना मे विद्यालय का संगठन इस प्रकार किया जाता है कि जो कक्षा के कमरे होते हैं उन्हें प्रयोगशाला का रूप दे दिया जाता है। प्रत्येक कमरा एक विषय की प्रयोगशाला का रूप ले लेता है। जैसे बालक इतिहास जिस कमरे में पढ़ते हैं उसे इतिहास की प्रयोगशाला कहते हैं। जहाँ गणित सम्बन्धी कार्य होता है वह गणित की प्रयोगशाला बन जाता है इत्यादि। यह योजना कमरो का निर्धारण इस प्रकार नहीं करती कि पाँचवीं कक्षा का कमरा, सातवी कक्षा का कमरा इत्यादि। इस प्रकार बालकों को कोई एक विशेष कमरे में सारे विद्यालय के समय में नहीं बैठना होता वरन वह उस विषय के कमरे में जाकर बैठते हैं जहाँ उन्हें उस विषय सम्बन्धी कार्य करना होता है।

प्रयोगशाला की सज्जा ऐसी होती है कि बालकों को वह सब सामग्री उपलब्ध होती है जो उन्हें विषय सम्बन्धी कार्य करने के लिए अपेक्षित है। विषय सम्बन्धी पुस्तकें, चित्र, रेखाचित्र, पत्रिकाएं इत्यादि सब चीजें यहाँ बालकों को मिल सकती हैं। प्रत्येक प्रयोगशाला में एक विषय-विशेषज्ञ उपस्थित रहता है जो बालकों की सहायता भी करता है और जहाँ आवश्यक समझा जाता है निर्देश भी देता है। परन्तु वह निर्देश या सहायता तभी प्रदान करता है जब बालक को कठिनाई प्रतीत होती है।

(२) **सम्मेलन तथा विमर्श सभा**—इस योजना में प्रातःकाल विद्यालय में

आने के साथ ही विद्यार्थियों तथा शिक्षकों का सम्मेलन होता है। इस सम्मेलन में जो कुछ भी कार्य बालकों को ठेके के रूप में देना है उस पर विचार विमर्श होता है। परन्तु जिन दिनों उन्हें ठेके का कार्य दिया हुआ है उन दिनों इस समय बालको को विद्यालय सम्बन्धी आवश्यक सूचनाएं दी जाती हैं। इसके बाद विद्यार्थी प्रयोगशालाओं मे जाकर अपना कार्य करते हैं फिर सायंकाल को विमर्श-सभा होती है। इस सभा में सभी विद्यार्थी उपस्थित होते है। इस सभा मे विद्यार्थी अपनी समस्याओं एवं कठिनाइयों को शिक्षक के सामने रखते हैं। शिक्षक उनको दूर करने तथा सुलझाने को चेष्टा करता है। इस प्रकार से इस योजना में वैयक्तिक एवं सामूहिक शिक्षा का सुन्दर समन्वय प्राप्त किया जाता है।

(३) **पाठ का ठेका**—इस योजना में पाठ्यक्रम का संगठन भी विशेष प्रकार से किया जाता है। किसी भी विषय में जितना वर्ष भर में पाठ्य विषय पढ़ाना होता है उसकी रूप रेखा तैयार करली जाती है। फिर वर्ष भर के कार्य का विभाजन प्रत्येक महीने के कार्य के रूप में कर लिया जाता है। बालक को एक माह मे जितना कार्य करना है वह माह के आरम्भ में उसे बता दिया जाता है। उससे यह प्रतिज्ञा ले ली जाती है कि वह इतना कार्य माह के अन्त तक कर लेगा। यही कार्य का ठेका देना कहलाता है। बालक को फिर यह स्वतन्त्रता प्रदान कर दी जाती है कि वह इस कार्य को पूरा करने के लिए अपनी गति से कार्य करे।

(४) **निर्दिष्ट पाठ**—प्रत्येक माह के कार्य को सप्ताह के कार्य म भी बाँट दिया जाता है। एक सप्ताह के कार्य **को निर्दिष्ट पाठ**[1] कहते है। शिक्षक माह का कार्य देते समय माह के आरम्भ में ही बालकों की सहायता से ही निर्दिष्ट पाठों को बनवाता है और बालको को लिखवा देता है। शिक्षक निर्दिष्ट पाठों को बनवाने में यह विशेष सावधानी रखता है कि ये पाठ बालक की व्यक्तिगत योग्यता के अनुरूप ही हो।

(५) **पाठ की इकाई**—निर्दिष्ट पाठ का भी विभाजन किया जाता है। प्रत्येक ऐसे पाठ के पाँच भाग किए जाते हैं। यह भाग **इकाई**[2] कहलाते हैं। इस प्रकार प्रायः एक मास का जो ठेका होता है उसमें चार निर्दिष्ट पाठ होते हैं और बीस इकाइयाँ होती हैं। एक दिन का कार्य ही एक इकाई कहलाती है परन्तु यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि बालाक को इस बात के लिए बाध्य नहीं किया जाता कि वह एक इकाई को एक दिन में पूरा ही कर ले या एक से अधिक इकाई का कार्य एक दिन में न करे। यह विभाजन तो

1—Assignmant 2—Unit.

उसकी सुविधा के लिए किया जाता है अन्यथा उसे यह पूर्ण स्वतन्त्रता होती है कि वह जितना कार्य चाहे एक दिन में करे। वह चाहे तो एक माह के ठेके को माह समाप्त होने से बहुत पहिले ही पूर्ण कर सकता है या यदि चाहे तो धीरे धीरे कार्य कर के पूरे माह के अन्त मे भी जाकर ही उसे पूर्ण कर सकता है। यदि कुछ बालक एक माह के कार्य को शीघ्र समाप्त कर लेते हैं तो उन्हें दूसरे माह का कार्य दे दिया जाता है। इस प्रकार प्रत्येक विषय में प्रत्येक बालक की प्रगति उसके अपने कार्य करने की गति पर निर्भर होती है।

(६) प्रगति-सूचक रेखाचित्र[1]—बालक ने किस विषय में कितनी प्रगति की है इसे जानने के लिए प्रगति सूचक रेखाचित्र का उपयोग किया जाता है। ये रेखा-चित्र तीन प्रकार के होते है। एक रेखा चित्र तो विद्यार्थी के पास रहता है। इसमे वह जितना कार्य प्रत्येक विषय मे पूर्ण कर लेता है उसको स्वयं अङ्कित कर लेता है। यह रेखाचित्र उसको स्वय अपनी प्रगति के सम्बन्ध मे सूचना देता है।

दूसरा रेखाचित्र विषय विशेषज्ञ द्वारा भरा जाता है। यह प्रयोगशाला मे टंगा रहता है और इसमे बालको द्वारा उस विषय मे जिसकी वह प्रयोगशाला है की गई प्रगति अङ्कित की जाती है। इस रेखाचित्र द्वारा शिक्षक तथा विद्यार्थी दोनो को यह ज्ञात रहता है कि उस विषय मे उन्होने कितनी प्रगति की है।

तीसरे रेखा-चित्र मे प्रत्येक विद्यार्थी का सभी विषयों मे किया गया कार्य अङ्कित किया जाता है। इस ग्राफ को देखकर यह पता लग जाता है कि प्रत्येक विषय मे एक विद्यार्थी ने कितनी प्रगति की और सामूहिक रूप से संपूर्ण कक्षा द्वारा किए गये कार्यों का अवलोकन किया जा सकता है। इस रेखाचित्र द्वारा पता लगा कर शिक्षक उन बालको को जो पिछड़े हुए हैं आवश्यक निर्देश दे सकता है उन्हे प्रोत्साहित कर सकता है और उनकी समस्याओं को सुलझा सकता है।

(५) कक्षा संगठन की इकाई—इस योजना मे कक्षा, शिक्षण की इकाई के रूप में नहीं ली जाती है परन्तु कक्षा का संगठन की इकाई के रूप मे लिया जाता है और विद्यार्थियों का विभाजन विभिन्न कक्षाओं मे किया जाता है इस प्रकार यह योजना कक्षा के महत्व को सर्वथा नष्ट नहीं करती। जब कभी भी सम्पूर्ण विषय की रूप रेखा दी जाती है या कुछ सामान्य सिद्धान्तों की व्याख्या की जाती है या कोई और निर्देश दिये जाते है तो सम्पूर्ण कक्षा को एकत्रित करके सबको एक साथ ही शिक्षण दिया जाता है।

1—Graph of progress.

(६) **शिक्षक का कार्य** :—जैसा हमने पहिले कहा है इस योजना मे शिक्षक का कार्य एक पथ-प्रदर्शक का होता है। उसको कक्षा मे जाकर व्याख्यान नहीं देना होता वरन् प्रयोगशाला में उपस्थित रहकर बालको की सहायता करने तथा उनको उचित निर्देश देने को तत्पर रहना है। जिन बातों मे शिक्षक का कार्य इस योजना मे प्रचलित शिक्षा पद्धति से विभिन्न होता है वे निम्न-लिखित है।

(क) शिक्षक का कार्य व्याख्यान देकर शिक्षण देना न होकर बालक का पथ-प्रदर्शन करना होता है।

(ख) शिक्षक एक विशेषज्ञ के रूप में होता है। वह किसी विशेष कक्षा का अध्यक्ष रहकर केवल उसी कक्षा का शिक्षक नही रहता है वरन् किसी विषय का विशेषज्ञ होता है और उस विषय के शिक्षण के सम्बन्ध मे उत्तरदायी रहता है।

(ग) शिक्षक का कार्य सरल नहीं होता। उसके ऊपर जो उत्तरदायित्व होते है उनका निर्वाह करना बहुत कठिन होता है। उसे स्वयं गहरा अध्ययन करना होता है और विषय सम्बन्धी जो कुछ भी नयी से नयी खोजें होती हैं उनके सम्बन्ध मे जानकारी रखनी होती है। इसके अतिरिक्त उसे प्रत्येक बालक की प्रगति पर ध्यान रखता पडता है। पिछड़े हुए बालकों को जो विशेष सहायता देनी पड़ती है तथा प्रतिभावान की प्रतिभा को उभारने के लिए उसको ऐसे कार्यों का आयोजन करना पड़ता है जो जटिल है। इसके अतिरिक्त उसे बालकों की रुचि कार्य मे बनाये रखनी होती है तथा अच्छे शैक्षिक वातावरण का निर्माण करना होता है।

डाल्टन योजना में गुण

(१) इस योजना का मुख्य गुण है वैयक्तिक रूप से शिक्षा देने की व्यवस्था। बालक अपनी योग्यता तथा रुचि के अनुसार कार्य करता है और अपनी गति एवं सामर्थ्य के अनुसार शिक्षा ग्रहण करता है। उस पर कोई यह प्रतिबन्ध नहीं होता कि वह कक्षा के साथ ही साथ आगे बढ़े। वह किसी विषय में अन्य बालको से पिछड़ा भी रह सकता और यदि उसमें योग्यता है तो उनसे कहीं अधिक प्रगति भी कर सकता है।

(२) यह योजना बालक की सक्रियता को प्रोत्साहित करती है। बालक को जो ठेका दिया जाता है वह उसे पूर्ण करने की चेष्टा मे लग जाता है। उसे सदैव यह ध्यान रहता है कि उसे ठेके को एक निश्चित समय मे पूर्ण करना है। इस प्रकार उसमे कार्य करने की क्षमता बढ़ जाती है और वह अपने उत्तरदायित्व को समझने लगता है।

(३) इस योजना द्वारा बालकों में श्रम की महत्ता के प्रति उचित दृष्टिकोण का विकास कर दिया जाता है। बालक स्वयं कार्य करके सीखते हैं। उनमें आत्म-विश्वास भी समझने लगते हैं आत्म-निर्भरता, स्वावलम्बन आदि गुणों का विकास हो जाता है।

(४) इस योजना में बालक जिस विषय में अधिक रुचि रखता है उस विषय का गहन अध्ययन कर सकता है। जैसे यदि वह गणित में अत्यधिक रुचि रखता है तो वह गणित की प्रयोगशाला में अधिक समय तक कार्य कर सकता है जहाँ उसे सब प्रकार की गणित सम्बन्धी सामग्री एवं पुस्तकें उपलब्ध होती है। यहाँ वह स्वयं अपनी खोज द्वारा अपने ज्ञान में वृद्धि कर सकता है। ऐसा करने से न केवल उसको अपनी योग्यता बढाने के अवसर मिलते हैं वरन् उसमें नेतृत्व शक्ति एवं व्यवहार कुशलता का उद्‌बोधन होता है।

(५) इस विधि में बालक अपनी गति से ज्ञान ग्रहण करता है अतएव यदि वह किसी दिन कक्षा मे अनुपस्थिति है तो भी वह किसी ऐसे ज्ञान से वंचित नही रह जाता जो विषय मे प्रगति के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण है। कक्षा-शिक्षण का यह एक बहुत बडा दोष है कि जो ज्ञान एक दिन कक्षा में दिया जा चुका वह फिर दोबारा केवल एक या दो बालको के लिए जो उस दिन अनुपस्थिति है, नही दिया जा सकता क्योकि ऐसा करने से सारी कक्षा की प्रगति रुकती है। अनुपस्थिति बालक इस प्रकार सदैव के लिए उस विषय मे पिछड़ जाते हैं। यह योजना इस तरह के दोष से स्वतन्त्र है।

(६) इस योजना मे अनुशासन की कोई समस्या नहीं उठती। बालक अपनी स्वच्छा से कार्य करते हैं और स्वअनुशासन के महत्व को समझते है। वे व्यर्थ समय बरबाद नही करते क्योंकि उन्हें पता होता है कि उन्हें ठेके के कार्य को निश्चित अवधि के अन्दर ही समाप्त करना है।

(७) इस योजना में एक बहुत बड़ा गुण यह है कि इसमें परीक्षा को कोई महत्व नहीं दिया जाता। परीक्षा के स्थान पर वर्ष भर के ठेकों की पूर्णता ही एक कक्षा से दूसरी में उतीर्ण होने की कसौटी होती है। यदि एक बालक ने वर्ष भर के प्रत्येक विषय के सब ठेकों का कार्य समाप्त कर लिया है तो उसे ऊंची कक्षा में चढ़ा दिया जाता है। शिक्षक को न प्रश्न पत्र बनाने होते हैं न कापी जाँचना वह तो रेखा-चित्र से बालक की प्रगति का मूल्यांकन करता है और उसी के आधार पर उसे नई कक्षा मे चढ़ा देता है।

(८) इस योजना द्वारा विद्यार्थियों मे सामाजिक कुशलता का विकास होता है। बालक सामूहिक रूप से मिलते जुलते हैं तथा एक दूसरे का सहयोग एवं

सम्मति प्राप्त करते हैं। यह बातें उनमें सामाजिकता की भावना का विकास करती हैं और वे अपने को समाज का एक अङ्ग समझने लगते हैं तथा समाज कल्याण के महत्व को मानने लगते हैं।

(९) इस योजना में विद्यार्थियों से पर्याप्त मात्रा में लिखित कार्य कराया जाता है। लिखित कार्य के करने से धीरे धीरे वे अपने विचारों को स्पष्ट एवं सुन्दर भाषा में व्यक्त करना सीख जाते हैं।

(१०) इस योजना में वैयक्तिक शिक्षण एवं कक्षा शिक्षण में सुन्दर समन्वय प्राप्त किया जाता है। बालकों को कार्य तो वैयक्तिक रूप में करना होता है परन्तु ठेके पर विचार विमर्श, कार्य करने में आने वाली कठिनाइयों पर विवाद एवं ठेके के कार्य की समाप्ति पर किए गये कार्य का मूल्यांकन इत्यादि सामूहिक रूप से सम्पूर्ण कक्षा के साथ किया जाता है। इस प्रकार बालकों का व्यक्तिगत तथा सामाजिक दोनों प्रकार का विकास हो जाता है।

(११) डाल्टन योजना में बालक केवल कुछ ज्ञान को रट कर याद नहीं कर लेते वरन वे जो कुछ ज्ञान ग्रहण करते हैं उसे अपने अनुभवों द्वारा प्राप्त करते है। वे प्रयोगशालाओं में सक्रिय रहते हैं और सृजनात्मक कार्य में लगे रहते हैं।

(१२) इस योजना में बालकों के समक्ष कार्य करने का प्रयोजन स्पष्ट रूप से रहता है। उन्हें कार्य करने का ठेका मिला होता है और उनके कार्य करने का प्रयोजन यह होता है कि उनका ठेका पूर्ण हो जाय। अतएव वे चाहे जैसी भी स्थित होती है उसी में कार्य करके ठेके को पूर्ण करने में लगे रहते हैं। जहाँ कार्य कठिन हैं वहाँ वे ठेके के कार्य को अधिक समय देते है तथा उस पर अधिक परिश्रम करते हैं।

डाल्टन योजना के दोष

डाल्टन योजना में अनेकों गुणों के होते हुए भी बहुत से दोष हैं।

(१) डाल्टन योजना में बालक से यह आशा की जाती है कि वह स्वतंत्र रूप से कार्य करेगा और इस कारण उसके ऊपर ठेके का कार्य करने का उत्तर-दायित्व लाद दिया जाता है। परन्तु एक छोटे बालक के लिए यह उत्तरदायित्व निबाहना अत्यन्त कठिन होता है। वह स्वतंत्र रूप से कार्य भी नही कर सकता। यही कारण है कि यह योजना छोटे बालकों के लिए अनुचित है। यह आशा करना ठीक नही है कि आठ वर्ष का बालक इस योजना के अनुसार करने को परिपक्व हो जाता है।

(२) इस योजना में लिखित कार्य पर अधिक बल दिया जाता है। बालकों को बोलने के अवसर कम मिलते हैं और मौखिक अभ्यास बहुत कम होता है। इसी कारण भाषा के शिक्षण में यह योजना अधिक सफल नहीं है। इसकेद्वारा न वाँछित ढंग से शुद्ध उच्चारण सिखाया जा सकता है, न बातचीत करना।

(३) इस योजना में प्रयोगशालाओं, विषय विशेषज्ञों, उपयुक्त पुस्तकों, प्रामाणिक पुस्तकों तथा शिक्षण यंत्रों की आवश्यकता होती है। इन सब वस्तुओं के आयोजन के लिए पर्याप्त मात्रा में धन की आवश्यकता होती है। परन्तु प्रत्येक विद्यालय के पास इतना धन नही होता कि वे इन सब चीजों को खरीद सके विशेष रूप से भारत जैसे निर्धन देश के अधिकतर विद्यालयों में यह संभव नहीं कि सब सामग्री जो योजना की सफलता के लिये आवश्यक है खरीदी जा सके। अतएव इस योजना का ऐसे निर्धन देशों के विद्यालयो मे लागू करना कठिन है।

(४) इस योजना में सामूहिक भावना का विकास पूर्ण रूप से नहीं हो पाता क्योंकि यह योजना वैयक्तिक शिक्षण को अधिक महत्व देती है। इस योजना मे जो कुछ भी सामाजिक कुशलता प्राप्त करने की चेष्टा की जाती है वह न तो संगठित ढंग से की जाती है और न वे चेष्टाऐं पर्याप्त ही होती हैं। इस योजना द्वारा शिक्षण देने से बालक के अन्दर अधिक मात्रा में व्यक्तिगत प्रवृत्तियों का उद्‌बोधन होता है और वह स्वार्थी बन जाता है।

(५) इस योजना में एक यह भी दोष है कि कुछ विद्यार्थी जो स्वय कार्य करने से घबड़ाते है किन्हीं दूसरे विद्यार्थीयों की नकल करके कार्य समाप्त कर सकते है। ऐसे विद्यार्थियों की प्रगति रेखाचित्र पर तो बहुत अधिक अङ्कित हो सकती है जबकि उन्होने कुछ भी नहीं सीखा होगा। इसके अतिरिक्त यदि लम्बी अवधि मे समाप्त करने के लिए कोई ठेका विद्यार्थियों को दिया जाता है तो वह कार्य आरम्भ करने के पहिले कुछ दिनों में बहुत सुस्ती से कार्य करते है यह समझ कर कि अभी तो कार्य समाप्त करने के लिए बहुत समय पड़ा है। वे इन दिनों अपना समय बरबाद ही करते हैं।

(६) इस योजना में वैयक्तिक विभिन्नता के आधार पर शिक्षा का आयोजन अपूर्ण रूप में ही किया जाता है। बालक जिस गति से कार्य का ठेका पूर्ण करता है केवल उसे छोड़ कर और कहीं भी व्यक्तिगत विभिन्नता के अनुसार शिक्षा देने की व्यवस्था नहीं की जाती है। सब बालकों को एक ही प्रकार के निर्दिष्ट पाठ को समाप्त करना होता है और सबको एक ही प्रकार की कार्य विधि अपनानी पड़ती है। यहाँ पर उनकी योग्यता, रुचि, इत्यादि की विभिन्नता पर कोई ध्यान नहीं दिया जाता।

(७) इस योजना में बहुत ही अल्प आयु से विशेषीकरण पर बल दिया जाने लगता है। यह ठीक नहीं क्योंकि विशेषीकरण बालक के सर्वतोमुखी विकास को रोक देता है और बालक को व्यक्तित्व का विकास केवल एकाङ्गी बन कर रह जाता है।

(८) इस योजना में शिक्षकों का प्रभाव कम करता है। बालक अपने आप अध्ययन करते हैं इस कारण शिक्षक का काम बहुत घट जाता है। बालकों को शिक्षण न प्रदान करने से शिक्षक के व्यक्तित्व से वे प्रभावित नहीं हो पाते हैं।

(९) इस योजना की सफलता इस बात पर निर्भर होती है कि बालकों को कार्य का ठेका एवं निर्दिष्ट पाठ उचित ढंग से दिया जाय। इसके लिए विशेषज्ञ शिक्षक आवश्यकता है। परन्तु प्रचलित प्रशिक्षण प्रणाली मे शिक्षकों को ऐसा कोई प्रशिक्षण नहीं दिया जा रहा है कि वे विशेषज्ञ के कार्य का निर्वाह उचित ढंग से सीखलें। अतएव यह योजना विद्यालय में तभी लागू हो सकती है जब अधिकतर शिक्षक विशेषज्ञ बनने का प्रशिक्षण ग्रहण करले।

(१०) प्रत्येक विषय का पृथक रूप से ठेका देने मे यह दोष है कि विभिन्न विषयों में कोई समन्वय नहीं स्थापित हो पाता। प्रत्येक शिक्षक अपने विषय का ही विशेषज्ञ होता है अतएव वह दूसरे विषयों को कोई महत्व नहीं देता।

(११) कुछ विषय ऐसे हैं जिनको डाल्टन योजना में नहीं अपनाया जा सकता जैसे विज्ञान के बहुत से प्रयोगों का केवल प्रदर्शन ही किया जा सकता है उनको ठेके के रूप मे बालकों को नहीं दिया जा सकता।

डाल्टन योजना और मान्टेसरी पद्धति

डाल्टन योजना में मान्टेसरी पद्धति में जो बहुत कुछ अच्छा है उसे अपनाया गया है। ये दोनो ही पद्धतियाँ वैयक्तिक शिक्षण पर बल देती हैं। परन्तु जबकि मान्टेसरी पद्धति छोटे बालकों की शिक्षा के लिए उपयुक्त है डाल्टन पद्धति बडे बालकों के लिए निर्मित की गई है।

डाल्टन योजना मे कुछ अवगुण भी वही है जो मान्टेसॉरी योजना में हैं जैसे दोनों ही में समाजिक भावना का पूर्ण रूप से विकास होने पर कोई विशेष बल नहीं दिया जाता। परन्तु फिर भी यहाँ यह कहा जा सकता है कि दोनों पद्धतियों में अनेकों विभिन्नताएं भी हैं। कार्य का ठेका एव निर्दिष्ट पाठ का आयोजन डाल्टन योजना की अपनी विशेषता है।

डाल्टन योजना तथा प्रोजेक्ट पद्धति

डाल्टन योजना तथा प्रोजेक्ट पद्धति मे एक दूसरे से बहुत अधिक

विभिन्नता हैं। डाल्टन योजना का लक्ष्य है पृथकीकरण तथा विशेषीकरण जबकि प्रोजेक्ट पद्धति विभिन्न विषयों के सह-सम्बन्ध पर बल देती है। यही कारण है कि प्रोजेक्ट पद्धति छोटे बालकों के लिए उपयुक्त है जबकि बड़े बालकों के लिए डाल्टन योजना उपयुक्त है। प्रोजेक्ट पद्धति का उपयोग बारह वर्ष की आयु के बालकों के साथ अच्छे प्रकार से किया जा सकता है। डाल्टन योजना का अनुसरण करके शिक्षा इस आयु के पश्चात् ही देना चाहिए।

यहाँ यह स्मरण रखना आवश्यक है कि इन दोनों पद्धतियों को आयु के दृष्टिकोण से बिलकुल पृथक करना ठीक नहीं है। जहाँ कहीं भी आवश्यक हो इन पद्धतियों का उपयोग बिना झिझक किया जाना चाहिए। इस प्रकार कभी कभी बडे बालको के साथ भी प्रोजेक्ट पद्धति का उपयोग किया जासकता है।

डाल्टन योजना का हमारे विद्यालयों में स्थान

इसमें कोई संदेह नहीं कि डाल्टन योजना शिक्षा की एक अच्छी पद्धति है परन्तु इस पद्धति को व्यवहारिक रूप में रखना कोई सरल कार्य नहीं है। इस योजना मे अनेकों ऐसे दोष हैं जिनका दूर करना अत्यन्त आवश्यक है। इसके पश्चात् ही इसका प्रयोग विद्यालयों में किया जा सकता है। उदाहरण के लिए इस योजना के लिए अनुभवी, योग्य तथा ऐसे शिक्षक की जो वांछित निर्दिष्ट पाठ का आयोजन कर सकें आवश्यकता है। जब तक ऐसे शिक्षक नहीं मिलेंगे यह योजना सफल नहीं हो सकती। हमारे देश के विद्यालयों में ऐसे शिक्षकों का अभाव है। अतएव इन विद्यालयो मे इस योजना को लागू नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार डाल्टन योजना की सफलता अच्छी पाठ्य पुस्तकों, पाठ्य सामग्री, चित्र, रेखा-चित्र मॉडल इत्यादि की उपलब्धता पर निर्भर है। परन्तु इसके लिए बहुत अधिक धन चाहिए जो भारत के साधारण विद्यालयों की पहुँच के बाहर है।

हमारे विद्यालयों द्वारा इस योजना को अपनाने में एक और कठिनाई हमारे विद्यालयों का संगठन। जब तक इस संगठन में ऊपर से नीचे तक उलट फेर न की जायेगी यह योजना नहीं अपनाई जा सकती। यह योजना बारह वर्ष के बालकों से प्रारम्भ होती है। हमें विद्यालयों का संगठन इस प्रकार करना पड़ेगा कि बालक बारह वर्ष की आयु तक तो किसी और पद्धति द्वारा सीखें और बारह वर्ष के होते ही इस योजना द्वारा सीखना आरम्भ करदे। यह अत्यन्त जटिल कार्य है और भारतवर्ष के समस्त विद्यालयों का संगठन बदल देना अत्यन्त कठिन और दुरूह है इसके अतिरिक्त हमारे यहाँ की परीक्षा पद्धति उस योजना से मेल नही खाती इस कारण जब तक परीक्षा पद्धति का ढांचा नहीं बदला जाता इस योजना को कार्य रूप में रखना असंभव है।

अन्त में हम यह कह सकते हैं कि डाल्टन योजना शैक्षिक पद्धतियों में एक मूल्यवान पद्धति है। परन्तु इसको अपरिवर्तनीय और कठोर रूप में ग्रहण नहीं करना चाहिए। वरन् इस योजना को लचीला रूप देना चाहिए ताकि विभिन्न विद्यालय अपनी परिस्थितियों के अनुसार इसे अपना सकें। यह बहुत लाभकारी सिद्ध हो सकती है। वास्तव में डाल्टन योजना के निर्माणक इसका मुख्य गुण इसका लचीलापन ही बताते हैं।

सारांश

डाल्टन योजना की जन्म दात्री मिस हेलन पार्कहर्स्ट थीं। **इस योजना का उद्देश्य** बालकों को इस प्रकार का वातावरण प्रदान करना था जो सरल हों तथा जिसमें कार्य करने में बालक आनन्द का अनुभव करे। यह योजना वैयक्तिक शिक्षण पर बल देती है।

डाल्टन योजना के मुख्य सिद्धान्त—(१) शिक्षक के स्थान पर बालक को मुख्य स्थान (२) बालक को अपनी गति से प्रगति करने की पूर्ण स्वतंत्रता (३) बालक द्वारा स्वयं स्वशिक्षण की व्यवस्था (४) शिक्षक पथ-प्रदर्शक के रूप में (५) सामूहिक शिक्षा का आयोजन।

डाल्टन योजना की मुख्य विशेषताएं—(१) कक्षा के कमरों को प्रयोगशालाओं का रूप दे दिया जाता है (२) विद्यालय के कार्य के आरम्भ करने से पहिले सब विद्यार्थियों का सम्मेलन होता है और सायंकाल को विमर्श सभा होती है (३) बालक को एक माह में जितना कार्य करना होता है उसका ठेका दे दिया जाता है। (४) प्रत्येक माह के कार्य का विभाजन एक सप्ताह के निर्दिष्ट पाठों में बाँट कर दिया जाता है और (५) प्रत्येक निर्दिष्ट पाठ को कई इकाइयों में विभाजित कर दिया जाता है एक दिन का कार्य ही एक इकाई कहलाती है (६) बालक की प्रगति के सम्बन्ध में तीन रेखाचित्र अङ्कित किये जाते हैं। एक बालक स्वयं भरता है इसमें वह अपनी प्रगति अंकित करता है। दूसरे में विषय विशेषज्ञ अपने विषय के बालकों द्वारा की हुई प्रगति अंकित करता है। तीसरे में सारी कक्षा की सब विषयों में प्रगति अंकित की जाती है। (७) कक्षा शिक्षण की इकाई न होकर केवल संगठन की इकाई रह जाती है (८) शिक्षक का कार्य बालक का पथ-प्रदर्शन करना होता है। वह अपने विषय का विशेषज्ञ होता है।

डाल्टन योजना में गुण—(१) वैयक्तिक रूप से शिक्षा की व्यवस्था (२) बालक की सक्रियता को प्रोत्साहन (३) श्रम की महत्ता पर बल (४) जिस

विषय में बालक रुचि रखता है उसका गहन अध्ययन करने के अवसर (५) बालक का अपनी गति से ज्ञान ग्रहण करना (६) अनुशासन की समस्या न उठना (७) परीक्षा को कोई महत्व नहीं (८) सामाजिक कुशलता का विकास (९) लिखित कार्य पर बल (१०) वैयक्तिक शिक्षण एवं कक्षा शिक्षण में समन्वय (११) अनुभव द्वारा ज्ञान प्राप्त करना (१२) कार्य करने के प्रयोजनों का स्पष्ट होना।

डाल्टन योजना में दोष—(१) बालक के ऊपर बहुत अधिक उत्तरदायित्व डाल दिया जाता है। (२) भाषा शिक्षण इत्यादि मे यह योजना अधिक सफल नहीं है (३) इस योजना मे बहुत सामग्री की आवश्यकता पड़ती है जिसके लिए पर्याप्त मात्रा में धन चाहिए (४) सामूहिक भावना का विकास पूर्ण रूप से नहीं हो पाता (५) सुस्त बालक कुछ भी नही सीखते वह बहुधा दूसरे बालकों की नकल करके अपना कार्य पूर्ण कर लेते हैं (६) वैयक्तिक विभिन्नता के आधार पर शिक्षा का आयोजन अर्ध रूप में ही किया जाता है (७) बहुत शीघ्र विशेषीकरण आरम्भ हो जाता है (८) शिक्षक के व्यक्तित्व से बालक कुछ भी नहीं सीख पाते (९) विशेष प्रशिक्षित शिक्षकों की आवश्यकता पड़ती है (१०) विभिन्न विषयों मे समन्वय स्थापित नहीं हो पाता (११) कुछ विषयों में डाल्टन योजना को नहीं अपनाया जा सकता है।

डाल्टन योजना को हमारे विद्यालयों में लागू करना अत्यन्त कठिन है क्योकि न तो यहाँ के विद्यालयों के पास पर्याप्त धन है न ही यहाँ की शिक्षा का संगठन एवं परीक्षा प्रणाली ऐसी है कि इस योजना को सरलता से अपनाया जा सके फिर भी यथा संभव यह चेष्टा करना उचित ही होगा कि परिस्थितियों के अनुसार इस योजना में रूपान्तर लाकर इसे अपना लिया जाय।

अध्ययन के लिए महत्वपूर्ण प्रश्न

१. डाल्टन योजना किन सिद्धान्तों पर अधारित है ? इन सिद्धान्तों पर अधारित होने से इसमे किन गुणों का समावेश हो गया है। स्पष्ट समझाइए।
२. डाल्टन योजन के स्वरूप एवं विशेषताओं की व्याख्या कीजिए।
३. डाल्टन प्रणाली को भारतवर्ष की पाठशालाओं में आरम्भ करने में क्या कठिनाइयाँ है ? किस प्रकार इन कठिनाइयो को दूर किया जा सकता है।
४. "डाल्टन योजना द्वारा सामूहिक भावना की अवहेलना होती है" इस कथन की विवेचना कीजिए और अपना मत दीजिए कि आप उपर्युक्त कथन से कहाँ तक सहमत हैं ?

५. डाल्टन योजना तथा मन्टेसरी प्रणाली एवं डाल्टन योजना तथा प्रोजेक्ट प्रणाली की तुलना कीजिए। आप भारतीय शिक्षा के संगठन में क्या हेर-फेर लाना चाहेंगे ताकि इन तीनों प्रणालियों को उपयुक्त स्थितियों तथा उचित आयु के बालकों के साथ अपनाया जा सके।

सहायक पुस्तकों की सूची

(१) हेलेन पार्कहर्स्ट : एडूकेशन ऑन दि डाल्टन प्लान।
(२) इवेलिन ड्यूई : दि डाल्टन लेबोरेटरी प्लान।
(३) ए० जे० लिच : दि डाल्टन प्लान।
(४) किमिन्स एण्ड रेनी : दि ट्रम्फ ऑव दि डाल्टन प्लान।
(५) जे० ऐडम्स : मार्डन डेवलपमेण्ट इन एडूकेशनल प्रैक्टिस।
(६) रग हेरोल्ड : डेमोक्रैसी एण्ड दि करीक्यूलम।

अध्याय १८

शिक्षा में कुछ नवीन शिक्षण योजनायें

हमने पिछले अध्यायों में शिक्षा की कुछ नवीन पद्धतियों पर प्रकाश डाला है। जिन पद्धतियों का हमने वर्णन किया है वे अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। परन्तु इन पद्धतियों के अतिरिक्त कुछ और पद्धतियाँ भी है जो शिक्षण देने की विधि के प्रति कुछ न कुछ नया दृष्टिकोण प्रस्तुत करती है। इस अध्याय में हम इन्हीं शिक्षण पद्धतियो का वर्णन करेंगे।

विनेटका-योजना[1]

विनेटका योजना का नाम इलियानोंज के विनेटका नामक स्थान के ऊपर रखा गया है जहाँ इसके निर्माणक कार्लटन वाशबर्न[2] ने प्राथमिक पाठशालाओं में एक नया शिक्षा सम्बन्धी प्रयोग आरम्भ किया था। इस योजना का विवरण वाशबर्न द्वारा लिखित पुस्तक "एडजस्टिङ्ग दि स्कूल टु दि चाइल्ड"[3] में मिलता है। विनेटका योजना में बालक को प्रमुख स्थान दिया जाता है और इस बात पर बल दिया जाता है कि विद्यालय का संगठन इस प्रकार किया जाय कि वहाँ बालकों के व्यक्तिगत भेदों को प्रधानता देकर शिक्षा प्रदान की जाय। इस योजना के सम्बन्ध में यह जान लेना आवश्यक है कि इस योजना को वाशवर्न ने केवल प्रयोगात्मक रूप में ही प्रस्तुत किया है। उनका विचार है कि इस योजना का उचित विकास उस समय हो जायगा और इस के गुण निखर आयेंगे जब इस योजना के ऊपर व्यवहारिक रूप से प्रयोग किए जायेंगे और उनके आधार पर इसकी रूप रेखा में वांछित परिवर्तन लाये जायेंगे।

1—Winnetka plan, 2- Carleton washburne, 3—Adjusting the school to the child.

विनेटिका योजना के सिद्धान्त

विनेटका योजना में बालकों के व्यक्तिगत भेद के आधार पर शिक्षा की व्यवस्था पर बल दिया जाता है। परन्तु इसके साथ ही साथ उनके सामाजिक अनुकूलन को भी ध्यान में रखा जाता है। इस योजना के आधार भूत सिद्धान्तों का वर्णन हम निम्न प्रकार से कर सकते हैं—

(१) बालकों की शिक्षा की व्यवस्था विद्यालयों में इस प्रकार हो कि बालकों को अपनी व्यक्तिगत योग्यताएं एवं प्रवृत्तियों के अनुसार विकास करने के अवसर मिल जाए। तात्पर्य यह कि व्यक्तिगत विभिन्नता के आधार पर उन्हें शिक्षण देने का आयोजन हो।

(२) सुखी, सन्तोषप्रद एवं सुसंतुलित जीवनयापन का अधिकार प्रत्येक व्यक्ति को है। अतएव पाठशालाओं में इस प्रकार का स्वाभाविक एवं स्वस्थ वातावरण निर्माण किया जाय कि बालक को आन्तरिक एवं वाह्य अनुकूलन प्राप्त हो जायें।

(३) बालक के व्यक्तित्व के विकास में इस बात को सदैव ध्यान में रखना चाहिए। कि वह समाज के हित में हो।

(४) बालक समाज में उत्पन्न होता है और समाज में ही उसे रहना होता है। अतएव उसे समाज में अपना अनुकूलन करना तथा समाज की उन्नति के लिए सदैव तत्पर रहना अत्यन्त आवश्यक है। इसके लिए उसे (क) कुछ ज्ञान और कौशल प्राप्त होना चाहिए। उसमें लिखने-पढ़ने की योग्यता का उद्-विकास करना चाहिए तथा गणित एवं सामान्य ज्ञान का प्रारम्भिक ज्ञान देना चाहिए जिनको ग्रहण करने के पश्चात वे और अधिक ज्ञान प्राप्त करने की चेष्टा करें। (ख) बालकों को व्यक्ति और समाज के सम्बन्ध का पूर्ण ज्ञान होना चाहिए और यह जानना चाहिए कि ये दोनों परस्पर एक दूसरे पर आश्रित है तथा एक का दूसरे से घना सम्बन्ध है।

पाठ्य-क्रम

विनेटका योजना के पाठ्य-क्रम में मुख्य विशेषता यह है कि इसका निर्माण बालक को व्यक्तिगत एवं सामाजिक दोनों प्रकार की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर किया जाता है। शिक्षा के विषयों को दो भागों में बाँट दिया जाता है। एक भाग का ध्येय सामाजिक जीवन की आवश्यकताओं को पूर्ण करना होता है तथा दूसरे का ध्येय बालक के व्यक्तित्व का विकास करना होता है।

विनेटका योजना के पाठ्य-क्रम की दूसरी विशेषता इसका लचीलापन है। इस योजना में पाठ्य-क्रम में अनुभव के आधार पर परिवर्तन करने की अनुमति

होती है। इससे तात्पर्य यह है कि यदि अनुभव द्वारा किन्हीं विषयों का पाठ्य-क्रम में समावेश करना उचित हो तो उन्हें सम्मिलित किया जा सकता है। इसी प्रकार यदि कुछ विषय अनावश्यक प्रतीत होते है तो उन्हें पाठ्य-क्रम से निकाला जा सकता है। तात्पर्य यह कि इस योजना में पाठ्य-क्रम में किसी भी प्रकार के स्थायित्व को अस्वीकार किया जाता है। वह सदैव प्रगति के साथ-साथ चलता है।

विनेटका योजना का कार्यक्रम

विनेटका योजना में व्यक्तिगत शिक्षण पर बल दिया जाता है परन्तु जैसा ऊपर वर्णन किया गया है यह योजना सामूहिक विकास की क्रियाओं की भी अवहेलना नहीं करती। इस योजना की कार्य-विधि इस प्रकार से निर्धारित की जाती है कि बालक को व्यक्तिगत विकास के अवसर मिलें तथा सामूहिक क्रियाओ में भाग लेने का प्रोत्साहन मिले।

इस योजना मे प्रत्येक बालक को कुछ निर्धारित कार्य करना होता है। शिक्षक प्रत्येक बालक को एक "ध्येय पत्र"[1] देता है जिस पर निर्धारित कार्य लिखा होता है। बालक इसके अनुसार निर्धारित कार्य को करता है जितना कार्य वह कर लेता है वह सब ध्येय पत्र पर लिख लेना है। इस प्रकार "ध्येय पत्र" द्वारा यह पता रहता है कि बालक को कितना कार्य करने के लिए दिया गया। तथा कितना कार्य उसने कर लिया।

योजना में कार्य-इकाई को अधिक महत्व—जितना कार्य बालक के लिए निर्धारित होता है उसे कार्य-इकाई कहते हैं। इस योजना मे बालक को अपनी गति से कार्य-इकाई को पूर्ण करने की स्वतन्त्रता होती है। जब तक बालक एक कार्य-इकाई को पूर्ण नही कर लेता तब तक उसे नवीन कार्य नहीं दिया जाता। यदि बालक कुशाग्र बुद्धि का है तो वह कार्य इकाई शीघ्र समाप्त कर लेता है और उसे दूसरी कार्य-इकाई मिल जाती है। उसे उस समय तक नये कार्य के लिए नहीं रुकना पड़ता जब तक कि कक्षा के सब बालक उस कार्य इकाई को समाप्त नहीं कर लेते। इस योजना में प्रत्येक बालक अपनी व्यक्तिगत विभिन्नता के आधार पर कार्य करने को स्वतन्त्र रहता है। इसमें कोई निर्धारित समय नहीं दिया जाता जिसके अन्दर कुशाग्रबुद्धि वाले, साधारण एवं मन्द बुद्धि वाले बालकों को निर्धारित कार्य समाप्त कर लेना है। बालक अपनी योग्यतानुसार जितने समय में तथा जिस गति से कार्य को समाप्त कर सकता है, वह उसे करने के लिए स्वतन्त्र रहता है।

1—Good Card.

व्यक्तिशः तथा सामूहिक अध्ययन—व्यक्तिगत विभिन्नता को ध्यान में रख कर जो शिक्षा का आयोजन इस योजना में किया जाता है वह पाठ्यक्रम को दो भागों मे विभाजित कर देता है। ये दो भाग व्यक्तिशः अध्ययन[1] तथा सामूहिक अध्ययन[2] के रूप में होते हैं। विद्यालय के समय को दो बराबर भागों मे बाँटा जाता है। एक भाग में व्यक्तिशः अध्ययन कराया जाता है और दूसरे भाग को सामूहिक अध्ययन में लगाया जाता है।

व्यक्तिशः अध्ययन की विशेषता यह है कि विभिन्न विषयो का शिक्षण बालकों की अपनी व्यक्तिगत प्रगति के अनुरूप होता है। विभिन्न विषयों को दो प्रकारों मे बाँट दिया जाता है। एक प्रकार मे लिखना, पढ़ना, गणित, इतिहास इत्यादि विषय होते है जिन सब का रूप-रेखात्मक ज्ञान प्रत्येक बालक के लिए अत्यन्त आवश्यक होता है। दूसरे प्रकार मे जो विषय आते है वे सब वे विषय होते हैं जो सामाजिक भावना के विकास के लिए महत्वपूर्ण समझे जाते हैं तथा जिनका रूप सृजनात्मक होता है। ये विषय होते हैं, कला, संगीत, साहित्य इत्यादि। बालक इन विषयों मे जिनको चाहे अपने पढ़ने के लिए चुन सकता है। यहाँ यह भी आवश्यक नही है कि सब बालको मे इन विषयो मे समान ही स्तर की योग्यता हो। यह योग्यता व्यक्तिगत विभिन्नता पर निर्भर रहती है। कुशाग्रबुद्धि वाले बालकों मे यह अधिक हो सकती है तथा मन्द बुद्धि वाले बालकों मे कम।

सामूहिक अध्ययन में सामाजिक अथवा सृजनात्मक कार्य कराये जाते हैं। ये कार्य भाषण या वाद-विवाद प्रतियोगिता के रूप में हो सकते हैं या कला, साहित्य, संगीत इत्यादि की रसानुभूति के रूप में हो सकते है। इन कार्यों में अभिनय, खेल कूद, विद्यालय यूनियन की क्रियायें, अन्य प्रकार की गोष्ठियाँ, समितियाँ, क्लब इत्यादि की क्रिया भी आती है। इन सब कार्यों की परीक्षा नहीं ली जाती और न पास या फेल होना इन कार्यों की योग्यता पर निर्भर है। प्रत्येक बालक बिना किसी भय के अपनी रुचि एवं योग्यता के अनुसार इन क्रियाओं में भाग ले सकता है।

योजना की समय-सारणी—जैसा ऊपर कहा गया है इस योजना की समय सारणी इस प्रकार निर्धारित होती है कि बालक को व्यक्तिशः एव सामूहिक अध्ययन के अवसर प्राप्त हो सके। इसके लिए विद्यालय के समय को दो भागों में बाँट दिया जाता है। इन भागों को हम पूर्वान्ह का समय तथा अपरान्ह का समय कह सकते हैं। इन दोनों भागों के बीच के समय में छुट्टी

1—Individualized studies, 2—Socialized studies.

रहती है। प्रथम भाग को व्यक्तिगत कार्य एवं विषय अध्ययन में लगाया जाता है तथा द्वितीय भाग को सामूहिक अध्ययन एवं सामूहिक क्रियाओं में लगाया जाता है।

योजना में स्वत: अध्ययन एवं स्वत: संशोधन की सामग्री का आयोजन—बालकों को अपनी गति से पढ़कर प्रगति करनी होती है। यह उसी समय संभव है जब वे स्वत: अध्ययन कर सकें और जहाँ वे त्रुटि करें उसे स्वत: संशोधित कर सके। इसके लिए उन्हे ऐसी सामग्री प्राप्त होना आवश्यक है जिससे वे स्वयं अध्ययन एवं संशोधन कर सकें। विनेटका योजना ऐसी ही सामग्री का आयोजन करती है। विनेटका योजना पर आधारित कार्य पुस्तकें[1] तथा प्रश्न-पत्र बालकों को उपलब्ध होते हैं। इसके अतिरिक्त शिक्षक पाठ्य पुस्तकों को देखकर ही निर्दिष्ट-कार्य[2] निश्चित करते हैं। वे पूरक प्रश्नावली, अभ्यास के जाँच-पत्र इत्यादि भी स्वयम् तैयार करके बालकों को दे देते हैं। इस प्रकार यह शिक्षक का उत्तरदायित्व रहता है कि बालकों के लिए स्वाध्याय एवं स्वत: संशोधन के लिए आवश्यक सामग्री का प्रबन्ध करे।

बालकों की निदानात्मक जांच—इस योजना में बालकों की निदानात्मक जाँच पर भी बल दिया जाता है। निदानात्मक जाँच द्वारा बालक के अध्ययन में जो त्रुटियाँ एवं कमियाँ रहती हैं उनका पता लगा जाता है। शिक्षक निदानात्मक जाँच के लिए एक विशेष प्रकार के जाँच-पत्र को बनाते है। इस जाँच पत्र में कक्षा ने जितनी पाठ्य इकाइयों का अध्ययन किया है उनको छोटे-छोटे भागों में विभाजित करके प्रत्येक भाग पर अत्यन्त विस्तारपूर्वक प्रश्न पूछे जाते हैं। बालकों द्वारा पढ़ी हुई एक ही शिक्षण की इकाई पर विभिन्न दृष्टिकोणों से पाँच सात प्रश्न पत्र बनाए जाते है। जैसे एक विषय की पठित इकाई पर एक प्रश्न-पत्र इस प्रकार का बनाया जाता है जो उस पठित इकाई में कितना स्मरण कर लिया गया इसकी जाँच कर सके। दूसरा इस प्रकार का प्रश्न-पत्र हो सकता है जो पठित इकाई सम्बन्धी बोध की जाँच करे। तीसरा प्रश्न पत्र पठित इकाई को कैसे प्रयोगात्मक रूप में रखा जा सकता है इसकी जाँचकर सकता है।

बालकों को जाँच पत्र देने की यह विधि है कि पहिले दो तीन जाँच पत्र अभ्यास के लिए दे दिये जाते हैं। बालक इन जाँच पत्रों को अपने उत्तरों को शिक्षक द्वारा बनाये हुए आदर्श उत्तरों से मिलाते हैं और अपनी त्रुटियों को स्वयं संशोधित करते हैं। इसके पश्चात वे पठित इकाई को अधिक ध्यानपूर्वक पढ़ते है। बालक अपनी त्रुटियाँ जान जाते हैं और इनको दूर करने के लिए अध्ययन करते हैं। अब उनको अन्य तीन या चार जाँच पत्र दिये जाते हैं जो

1—Work books, 2—Assignment.

उनका परीक्षण करते हैं। ये जाँच-पत्र विभिन्न बालकों के लिए विभिन्न हो सकते हैं।

एक कक्षा से दूसरी में उत्तीर्ण होने का नियम—विनेटका योजना प्राथमिक विद्यालयों में प्रयोग की जाती है। इसे पहली कक्षा से आठवीं कक्षा तक कार्यान्वित किया जाता है। इस योजना में बालक को एक कक्षा से दूसरी कक्षा में उत्तीर्ण करने की जो विधि अपनाई जाती है वह प्रचलित विधियों से विभिन्न है। बालक का उत्तीर्ण होना उसके बौद्धिक एवं सामाजिक विकास पर निर्भर है। परन्तु उसका नई कक्षा में चढ़ा देना उसके सामाजिक विकास पर ही केन्द्रित होता है। एक बालक जो सातवी कक्षा में बैठा है कोई आवश्यक नहीं कि उसमें सब विषयों की योग्यता सातवीं कक्षा के ही योग्य हो। उसने किसी विषय मे छटी कक्षा का कार्य पूरा नही किया हो और किन्ही विषयों मे आठवी कक्षा का कार्य आरम्भ कर दिया हो। उसे सातवी कक्षा में बैठाने का कारण उसका सामाजिक विकास तथा सातवीं कक्षा के बालको की आयु के अनुकूल होना होता है। ऐसा करने से बालक को अपनी गति से सीखने की स्वतन्त्रता भी होती है और उसके सामाजिक व्यवस्थापन में कोई कठिनाई नही होती। एक पिछड़ा हुआ बालक भी अपनी आयु के बालको के साथ एक ही कक्षा में बैठता है चाहे उसने सब विषयो में दूसरे बालकों की तुलना में योग्यता न प्राप्त की हो। इस पद्धति में परीक्षा में अनुत्तीर्ण होने पर जो बालक को मानसिक क्लेश होता है उसे दूर कर दिया जाता है क्योंकि यहाँ कक्षा में फेल होकर नीची कक्षा में ही रह जाने का कोई प्रश्न नही उठता। इसके अतिरिक्त कुशाग्र बुद्धि वाले बालक प्राथमिक शिक्षा को छः वर्ष में ही समाप्त कर सकते हैं। इसे दूसरे बालक अधिक समय लगा सकते हैं।

विनेटका योजना में गुण

विनेटका योजना में वे सब गुण होते है जो डाल्टन योजना के सम्बन्ध में वर्णन किये गये है। इसके मुख्य गुणों का वर्णन हम इस प्रकार कर सकते हैं—

(१) यह योजना व्यक्तिगत विभिन्नता के आधार पर शिक्षा देने पर बल देती है। इसमें सब बालकों को एक ही लाठी से नहीं हाँका जाता वरन उनकी अपनी बुद्धि के अनुसार शिक्षा ग्रहण करने की व्यवस्था की जाती है।

(२) बालक निर्दिष्ट कार्य को अपनी गति से पूरा कर सकते हैं। न तो मन्द बुद्धि बालकों को साधारण बालकों के साथ शीघ्रता ही से कार्य करना आवश्यक होता है और न कुशाग्रबुद्धि बालकों को धीमे कार्य करने की आवश्यकता होती है।

(३) सामाजिक अनुकूलन का विशेष ध्यान रखा जाता है। बालक उसी कक्षा में बैठते हैं जिस कक्षा में वे अपने समान आयु वाले बालकों के सम्पर्क में आ सकें।

(४) सामाजिक विकास के लिए सामूहिक क्रियाओ का उचित आयोजन होता है।

(५) बालको की निदानात्मक जाँच की जाती है। इस प्रकार उनके अध्ययन की त्रुटियो एवं कमियों का पता लगाया जाता है।

(६) बालको को स्वत: अध्ययन करने के लिए अवसर प्रदान किये जाते है।

(७) बालक अपनी त्रुटियों का स्वतः सशोधन करते है।

(८) शिक्षक बालको पर अपने विचार नही थोपता वरना उनका पथ प्रदर्शक का होता है। वह कक्षा मे घूम कर बालकों के कार्य का निरीक्षण करता है और उनकी कठिनाइयों को दूर करता है। इस योजना मे शिक्षक को न कापी जाँचनी होती है और न श्यामपट इत्यादि का उपयोग करके समझाने की आवश्यकता होती है अतएव उसको इस बात के लिए पर्याप्त समय प्राप्त होता है कि वह जाँच पत्र इत्यादि बना सके।

(९) इस योजना मे बालक धोखा नही दे सकते क्योंकि जाँच पत्र द्वारा तुरन्त यह पता लगा लिया जाता है कि उन्होने कार्य ठीक ढग से किया भी है या नही।

तथा (१०) इस योजना मे बालको के उत्तीर्ण करने का ढङ्ग अच्छा है। बालक कक्षा मे फेल होने के दुष्परिणामो से बच जाते है।

योजना में दोष

इस योजना मे दोष भी कई एक है। कुछ मुख्य दोष निम्न लिखित हैं—

(१) योजना मे विषयों के शिक्षण में लिखित कार्य पर अधिक बल दिया जाता है। भाषा इत्यादि के शिक्षण मे मौखिक कार्य का भी महत्व है, जिसकी अवहेलना की जाती है।

(२) इस योजना में जाँच-पत्रों का बनाना कोई सरल कार्य नहीं है इसके लिए भी अत्यन्त योग्य शिक्षकों की आवश्यकता है।

(३) योजना में पर्याप्त परीक्षण सामग्री की आवश्यकता होती है क्योंकि इसमे मौखिक आवृत्ति को कोई महत्व नहीं होता। इस सामग्री को जुटाना कठिन है।

(४) बालक शिक्षक के व्यक्तित्व से कोई लाभ नहीं उठा पाते क्योंकि वे उन्हे मौखिक रूप से कोई शिक्षण प्रदान नही करते। उनसे शुद्ध उच्चारण सीखना, सरल भाषा मे बोलना वे कुछ नहीं सीख पाते।

(५) इस योजना को व्यवहारिक रूप में रखना कठिन हैं। प्रत्येक बालक किसी भी कक्षा में होकर दूसरी कक्षा का कार्य कर सकता है। इस प्रकार एक बालक जो पाँचवीं कक्षा में है वह गणित के विषय में चौथी कक्षा का कार्य कर रहा हो सकता है और छठी कक्षा का भाषा का कार्य· इस प्रकार शिक्षक को प्रत्येक बालक की प्रगति के अनुसार जाँच पत्र इत्यादि बनाने होंगे। उसे प्रत्येक बालक की विभिन्न विषयों में प्रगति के अनुसार कार्य बाँटना होगा। यह विधि उन कक्षाओं मे जिनमे बालको की संख्या कम है उनमें तो चल सकती है परन्तु बड़ी कक्षाओं में जहाँ बालकों की संख्या अधिक है यह संभव नहीं। भारतवर्ष के विद्यालयों में इस योजना को इसी कारण कार्यान्विन्ति करना अत्यन्त कठिन है।

गैरीशाला योजना

इस योजना के प्रवर्तक विलिएम ए० बर्ट थे। इस योजना का नाम गैरी नामक स्थान जो संयुक्त राष्ट्र अमरीका के इण्डियाना प्रदेश में है और जहाँ बर्ट महोदय शिक्षाधीक्षक थे। उसी के नाम पर यह नाम रखा गया। इस योजना का प्रचलन सन् १९०८ मे हुआ था। गैरी नगर एक नया बसा हुआ नगर था। यहाँ के विद्यालयों मे स्थानाभाव था तथा फर्नीचर इत्यादि की भी कमी थी। बर्ट महोदय ने इन कमियो को दूर करने के लिए जो योजना चलाई उसे ही गैरी योजना कहते हैं। इस योजना में जितने बालको के लिए कक्षा में स्थान होता है उससे दुगने बालक भर्ती किए जाते हैं जैसे यदि कक्षा में बीस बालक बैठकर उचित ढंग से कार्य कर सकते हैं तो चालीस बालक तक उस कक्षा में प्रवेश पा सकते हैं। इन चालीस विद्यार्थियों के शिक्षण के लिए समय-सारणी इस प्रकार बनाई जाती है कि जब आध विद्यार्थी कक्षा मे भाषा, गणित, इतिहास इत्यादि का शिक्षण पा रहे हैं तो शेष आधे विद्यार्थी कक्षा के बाहर खेल कूद, व्यायाम, बागवानी, इत्यादि में लगे रहते है।

गैरी योजना के आधार भूत सिद्धान्त

(१) गैरी योजना मे विद्यालयों के भवनों एवं अन्य सामग्री पर व्यय किये हुए धन का समुचित उपयोग करने के सिद्धान्त को मान्यता दी जाती है। यदि सम्पूर्ण कक्षा को एक ही समय में एक ही प्रकार के विषयों में शिक्षा दी जाय तो कक्षा के कमरे एवं सामग्री का उपयोग दिन के केवल एक तिहाई भाग में होता है। दो तिहाई भाग में उस समय जब बालक कक्षा से बाहर काम करते

हैं बेकार पड़े रहते हैं। इस योजना द्वारा इन कमरों इत्यादि के उपयोग का समय पहिले से बढ़ा कर दुगना कर दिया गया है।

(२) शिक्षा देने में कार्य, खेल तथा अध्ययन तीनों को महत्व देने के सिद्धान्त के आधार पर शैक्षिक व्यवस्था होती है। बालकों को कक्षा से बाहर कार्य करने का अवसर देकर इस योजना में उनके सर्वतोमुखी विकास की ओर ध्यान दिया जाता है।

(३) सामाजिक विकास के सिद्धान्त को उचित स्थान दिया जाता है। बालकों से कक्षा के बाहर जो कार्य कराये जाते हैं उनका समाज से सम्बन्ध होता है। वे इन कार्यों को करके सामाजिक अनुकूलन के लिए तैयार हो जाते है।

(४) विद्यालयों मे अनुशासन रखने की व्यवस्था जनतंत्रीय होती है इस कारण बालक आत्मनियन्त्रण करना सीख जाते हैं।

गैरीशाला योजना की मुख्य विशेषताएं

(१) गैरीशाला योजना में चार मुख्य बातों पर बल दिया जाता है—(क) खेल तथा व्यायाम (ख) विद्यालय की प्रयोगशालाओ में अथवा सहकारी वस्तु-भण्डार एव दूकान मे विशेष कार्य के करने पर (ग) सामाजिक तथा सृजनात्मक क्रियाओ में विद्यालय मे अथवा समाज मे भाग लेने पर तथा (घ) विशेष पाठ्य-विषयों को शिक्षा प्रदान करने पर। इन चारो आदर्शों को प्राप्त करने में यह आशा की जाती है कि बालक का व्यक्तिगत एवं सामाजिक दोनों प्रकार का विकास हो जायगा।

(२) **विद्यालय संगठन**—इस योजना में विद्यालय के भवन का, कई प्रकार से उपयोग किया जाता है। इसमें प्रत्येक बालक को विद्यालय के पूरे समय मे कक्षा में ही नही बैठा रहना पड़ता। वरन् वह आधे समय कक्षा में कार्य करता है और आधे समय कक्षा से बाहर। विद्यालय का संगठन इस प्रकार किया जाता है कि विद्यालय की इमारत, पाठ्य-क्रम, समय-सारणी इत्यादि दो भागो मे विभाजित हो जाय।

(अ) विद्यालय का भवन—विद्यालय का भवन दो भागों में बाँटा जाता है। एक मे कक्षाएं होती हैं और दूसरे में विभिन्न क्रियाओं के लिए सुसज्जित कक्ष होते हैं। कक्षाओं में पाठ्य विषयो एवं कौशल का अध्यापन होता है। विशेष सामग्री से सुसज्जित कक्ष मे सामूहिक एवं सृजनात्मक क्रियायें की जाती हैं। इस प्रकार के कक्ष में होती है प्रयोगशालायें, चित्रालय, श्रोतागृह, व्यायामशाला सहकारी वस्तु-भण्डार एवं दूकान, क्रीड़ा क्षेत्र, उद्यान, पुस्तकालय एवं वाचना-

लय। विद्यार्थियों का एक भाग जब कक्षा में कार्य करता है तो दूसरा विद्यालय के भवन के दूसरे भाग में कार्य करता है।

(आ) समय-विभाग—विद्यालय का समय दो भागों में विभाजित कर दिया जाता है। पहिले भाग में कक्षा का एक समूह कक्षा में पढता है और दूसरा कक्षा के बाहर दूसरे कार्यों में संलग्न रहता है। फिर विद्यालय के समय के दूसरे भाग में ये दोनों समूह अपना स्थान बदल लेते है।

(इ) पाठ्य-क्रम—प्रत्येक छात्र के लिए दो प्रकार का पाठ्यक्रम रहता है। एक प्रकार के पाठ्य-क्रम मे साधारण विषय एवं कौशल रहते हैं। ये बालक के बौद्धिक विकास के लिए होते हैं। और दूसरे प्रकार के पाठ्य-क्रम में उन सब क्रियाओं का आयोजन होता है जो बालक के शारीरिक, सामाजिक एवं संवेगात्मक विकास के लिए आवश्यक होती है। इस योजना में पाठ्य-क्रम को इस प्रकार निर्धारित किया जाता है कि बालक का न केवल बौद्धिक विकास हो वरन् संवेगात्मक, शारीरिक एवं सामाजिक विकास भी हो।

(३) अध्यापक—इस योजना में प्रत्येक विषय के विशेषज्ञ अध्यापक होते हैं। इनके अतिरिक्त कुछ विशिष्ट अध्यापक भी होते हैं जो औद्योगिक, व्यापारिक एवं नागरिक शास्त्रीय विषयों तथा पिछडे हुए छात्रों के लिए नियुक्ति किये जाते हैं। उनका कार्य पिछड़े हुए बालकों की विशेष देख-रेख करना होता है।

(४) विद्यालय प्रबन्ध—इस योजना में किण्डरगार्टेन से लेकर माध्यमिक कक्षाओं तक के समस्त विद्यार्थी एक ही विद्यालय में पढ़ते है। इस विद्यालय का प्रबन्ध एक ही प्रधानाध्यापक द्वारा होता है। किण्डरगार्टेन, प्राथमिक अथवा माध्यमिक स्तरों पर विद्यालय प्रबन्ध के लिए एक अलग से प्रधानाध्यापक की इस योजना में कोई आवश्यकता नहीं होती।

(५) छात्र एवं छात्राएं—गैरी योजना में छात्र तथा छात्राऐं साथ-साथ पढ़ते है और दोनों को कार्य करने की समान सुविधाऐं प्राप्त होती है।

(६) अनुशासन—इसमें प्रजातान्त्रिक अनुशासन पर बल दिया जाता है। प्रधानाध्यापक अध्यापकों तथा छात्रों की समितियाँ बनवाता है जिनकी सहायता से वह विद्यालय मे अनुशासन रखने में सफल होता है।

(७) विद्यालय के कार्य का समय—गैरीशाला योजना में विद्यालयों के कार्य काल की अवधि बढ़ा दी जाती है। उच्च कक्षाओं में विद्यालय प्रातः ८.३० बजे से आरम्भ होता है और सायकाल के ५ बजे बन्द होता है। इतना समय बढ़ा देने से बालकों को अवकाश के समय की क्रियाओं को विद्यालय में ही करने का समय मिल जाता है इसके अतिरिक्त विद्यार्थियों को सायकाल एवं शनिवार को कार्य करने को भी कहा जाता है परन्तु इन समय कार्य

करना अनिवार्य न होकर उनकी अपनी इच्छा पर निर्भर होता है। फिर भी यह देखा गया है कि विद्यालयों में से $\frac{2}{3}$ बालक शनिवार के कार्य के लिए तैयार रहते हैं।

(८) **छुट्टियाँ**—इस योजना में छुट्टियाँ बहुत कम होती है। बड़ी आयु के छात्रों को यह सुविधा होती है कि वे अपनी १२ सप्ताह की छुट्टी, वर्ष के किसी भी तिमाई में जिसमें उन्हें कोई जीविका उपार्जन का कार्य करने के सबसे अधिक अवसर मिल सकते हैं ले सकता है।

(९) **व्यावसायिक शिक्षा**—गैरीशाला योजना जीविका उपार्जन की शिक्षा पर विशेष बल देती है। इसके लिए विभिन्न व्यवसाय में कुशल विशेषज्ञ शिक्षक नियुक्त किये जाते है। बालक अपने शिक्षकों के साथ कार्य करके व्यवसाय को सीखते है।

(१०) **विद्यालय के भवन का समाज द्वारा उपयोग**—विद्यालय का कार्य समाप्त होने पर बस्ती के लोग इसके भवन का, क्रीड़ा क्षेत्र एवं अन्य सामग्री का उपयोग कर सकते हैं। इस प्रकार विद्यालय एवं समाज में सम्पर्क बना रहता है और विद्यालय समाज का सांस्कृतिक केन्द्र बन जाता है।

योजना में गुण

गैरीशाला योजना से गुण निम्न लिखित हैं—

(१) आर्थिक दृष्टि से इस योजना में विद्यालय के भवन एवं फरनीचर इत्यादि पर कम धन व्यय होता है और इनका अधिक उपयोग होता है।

(२) इस योजना में व्यक्तिगत एवं कक्षाध्यापन का समन्वय प्राप्त करने की चेष्टा की जाती है।

(३) बालक के बौद्धिक, शारीरिक, सामाजिक एवं संवेगात्मक विकास के लिए शिक्षा दी जाती है। बालक के व्यक्तित्व के सर्वोन्मुखी विकास पर बल दिया जाता है।

(४) अनुशासन व्यवस्था इत्यादि का रूप जनतंत्रीय होता है।

(५) विद्यालय तथा समाज में सम्पर्क बना रहता है।

(६) बालकों को व्यावसायिक शिक्षा देने का आयोजन होता है।

(७) बडे बालकों को छुट्टियाँ इस प्रकार दी जाती हैं कि वे छुट्टियों में कुछ व्यवसाय अपना कर धन उपार्जन कर सकें।

योजना में दोष

(१) विद्यालय के कार्यकाल को बढ़ाने से बालकों तथा उनके परिवार में सम्पर्क कम हो जाता है।

(२) किण्डर गार्टेन से लेकर माध्यमिक विद्यालयों तक एक ही समय विभाग से कार्य करना ठीक नहीं है। बालकों की आयु के विभिन्न स्तर पर उनकी क्षमताओं एवं रुचियों में अन्तर होता है। समय विभाग इन्हीं के अनुसार होना चाहिए।

(३) अनुभवी एवं योग्य अध्यापकों की आवश्यकता होती है। जो अध्यापन कार्य के साथ साथ प्रयोगशालाओं इत्यादि में भी कार्य कराने में दक्ष हों।परन्तु ऐसे अध्यापकों का मिलना कठिन हो जाता है।

(४) इस योजना में व्यक्तिगत अध्यापन पर अधिक बल दिया जाता है। इस कारण अध्यापकों, पाठ्य सामग्री इत्यादि पर व्यय बढ़ जाता है जिससे यह योजना उतनी अल्प व्ययी नहीं होती जितनी कि समझी जाती है।

अन्त मे हम कह सकते हैं कि प्रणाली अनेक गुणों से परिपूर्ण है परन्तु इसमें कुछ ऐसे दोष हैं जिनके कारण यह सर्वमान्य नहीं हो सकती। यदि इसके समय विभाग के दोष को तथा अन्य दोषों को दूर कर दिया जाय तथा अनुभवी शिक्षक इस योजना मे रुचि लेने लगें तो इस योजना को अपनाया जा सकता है।

बटेविया योजना

बटेविया योजना का संचालन जान केनेडी द्वारा हुआ था। ये न्यूयार्क प्रान्त के बटेविया नामक स्थान मे शिक्षा सुपरिन्टेन्डेट थे। इनके सामने यह कठिनाई आई कि बेटेविया नगर के विद्यालयों मे एक कक्षा के कमरे में पचास विद्यार्थियों को बैठाला जाता था। जब विद्यार्थियों की संख्या बढ़ी तो और अधिक शिक्षकों और अधिक कमरों की आवश्यकता प्रतीत हुई। कमरे बनना कठिन था परन्तु शिक्षकों की नियुक्ति की जा सकती थी। अतएव केनेडी महोदय ने यह योजना बनाई कि जिस कक्षा में पचास से अधिक विद्यार्थी हैं उनमें एक अतिरिक्त शिक्षक की नियुक्ति की जाय। इन दो शिक्षकों के बीच में कार्य इस प्रकार बाँटा जाय कि यदि एक शिक्षक कक्षा-शिक्षण कर रहा है तो दूसरा शिक्षक बालकों को व्यक्तिगत सहायता प्रदान कर रहा है।

योजना की कार्य पद्धति—योजना की कार्य विधि इस प्रकार की है कि व्यक्तिगत एवं कक्षा शिक्षण में समन्वय स्थापित हो जाता है। शिक्षक विद्यार्थियों को स्वाध्याय करने का समय देता है और उनकी कठिनाइयों को दूर करता है। इसके साथ ही साथ कक्षा-शिक्षण भी होता है। इस योजना में कक्षा को दो भागों में बाँट दिया जाता है एक भाग में जब सामूहिक शिक्षा दी जाती है तो दूसरा भाग स्वाध्याय में लगा रहता है। एक शिक्षक कक्षा-शिक्षण

करता है तो अतिरिक्त शिक्षक बालकों की कठिनाई दूर करता है। परन्तु यदि कक्षा में एक ही शिक्षक होता है तो शिक्षक पहिले पूरी कक्षा को पढ़ाता है और फिर कुशाग्रबुद्धि छात्रों को व्यक्तिगत अध्ययन के लिए आवश्यक निर्देश देता है। इन छात्रों को पुस्तकालय भेज दिया जाता है और फिर पिछड़े हुए बालकों को व्यक्तिगत सहायता प्रदान की जाती है। इस योजना में परीक्षा की व्यवस्था अध्यापक के स्थान पर विद्यालय अधीक्षक करता है।

योजना की विशेषताएं एवं गुण—इस योजना में मुख्य योजनाऐं निम्न लिखित हैं—

(१) इस योजना में कक्षा-शिक्षण एवं व्यक्तिगत शिक्षण में समन्वय प्राप्त करने की चेष्टा की जाती है।

(२) शिक्षक कुशाग्र बुद्धि और मन्द बुद्धि बालकों की अवहेलना नहीं करते वरन उन्हें आवश्यक निर्देश देते हैं और उनकी समस्याओं को हल करने मे उन्हें सहायता देते हैं।

(३) इस योजना में बालक को स्वाध्याय के अवसर दिये जाते हैं। बालक में आत्मनिर्भरता की भावना का विकास होता है।

(४) इस योजना में दो शिक्षक होने से कक्षा के कमरों का उपयोग अधिक अच्छे प्रकार से होता है। बालकों को व्यक्तिगत सहायता भी मिलती है और स्थानाभाव की समस्या भी हल हो जाती है।

योजना में दोष—इस योजना के मुख्य दोष निम्नलिखित हैं—

(१) इस योजना में व्यय अधिक होता है। क्योंकि विद्यालयों में अतिरिक्त शिक्षकों की नियुक्ति करनी पड़ती है और अध्यापन के उपकरणों पर अधिक धन व्यय करना पड़ता है।

(२) बहुधा कुशाग्र बुद्धि बालकों की उपेक्षा कर दी जाती है क्योंकि शिक्षक पिछड़े हुए बालकों की ओर अधिक ध्यान दिया जाता है।

(३) योग्य तथा अनुभवी अध्यापकों का मिलना कठिन है जो प्रत्येक छात्र की व्यक्तिगत कठिनाई को दूर कर सके।

(४) व्यक्तिगत रूप से उपयोगी पुस्तकें नहीं मिलती हैं।

(५) बालक उन हितकर प्रेरणाओं को ग्रहण करने में असमर्थ रहता है जो एक प्रबल व्यक्तित्व वाले शिक्षक से कक्षा-शिक्षण में मिलती।

बटेविया योजना में बहुत से गुण होते हुए भी इसकी काफी आलोचना की गई है। इस योजना का प्रयोग सर्वप्रथम अमरीका के प्राथमिक तथा माध्यमिक विद्यालयों में हुआ परन्तु यह एक सफल योजना न बन सकी। वर्तमान समय में इसका चलना बहुत ही कम है।

डेक्रोल योजना[1]

"डेक्रोले योजना के निर्माणक बेलजियम के शिक्षा विशेषज्ञ ओविड डेक्रोले महोदय थे। उन्होंने इस योजना का आधारभूत सिद्धान्त यह रखा कि बालक जीवन के लिए जीवन से ही शिक्षा पाता है।[2]

डेक्रोले योजना के सिद्धान्त

डेक्रोले महोदय का विश्वास था कि—

(१) बालक एक जीवित प्राणी है जिसको सामाजिक जीवन के लिए तैयार करना है। शिक्षा द्वारा बालक की तैयारी इस रूप में होनी चाहिए कि वह आनन्द का अनुभव करे।

(२) बालक जीवित, वृद्धि एवं विकास करने वाला प्राणी है जीवन के प्रति उसकी प्रतिक्षण वृद्धि एवं विकास होता रहता है। यही कारण है कि वह प्रत्येक आयु स्तर पर दूसरे आयु स्तरों से अपने शारीरिक, बौद्धिक एवं संवेगात्मक रूप में विभिन्न होता है।

(३) एक ही आयु के विभिन्न बालकों में विभिन्नता होती है।

(४) कुछ ऐसी रुचियाँ है जो एक विशेष आयु स्तर पर ही जागृत होती हैं और एक विशेष आयु की ही विशेषता होती है।

(५) बालक की सबसे महत्वपूर्ण क्रियायें उसकी गतिवाही क्रियायें हैं। यदि इन गतिवाही क्रियाओं को उचित ढंग से प्रेरित किया जाय तथा इन पर बुद्धि का नियन्त्रण रखा जाय तो ये क्रियायें आवश्यक रूप से और सब क्रियाओ से सम्बन्धित हो जाती हैं।

डेक्रोले योजना में विद्यालय की विशेषताएँ

डेक्रोले महोदय के अनुसार एक अच्छे विद्यालय में निम्नलिखित विशेषताएँ होनी चाहिए। ये विशेषताऐं ऊपर वर्णन किये हुए पाँच सिद्धान्तों पर आधारित हैं।

(१) विद्यालय को प्रकृति के निकट एक प्राकृतिक वातावरण में स्थापित किया जाता है प्राकृतिक वातावरण में विद्यालय होने के कारण ही बालक वहाँ पर किये जाने वाले कार्यों में आनन्द लेते हैं और उसे स्वतंत्र रूप से अपना विकास करने के अवसर मिल जाते हैं।

(२) विद्यालयों में विद्यार्थियों की संख्या बहुत अधिक नहीं होती तथा

1—De croley plan. 2—Education for life by living,

इनमें सह-शिक्षा होती है। इनमें पढ़ने वाले विद्यार्थियों की आयु चार वर्ष से उन्नीस वर्ष तक होती है। सह-शिक्षा दस या बारह वर्ष तक बड़े विद्यालयों में चलती है।

(३) विद्यालय में कमरे, स्टुड़ियो और प्रयोगशालाएँ होती हैं। इनमें अध्यापन सम्बन्धी सामग्री एवं कुर्सी मेजों इत्यादि का पर्याप्त प्रबन्ध होता है।

(४) विद्यालयों में इस प्रकार का शिक्षण मण्डल होता है जो सक्रिय, बुद्धिमान, सृजनात्मक कल्पना से पूर्ण योग्य तथा बालकों से प्रेम करने वाला एवं उनको समझने में रुचि लेने वाला होता है।

(५) बालकों का विभाजन ऐसे समूह में किया जाता है जो यथा संभव एक दूसरे के समान होते हैं।

(६) इस योजना द्वारा शिक्षण प्रदान करने वाले विद्यालयों में प्रातःकाल के कुछ घन्टे गणित का कार्य करने में, लिखने, पढ़ने, भाषा शिक्षण इत्यादि में लगाये जाते है। शेष प्रातःकाल के समय को अभ्यास कार्य मे, निरीक्षण पाठ में ड्राइंग में तथा गायन इत्यादि के खेलों में लगाया जाता है। दोपहर में बालकों से शारीरिक कार्य कराये जाते है तथा विदेशी भाषाओं का शिक्षण दिया जाता है।

(७) विद्यालय के वातावरण में कृत्रिमता तथा औपचारिकता नहीं होती। बालक इस वातावरण को सरलता से समझ लेता है। वह बहुत शीघ्र ही सीख जाता है कि उसे वातावरण में किस प्रकार व्यवहार करना है और विद्यालय में उससे किन बातों को ध्यान में रखने की आशा की जाती है। इन बातों को सीखने से उसमें आत्मनियन्त्रण एवं आत्म-अनुशासन का विकास हो जाता है।

(८) आत्म विश्वास एवं मौलिकता को प्रोत्साहित करने के लिए बालक दूसरे बालकों को व्याख्यान देते हैं। इन व्याख्यानों के विषय का चुनाव स्वयं बालक करते हैं। परन्तु इनकी स्वीकृति शिक्षक से लेली जाती है। बहुत से विषय, निरीक्षण पाठ या सम्बन्ध स्थापित करने वाले पाठों से सम्बन्धित होते हैं।

(९) विद्यालयों में व्यक्तिगत एवं सामूहिक दोनों प्रकार के कार्यों को महत्व दिया जाता है। सामूहिक कार्यों में भाग लेने से बालकों में सहयोग की भावना का विकास होता है।

(१०) इस योजना में विद्यालय के कार्य में अभिभावकों का सहयोग प्राप्त कर लिया जाता है।

डेक्रोले शिक्षण विधि के आधार—डेक्रोले महोदय बालक की आवश्यकताओं को चार प्रकारों में विभाजित करते हैं। वे हैं—(१) भोजन की

आवश्यकता (२) ऐसे तत्व जैसे गर्मी, सर्दी इत्यादि पर विजय प्राप्त करने की आवश्यकता तथा उनका जीवन पर प्रभाव को समझने की आवश्यकता (३) अपने शत्रुओं से बचाव की आवश्यकता, तथा (४) काम करने की एवं सक्रिय रहने की आवश्यकता। इसमें से प्रत्येक आवश्यकता विद्यालय में बालक के एक साल के कार्य की "रुचियों की केन्द्र"[1] बन जाती है। इस प्रकार चारों आवश्यकताओं को रुचियों का केन्द्र बनने में चार वर्ष लग जाते हैं। इसी कारण शिक्षण का एक चक्र चार वर्ष में पूर्ण हो जाता है। योजना में "रुचियों का केन्द्र" एक बड़ी समस्या से सम्बन्धित कर दिया जाता है। इसी समस्या के हल करने के लिए बालक को गणित, भाषा, इतिहास, भूगोल इत्यादि के विषयों को सीखना पड़ता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि बालक का सीखना जब उसकी किसी न किसी आवश्यकता से सम्बन्धित हो जाता है तो उसकी रुचि जागृत हो जाती है। प्रत्येक "रुचियों के केन्द्र" की यह चेष्ट होती है कि वह बालक की किसी न किसी आवश्यकता को उसके सीखने से सम्बन्धित करदे ताकि बालकों की रुचि जागृत हो जाय। इस प्रकार डेक्रोले की शिक्षण विधि का आधार रुचियों का केन्द्रीकरण कहा जा सकता है।

डेक्रोले योजना में गुण—(१) डेक्रोले योजना मे जीवन के लिए जीवन से ही शिक्षा का सिद्धान्त अपनाया गया है। यह सिद्धान्त शिक्षण प्रदान करने में अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इस सिद्धान्त को अपनाने से विद्यालय का वातावरण कृत्रिमता तथा औपचारिकता से भरा हुआ नहीं हो पाता।

(२) इस योजना में घर और शिक्षालय के वातावरण में एकता एवं समानता स्थापित की जाती है। इसलिए बालक को विद्यालय में आने में कोई दुःख नहीं होता। वह प्रसन्नता पूर्वक विद्यालय में आता है और कार्य करने में आनन्द अनुभव करता है।

(३) बालक को विद्यालय में स्वतन्त्रता प्राप्त होती है। वह घर की तरह से यहाँ भी स्वतन्त्रता का अनुभव करता है।

(४) बालकों की रुचि को प्रधानता दी जाती है। जो भी कार्य बालकों को दिया जाता है वह इस दृष्टि से परख लिया जाता है कि बालक उसमें रुचि लेगें अन्यथा नहीं।

(५) इस योजना में एक गुण यह भी है कि विद्यालयों में निरीक्षण एवं अनुभव के आधार पर शिक्षा दी जाती है। पुस्तकीय ज्ञान को बहुत कम महत्व दिया जाता है।

(६) शिक्षक बालकों के साथ मनोवैज्ञानिक ढङ्ग से व्यवहार करता है।

1—Centre of Interest.

वह उनकी रुचियों को महत्व देता है तथा शिक्षण देने में बालकों के साथ सहानुभूति पूर्ण व्यवहार करता है।

डेक्रोले योजना में दोष—डेक्रोले योजना का मुख्य दोष यही है कि इस योजना द्वारा शिक्षण देने में विषयों की शिक्षा बहुत कम हो पाती है। बालक को अधिक स्वतन्त्रता मिलने से वह कार्य की ओर कम ध्यान देता है और खेल कूद में अधिक समय व्यतीत करता है। रुचियों के केन्द्रीकरण को शिक्षण विधि का आधारभूत सिद्धान्त बनाने के कारण भी इस योजना द्वारा बहुत से महत्वपूर्ण विषयों का अध्ययन अपूर्ण एवं अधूरा रह जाता है। इसके अतिरिक्त इस योजना की सफलता के लिए कुशल शिक्षकों की आवश्यकता है जिनका मिलना सरल बात नहीं है।

सारांश

विनेटका योजना—इस योजना के प्रवर्तक कार्लटन वाशबर्न महोदय थे।

विनेटका योजना के सिद्धान्त—(१) व्यक्तिगत विभिन्नता के आधार पर शिक्षण (२) बालक का आन्तरिक एवं वाह्य अनुकूलन प्राप्त करना (३) बालक का विकास समाज के हित में (४) समाज में अनुकूलन एवं समाज की उन्नति के लिए प्रयत्न।

पाठ्य-क्रम को दो भागों में विभाजित किया जाता है। एक व्यक्तिगत आवश्यकताओं की पूर्ति करता है दूसरा सामाजिक जीवन की आवश्यकताओं की। इससे पाठ्य-क्रम लचीला बनाया जाता है।

कार्यक्रम—इस योजना में प्रत्येक बालक को कुछ निधारित कार्य करना होता है। जितना कार्य बालक के लिए निर्धारित होता है उसे कार्य इकाई कहते हैं। बालक को अपनी गति से कार्य इकाई को पूर्ण करने की स्वतन्त्रता होती है। इस योजना के कार्य क्रम में व्यक्तिशः एवं सामूहिक अध्ययन दोनों को महत्व दिया जाता है। इसके लिए **समय सारणी** को दो भागों में बाँट दिया जाता है। एक भाग विषयों के अध्ययन और व्यक्तिगत कार्यों में लगाया जाता है और दूसरा सामूहिक कार्य में। इस योजना में इस बात का भी आयोजन होता है कि बालक स्वतः अध्ययन कर सकें एवं अपनी त्रुटियों को स्वतः संशोधित कर सके। बालक की त्रुटियों का पता इनकी जाँच पत्रों द्वारा **निदानात्मक जाँच** करके किया जाता है।

बालकों को उत्तीर्ण करने में इस योजना में बालकों के बौद्धिक विकास के स्थान पर सामाजिक विकास को ध्यान में रखा जाता है।

विनेटका योजना में मुख्य गुण इसकी व्यक्तिगत विभिन्नता के आधार पर

शिक्षा देना है। बालक को अपनी गति से बढ़ने की स्वतन्त्रता प्राप्त होने से बालक आनन्द पूर्ण ढङ्ग से कार्य के करने में संलग्न रहते हैं। इस योजना का अन्य गुण सामाजिक विकास को ध्यान में रखकर शिक्षा देना है। इनके अतिरिक्त उसके और भी अनेकों गुण है।

विनेटका योजना में दोष भी बहुत से हैं। उनमें से मुख्य हैं लिखित कार्य पर अधिक बल, जाँच पत्रों के बनाने में कठिनता, परीक्षण सामग्री का जुटाना कठिन, शिक्षक के व्यक्तित्व से बालक को कोई लाभ नहीं तथा बड़ी कक्षाओं में इसको व्यवहारिक रूप मे रखना कठिन होना।

गैरीशाला योजना

इस योजना के प्रवर्तक विलिएम ए० बर्ट महोदय थे।

गैरी योजना के आधारभूत सिद्धान्त—(१) गैरी योजना में विद्यालय के भवन इत्यादि का उपयोग पहिले से दुगुना हो जाता है (२) कार्य, खेल, तथा अध्ययन तीनो को महत्व दिया जाता है (३) सामाजिक विकास पर बल दिया जाता है तथा (४) अनुशासन जनतंत्रिक होता है।

गैरीशाला योजना की मुख्य विशेषताएं—(१) चार मुख्य बातों पर बल (क) खेल तथा व्यायाम पर (ख) प्रयोगशालाओं, दुकान आदि के विशेष कार्य पर (ग) सामाजिक तथा सृजनात्मक क्रियाओं पर तथा (घ) विशेष पाठ्य विषयों की शिक्षा प्रदान करने पर (२) विद्यालय की इमारत, समय विभाग, पाठ्य-क्रम इत्यादि दो भागों में बाँटे जाते हैं। यह बटवारा इस प्रकार होता है कि जब कक्षा का एक समूह कक्षा मे अध्यापन कर रहा होता है तो दूसरा कक्षा के बाहर कार्य करता है। (३) प्रत्येक विषय के विशेषज्ञ अध्यापक होते है (४) विद्यालय में किण्ठरगार्टेन स माध्यमि शिक्षा तक के विद्यार्थी एक साथ पढ़ते हैं तथा सारे विद्यालय का प्रबन्ध एक ही प्रधानाचार्य के आधीन होता है (५) छात्र तथा छात्राएं साथ पढ़ते हैं (६) प्रजातंत्रिक अनुशासन होता है (७) विद्यालय के कार्य काल की अवधि बढ़ी होती हैं। (८) बड़ी आयु के बालक जीविका उपार्जन की सुविधा के अनुसार १२ सप्ताह की छुट्टियाँ कभी भी ले सकते हैं (९) जीविका उपार्जन की शिक्षा पर बल दिया जाता है। (१०) सायंकाल को विद्यालय के भवन का समाज द्वारा उपयोग किया जा सकता है।

योजना में मुख्य गुण—व्यक्तिगत एवं कक्षाध्यापन विधियों में समन्वय प्राप्त कर लेना है। दूसरे आर्थिक दृष्टि से भी यह योजना उपयोगी है इस योजना में बालक के व्यक्तित्व के सर्वोतमुखी विकास पर बल दिया जाता है एक अन्य गुण बालकों को व्यवसायिक शिक्षा देने का आयोजन है।

योजना में दोष यह हैं कि बालक का अपने परिवार से सम्पर्क कम हो जाता है। सब आयु स्तर के बालकों को एक ही समय विभाग से शिक्षा देना ठीक नहीं है। अनुभवी एवं योग्य अध्यापक नहीं मिलते हैं तथा यह योजना बहुत अधिक अल्प व्यय नहीं है।

बटेविया योजना

बटेविया योजना का संचालन जान केवेडी द्वारा हुआ था। यह ऐसे विद्यालयों के लिए बनाई गई जहाँ एक कक्षा में ५० से अधिक विद्यार्थी होते थे। ऐसी कक्षा के लिए एक अतिरिक्त शिक्षक की नियुक्ति की जाती थी। यदि एक शिक्षक कक्षा शिक्षण करता तो अतिरिक्त शिक्षक बालकों की कठिनाई दूर करता था।

योजना की विशेषताएं—(१) कक्षा शिक्षण एवं व्यक्तिगत शिक्षण में समन्वय (२) विभिन्न योग्यताओं के बालकों को शिक्षक द्वारा सहायता (३) बालक को स्वाध्याय के अवसर प्राप्त होना (४) कक्षा के कमरों का अधिकाधिक बालकों के उपयोग में आना। इस योजना में यह दोष हैं कि इसमें व्यय अधिक होता है, कुशाग्र बुद्धि वाले बालकों की उपेक्षा करदी जाती है। योग्य अध्यापक नहीं मिलते तथा बालक को शिक्षक के व्यक्तित्व से हितकर प्रेरणएं नहीं मिल पाती है।

डेक्रोले योजना

डेक्रोले योजना के निर्माणक बेलजियम के शिक्षा विशेषज्ञ ओविड डेक्रोले महोदय थे। इस योजना का आधारभूत सिद्धान्त है कि "बालक जीवन के लिए जीवन से ही शिक्षा पाता है।"

डेक्रोले योजना के सिद्धान्त—(१) बालक के जीवन की तैयारी में उसे आनन्द का अनुभव हो (२) बालक प्रत्येक आयु स्तर पर दूसरे आयु स्तरों से विभिन्न होता है (३) एक ही आयु के विभिन्न बालकों में विभिन्नता होती है (४) कुछ रुचियाँ एक विशेष आयु स्तर पर ही जागृत होती हैं, तथा (५) बालक की गतिवाही क्रियायें सबसे महत्वपूर्ण है।

डेक्रोले योजना में विद्यालय की विशेषताएं—(१) विद्यालय का वातावरण प्राकृतिक होना (२)विद्यार्थियो की सख्या कम, सह-शिक्षा (३) विद्यालय के कमरे, स्टूडियों एवं प्रयोगशालाएँ पर्याप्त शिक्षण सामग्री से पूर्ण (४) शिक्षक योग्य (५) बालकों का विभाजन समान समूह मे (६) प्रातःकाल विषयों का शिक्षण, अभ्यास कार्य इत्यादि दोपहर मे शारीरिक कार्य इत्यादि (७) वातावरण कृत्रिमता से शुद्ध (८) आत्म विश्वास का उत्पन्न होना (९) व्यक्तिगत एवं सामूहिक दोनों प्रकार के कार्यों को महत्व तथा (१०) अभभाविकों का सहयोग।

डेक्रोले शिक्षण विधि का आधार है "रुचियों का केन्द्रीकरण"

डक्रोले योजना में मुख्य गुण—वातावरण में कृत्रिमता तथा औपचारिका का न होना (२) घर और शिक्षालय के वातावरण में समानता (३) बालक को स्वतन्त्रता (४) बालक की रुचियों को प्रधानता (५) निरीक्षण एवं अनुभव के आधार पर शिक्षण तथा (६) बालकों के साथ मनोवैज्ञानिक व्यवहार।

इस योजना में मुख्य दोष ये हैं कि बहुत से विषयों का अध्ययन अपूर्ण रह जाता है, और अनुभवी शिक्षकों का अभाव रहता है।

अध्ययन के लिए महत्वपूर्ण प्रश्न

१. विनेटका योजना के प्रमुख सिद्धान्तो का वर्णन कीजिये तथा इस योजना की कार्य विधि पर प्रकाश डालिए।

२. विनेटका योजना में क्या गुण एवं दोष हैं? इस योजना को भारतवर्ष के विद्यालयो में किस सीमा तक अपनाया जा सकता है? स्पष्ट विवेचन कीजिए।

३. गैरीशाला योजना की मुख्य विशेषताएँ क्या है? किन दोषों के कारण इस योजना का सर्वमान्य होना कठिन है।

४. "बालक जीवन के लिये जीवन से ही शिक्षा पाता है" इस सिद्धान्त से आप क्या समझते है? डेक्रोले योजना का कार्यक्रम इस सिद्धान्त पर किस प्रकार आधारित किया गया है। क्या डेक्रोले योजना भारत में अपनायी जा सकती है। व्यवहारिक दृष्टिकोण से वर्णन कीजिए।

५. डेक्रोले योजना में विद्यालय की मुख्य विशेषताएँ क्या हैं। इस योजना के गुणों पर प्रकाश डालिए।

सहायक पुस्तकों की सूची

(१) मिश्रा, आत्मानन्द : **शिक्षणकला**, प्रयाग गर्ग ब्रदर्स।

(२) सिंह, बी. डी. एवं भूदेव शास्त्री : **अध्यापन सिद्धान्त एवं विशिष्ट पद्धतियाँ**, आगारा, गयाप्रसाद।

(३) मेयर : **द डवलपमेन्ट ऑफ एडूकेशन, इन दी टुयान्टिथ्य सेन्चरी**।

(४) अलबर्ट, हेरोल्ड : **रि आरगेनाईजिंग दी हाईस्कूल करीकूलम**, न्युयार्क मेकमिलन, १९४७

(५) वाशबर्न, कार्लटन, डब्यु : "**द इन्डिविज्युल सिस्टम इन विनेटका**," **ऐलीमेन्टरी स्कूल जनरल, बोल्यूम २१, १९२०**।

अध्याय १६

क्रियाशील[1] प्रगतिशील विद्यालय[2] तथा शिक्षा में निदर्शन आन्दोलन[3]

पिछले अध्यायों में हमने कुछ नवीन पद्धतियों, योजनाओं एवं प्रणालियों पर प्रकाश डाला है। शिक्षण प्रदान करने मे ये सब पद्धतियाँ अपने ढंग से उस विधि पर बल देती है जो बालक के व्यक्तित्व को महत्व देती है, उसकी सक्रियता पर बल देती है, व्यक्तिगत विभिन्नता को ध्यान में रखती है और समाजीकरण की अवहेलना नहीं करती। इन पद्धतियों, योजनाओं इत्यादि के अतिरिक्त बालक की सक्रियता, विभिन्नता, व्यक्तित्व एवं सामाजिकता की भावना के आधार पर शिक्षा देने के लिए विशेष प्रकार के विद्यालयों के स्थापन पर कुछ शिक्षा शास्त्रियों ने बल दिया है। ये शिक्षा शास्त्री प्रचलित विद्यालयों के स्थान पर क्रियाशील विद्यालयों अथवा प्रगतिशील विद्यालयों के निर्माण के पक्ष में हैं। इस अध्याय में हम इन शिक्षा शास्त्रियों द्वारा प्रतिपादित विद्यालयों की विशेषताओं का अध्ययन करेंगे। परन्तु ऐसा करने से पहिले हम प्रचलित विद्यालयों के दोषों एवं गुणों की समीक्षा कर ले तो अच्छा होगा।

वर्तमान काल में विद्यालयों में एक और नया आन्दोलन चल पड़ा है। यह आन्दोलन बालकों को निदर्शन प्रदान करने पर बल देता है। यह विश्वास किया जाता है कि विद्यालयों का उत्तरदायित्व न केवल बालकों को कुछ विषयों का ज्ञान देना है, वरन् उन्हें वांछित निदर्शन प्रदान करके उनके

1—Activity school, 2—Progressive School, 3—The Guidance Movement,

व्यक्तित्व का समुचित विकास करना है तथा उन्हें जीविका उपार्जन के लिए तैयार करना है। इस अध्याय में हम निदर्शन आन्दोलन के सम्बन्ध में भी विवेचन करेंगे।

प्रचलित विद्यालय[1]

प्रचलित विद्यालयों से हमारा अभिप्राय ऐसे विद्यालयों से है जो पुरातन शिक्षण विधियों से ही अब तक शिक्षण प्रदान करते हैं। जहाँ शिक्षक ही सब कुछ है और जहाँ शिक्षा का ध्येय बालक के मस्तिष्क को ऐसे विषयों के ज्ञान से भर देना है जो मस्तिष्क को अनुशासित करने के लिए उचित समझे जाते है; जहाँ अनुशासन कठोर है और परीक्षाऐं ही शिक्षा के प्रत्येक अङ्ग पर आधिपत्य जमाये हैं। वर्तमान काल मे इस प्रकार के विद्यालयों की कड़ी आलोचना की गई है और उनमें कुछ गुण होने पर भी उनके स्वरूप को बदलने के अनेकों प्रयास किये जा रहे हैं।

प्रचलित विद्यालयों के प्रमुख दोष

(१) इन विद्यालयो मे केवल ज्ञान के अर्जित करने पर बल दिया जाता है। वही विद्यार्थी सबसे योग्य समझा जाता है जो पाठ्य विषयों के अधिक से अधिक भाग को स्मरण कर लेता। ऐसे विद्यार्थी को व्यक्तित्व में दूसरे चाहे जो दोष हों उनकी ओर कोई भी ध्यान नहीं दिया जाता। इस प्रकार इन विद्यालयों में विद्यार्थियों के व्यक्तित्व के केवल एकाङ्गी विकास पर ही बल दिया जाता है।

(२) इन विद्यालयों में बालक से यही आशा की जाती है कि वह शान्त रहेगा तथा जो कुछ भी शिक्षक कह रहा है उसे सुनता रहेगा। बालक की सक्रियता का दमन कर दिया जाता है और उसकी आत्म-प्रदर्शन की भावना को कुचल दिया जाता है।

(३) इन विद्यालयों मे दृष्टि एवं श्रवण की ज्ञानेन्द्रियों द्वारा शिक्षण ही प्रदान किया जाता है कार्य करके सीखने के सिद्धान्त को कोई महत्व नही दिया जाता है। शिक्षक व्याख्यान देता है तथा श्यामपट पर कुछ लिखता है या बालकों से पाठ्य-पुस्तक पढ़ने के लिए कहता है। इन सब विधियों मे जो बालकों की इन्द्रियाँ भाग लेती है श्रवण एवं दृष्टि की ही हैं परन्तु केवल इन इन्द्रियों के द्वारा अच्छी शिक्षा मिलना कठिन है। बालक जब तक स्पर्श, दृष्टि एवं श्रवण तथा अन्य इन्द्रियों मे समन्वय नहीं प्राप्त कर लेता तब तक उसकी

1—Traditional schools.

शिक्षा अच्छे ढंग से नहीं हो सकती। ज्ञानेन्द्रियों में समन्वय प्राप्त करने के लिए सबसे महत्वपूर्ण बालक की स्वत: क्रियाएं होती है। परन्तु प्रचिलित विद्यालयों में स्वत: क्रिया की अवहेलना ही की जाती है।

(४) इन विद्यालयों में शिक्षक ही अधिक सक्रिय रहता है। और विद्यार्थी निष्क्रिय श्रोता ही रहते हैं। इस प्रकार के शिक्षण से विद्यार्थियों को कोई लाभ नही होता।

(५) इन विद्यालयों की कक्षाओं में केवल शिक्षक को ही यह अधिकार होता है कि वह प्रश्न कर सके। यदि बालक कुछ प्रश्न करते हैं तो उनकी उत्सुकता को दबा दिया जाता है।

(६) इन विद्यालयों मे शिक्षक और शिक्षार्थी के सम्बन्ध इस प्रकार के होते हैं जैसे एक राजा के प्रजा के साथ। शिक्षक बालको पर कडा नियन्त्रण रखते हैं। उन्हें जैसा वे कहें वैसा करने को बाध्य करते हैं तथा मारने पीटने को सदैव तत्पर रहते हैं। कुछ शिक्षक तो बालकों को कठोर यांत्रणायें तक दे डालते हैं।

(७) बालकों से यह आशा की जाती है कि वह बिना झिझक के जो कुछ भी शिक्षक द्वारा कहा जाता है उसे मान लेंगे। इन विद्यालयो में बालक के व्यक्तिगत विचारों को तथा निर्णय को कोई महत्व नहीं दिया जाता है।

(८) इन विद्यालयों में समाजीकरण को कोई महत्व नहीं दिया जाता। बालक एक दूसरे को सहायता नहीं प्रदान कर सकते है। इस प्रकार उनका सामूहिक विकास रुक जाता हैं।

(९) प्रचलित विद्यालयों में व्यक्तिगत योग्यता पर भी कोई ध्यान नहीं दिया जाता। सब बालकों को चाहे जिस स्तर की बुद्धि उनमें हो एक ही लाठी से हांका जाता है। उनकी रुचि एवं अरुचि को शिक्षण प्रदान करने मे कोई स्थान नहीं दिया जाता। प्रतिभावान एवं पिछड़े हुए बालकों को कक्षा में उसी प्रकार से शिक्षण दिया जाता है जैसा कि साधारण बालको को। इसका फल यह होता हैं कि प्रतिभावान की प्रतिभा दब कर रह जाती है और पिछड़ा हुआ बालक और पिछड़ जाता है।

(१०) शिक्षा मुख्यतया प्रौढ़ जीवन की तैयारी के लिए प्रदान की जाती है। इन विद्यालयों में बालक के वर्तमान जीवन को कोई महत्व नहीं दिया जाता। बालक की शिक्षा में भविष्य को उच्च स्थान दिया जाता और वर्तमान की अवहेलना की जाती है।

प्रचलित विद्यालयों में गुण

प्रचलित विद्यालयों में उपरोक्त वर्णन किए हुए अनेकों दोष पाये जाते हैं

परन्तु इन विद्यालयों का उचित मूल्याङ्कन हम उस समय तक ठीक प्रकार से नहीं कर सकते जब तक कि इनमें जो कुछ भी गुण विद्यमान हैं उनका अध्ययन न कर लें। प्रचलित विद्यालयों के गुणों का वर्णन हम निम्न प्रकार से कर सकते हैं।

(१) इन विद्यालयों में विद्यार्थियों की नैतिक शिक्षा पर बल दिया जाता है। ऐसे विद्यालयों में शिक्षा का एक मुख्य उद्देश्य चरित्र निर्माण समझा जाता है।

(२) जिन विषयों का शिक्षण इन विद्यालयों मे दिया जाता है वे गम्भीर रूप से पढ़ाये जाते हैं। विषयों के अध्यापन में यथासम्भव अपूर्णतः एवं अधूरेपन को दूर कर दिया जाता है।

(३) प्रचलित विद्यालयों में दिये जाने वाले शिक्षण द्वारा विद्यार्थियों में कुछ मूल्यवान आदतें, आदर्श एवं प्रवृत्तियों का विकास करने की चेष्टा की जाती है। विद्यार्थियो में घोर परिश्रम करने तथा सफाई से कार्य करने की आदतो का निर्माण हो जाता है इस शिक्षा द्वारा बालक समय की पाबन्दी भी सीख जाते हैं।

उपरोक्त गुणों एवं दोषों के आधार पर प्रचलित विद्यालयों का मूल्यांकन करने पर हम यह निश्चित रूप से कह सकते हैं कि इन विद्यालयों में कुछ ऐसे गम्भीर दोष हैं जिनके कारण ये विद्यालय बालको के व्यक्तित्व के सम्यक् विकास में बाधक होते हैं तथा इनमें प्रदत्त शिक्षण शिक्षा के उच्च उद्देश्यो एवं आदर्शों को प्राप्त करने में असफल रहते हैं।

क्रियाशील विद्यालय

स्विटजरलैण्ड के निवासी ऐडोल्फ फेरेरे[1] महोदय क्रियाशील विद्यालय के प्रमुख प्रवर्तक माने जाते हैं। इन्होंने सन् १९२७ ई० में अपनी एक पुस्तक "दि ऐक्टीविटी स्कूल"[2] प्रकाशित की। इस पुस्तक में उन्होंने क्रियाशील विद्यालय के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त किये।

फेरेरे महोदय का क्रियाशील विद्यालय का विचार इस सामान्य सिद्धान्त पर अधारित था कि "**शिक्षा जीवन है और जीवन एक सतत अभिवृद्धि की क्रिया है·····जो निसन्देह अपनी तीव्रता और लक्ष्य में असमर्थावित है। परन्तु कभी भी स्थिर नहीं है।**"[3] फेरेर महोदय के लिये क्रियाशील विद्यालय केवल

1—Adolph Ferriere. 2—The Activity school, 3—"That education is life and that life is a continuous growth.····· irregular no doubt in intensity and direction but never at rest."

कुछ कार्य करने की विधियों का संकलन नही है[1] यह कुछ ऐसा है जिसमें रह कर बालक अच्छे जीवन की ओर अग्रसर होते हैं। फेरेरे के अतिरिक्त क्रियाशील विद्यालय के दो जेनेवा निवासी ऐडाउरड क्लापारेड[2] तथा रेरे बोवेल[3] भी महत्वपूर्ण प्रवर्तकों में से हैं। इनके अतिरिक्त जोर्ज करशेनस्टीनर का नाम भी इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय है।

जॉर्ज करशेनस्टीनर[4] तथा क्रियाशील विद्यालय

जॉर्ज करशेनस्टीनर महोदय का कथन है कि "**यदि शिक्षा का अन्तिम उद्देश्य चरित्र निर्माण है तब सबसे उत्तम विद्यालय संगठन वह है जो चरित्र के विकास के अवसर प्रदान करे।**" उनका यह विश्वास है कि चरित्र का विकास केवल कार्य द्वारा ही सम्भव है। इस प्रकार करशेनस्टीनर महोदय '**कार्य करके**' चरित्र के विकास पर बल देते हैं। कार्य पर बल देने के कारण ही उन्हें 'क्रियाशील विद्यालय''[5] के महान प्रवर्तक की पदवी दी जाती है।

क्रियाशील विद्यालय की परिभाषा

करशेनस्टीनर ने क्रियाशील को परिभाषा इस प्रकार दी है कि यह एक **ऐसा विद्यालय होता है जहाँ बालक की निहित सृजनात्मक शक्तियों को स्वतन्त्र कर दिया जाता है।**[6] इस प्रकार क्रियाशील विद्यालयों का मुख्य ध्येय यह होता है कि बालक की निहित एवं गुप्त सृजनात्मक शक्तियों को प्रकाशन का अवसर दें।

क्रियाशील विद्यालयों के कार्य

करशेनस्टीनर महोदय शिक्षा का उद्देश्य नागरिकता का विकास मानते थे। अतएव उन्होंने क्रियाशील विद्यालयों को इस प्रकार से संचालित करना चाहा कि जिससे इस उद्देश्य को प्राप्त किया जा सके। उन्होंने क्रियाशील विद्यालय के कार्य निम्नलिखित रखे—

(१) बालक का उसके जीवन के उचित कार्यों में पथ-प्रदर्शन प्रदान करना।

(२) बालक के अन्दर यह भावना जागृत करना कि प्रत्येक व्यवसाय का समाज सेवा में महत्व है। इन विद्यालयों में इस बात पर बल दिया जाता कि कोई भी व्यवसाय समाज की दृष्टि से निम्नकोटि का नहीं है।

1—"Not a collection" 2—Edouard claparede, 3—Reire Bovel, 4—George kerschensteiner. 5—Arhaitsschule, 6—A school "which liberates the potential creative energy of the child."

(३) बालक को उसके व्यवसाय द्वारा यह शिक्षा देना कि उसे समाज की प्रगति में अपना योगदान प्रदान करना है जिससे कि समाज पूर्णता और अग्रसर होता रहे।

करशेन स्टीनर महोदय ने कन्टीन्यूशन शिक्षा[1] का एक आदर्श कार्यक्रम निर्धारित किया। इस कार्यक्रम में विद्यार्थी के व्यवसाय को केन्द्र बना दिया गया तथा अन्य विषयों को इस केन्द्र के चारों ओर ही इकट्ठा कर दिया गया। व्यवसाय पर ही अन्य विषयों का शिक्षण केन्द्रित किया गया। इस प्रकार व्यवसाय को मुख्य स्थान प्रदान किया गया तथा अन्य विषयों का महत्व व्यवसाय के महत्व पर ही आधारित किया गया।

आलोचना

क्रियाशील विद्यालय की आलोचना इस प्रकार से की जाती है।

यह योजना अपनी प्रकृति में असमाजिक है। डा० फिलिप कोक्स[2] का कहना है कि इसके द्वारा बालक में सामाजिक व्यवहार का विकास नहीं हो पाता। इसी प्रकार से साम्यवादी शिक्षक पिनकेविच [3] का कहना है कि इस योजना द्वारा बालकों मे व्यक्तिगत प्रवृतियों का ही विकास सभंव होता है। क्रियाशील विद्यालय के इस दोष को डाल्टन शिक्षा प्रणाली मे दूर करने की चेष्टा की गई है।

प्रगतिशील विद्यालय[4]

प्रगतिशील विद्यालयों का संचालन प्रगतिशील शिक्षा दर्शन पर केन्द्रित है। प्रगतिशील शिक्षा दर्शन के जन्मदाता डब्ल्यू० पार्कर[5] महोदय समझे जाते हैं। पार्कर महोदय के मन में अमेरिका में विभिन्न राज्यों के बीच हुए युद्धों ने बहुत बेचेनी उत्पन्न कर दी थी कि वे युद्धों से मानव जाति को कैसे छुटकारा मिले इस सम्बन्ध मे वे सोचने लगे। जो युक्ति उनकी विचारणा मे आयी वह यह थी कि बालकों की शिक्षा में सुधार लाया जाय। उनका विचार यह हुआ कि यदि बालकों की शिक्षा का ढंग उत्तम हो तो जिन झगड़ों को हम युद्ध द्वारा सुलझाते हैं वे पारस्परिक वाद विवाद करके या शांत पूर्ण ढंग से निपटाये जा सकते है। अपने विचारों को व्यवहारिक रूप देने का अवसर उन्हें उस समय मिला जब वह विद्यालयो के अधीक्षिक नियुक्त हुए। उन्होंने एक प्रगतिशील सार्वनिक विद्यालय व्यवस्था को जन्म दिया इस व्यवस्था

1—Continuation. 2—Dr. Philip W. L. Cox. 3—Pinkev itch, 4—Progressive school 5—W. Parkar.

को बहुत पसन्द किया गया और उन्हें १८८० में कुक कण्ट्री नार्मल स्कूल का प्रमुख बनाया गया। यहाँ उन्हें अपने विचारों को फैलाने का खूब अवसर प्राप्त हुआ। परन्तु इस विद्यालय को उन्हें छोड़ना पड़ा और उन्होंने सन् १९०० में "शिकागो इंस्टीट्यूट" नामक संस्था का निर्माण किया। यह संस्था बाद में शिकागों विश्वविद्यालय में मिलाली गई और एक शिक्षण महाविद्यालय के रूप में बदल गई। पारकर महोदय के अतिरिक्त डा० जॉन ड्यूई तथा उनके सहयोगी डा विलियम० एच० किलपैट्रिक प्रगतिशील शिक्षा के प्रबल प्रवर्तक समझे जाते हैं। वर्तमान समय में अनेकों देशों ने प्रगतिशील शिक्षा के सिद्धान्तों को अपना लिया है और प्रगतिशील विद्यालयों की स्थापना की है।

प्रगतिशील शिक्षा का अर्थ

प्रगतिशील शिक्षा से तात्पर्य ऐसी शिक्षा से है जो बालक की बुद्धि के स्थान पर संवेगों को महत्व दे। ऐसी शिक्षा एक ऐसे समाजीकृत वातावरण में चलती है जिसमें बालकों में परस्परिक सहयोग, सम्मान तथा स्वाधीनता का विकास होता है। प्रगतिशील शिक्षा में शिक्षक तथा शिक्षार्थी आपसी सहयोग द्वारा कार्य करते हैं। इसमे कक्षाध्यापन का स्थान गौण होता है। मुख्य बात तो यही है कि बालकों की प्रवृत्तियो इत्यादि को सामाजिक वातावरण में विकास के अवसर दिये जायँ। इस प्रकार की शिक्षा को प्रगतिशील इस कारण कहा जाता है कि इस शिक्षा की पाठ्य-वस्तु, पाठन-प्रणाली इत्यादि में जो कुछ भी जीवन से सम्बन्धित विभिन्न क्षेत्रों मे प्रगति होती है उसके आधार पर परिवर्तन ले आये जाते हैं। प्रगतिशील शिक्षा नवीन खोजों के आधार पर शिक्षा की एक ऐसी रूप रेखा तैयार करती है जिससे कि विद्यार्थियों को पूर्ण व्यस्क के रूप में विकसित होने में सहायता मिले।

प्रगतिशील शिक्षा में समाजीकरण से तात्पर्य

समाजीकरण से तात्पर्य यह है कि बालकों के व्यक्तित्व का विकास सामाजिक वातावरण से उपयोगी सूचनाओं, वृत्तियों, रुचियों तथा कौशलों इत्यादि को ग्रहण करके किया जाय। बालक के व्यक्तित्व को समाज से अलग न समझा जायँ न ही यह समझा जाय कि व्यक्तित्व के विकास मे समाज का कोई स्थान नहीं है। वरन् शिक्षा इस प्रकार प्रदान करने की चेष्टा की जाय कि बालक सामाजिक वातावरण में अपना समायोजन करले और समाज की प्रगति में सहयोग प्रदान करने के हेतु तैयार हो जाय। इस प्रकार की शिक्षा देने के लिए यह आवश्यक है कि विद्यालयों में सामाजिक वातावरण का निर्माण हो। विद्यालयों में सामाजिक वातावरण का निर्माण करने के लिए यह आवश्यक है कि—

(१) उनमें चलने वाली समस्त क्रियाओं का उद्देश्य सामाजिक कुशलता का विकास बना दिया जाय।

(२) उनमें उन्हीं कार्य-प्रक्रियाओं को अपनाया जाय जो साधारण रूप से समाज में चलती है।

तथा (३) इनमें विद्यार्थियों को शिक्षा की प्रक्रिया में बराबर का साझीदार बना दिया जाय।

प्रगतिशील विद्यालयों की विशेषताएँ

(१) शिक्षक—इन विद्यालयों में शिक्षक एक विशेषज्ञ, परामर्शदाता एवं सहयोगी के रूप में होता है। वह केवल अनुशासक एवं विषय सम्बन्धी ज्ञान प्रदान करने वाला नहीं होता। प्रचलित विद्यालयों में जो श्रेष्ठ स्थान उसे प्राप्त होता है वह उसे इन विद्यालयों में नहीं दिया जाता। यहाँ शिक्षक एवं शिक्षार्थी के परस्पर सहयोग को उच्च स्थान दिया जाता है। शिक्षक का कार्य विद्यालय में ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न कर देना है जिससे कि बालक स्वयं उचित मार्ग पर चलकर शिक्षा ग्रहण करें। वह बालकों का पथ-प्रदर्शन करता है और जो बालक गलत रास्ते पर जा रहे होते हैं उन्हे ठीक मार्ग पर डाल देता है। वह बालकों से सहानुभूति पूर्ण एवं शिष्टाचार पूर्ण ढंग से व्यवहार करता है। वह उनके प्रश्नो पर झुंझला नहीं उठता है वरन् उनके अपना सहयोग देकर उनका उत्तर प्राप्त करने की चेष्टा करता है। वह दबाव या अपने व्यक्तित्व के अभाव से अनुशासन नहीं रखता वरन बालको के साथ ऐसा मिलजुल कर कार्य करता है कि वह उसे अपना सहयोगी समझते है और बालक आत्म अनुशासन रखना सीख जाते हैं।

(२) स्वतन्त्रता—प्रगतिशील विद्यालयों का वातावरण स्वतन्त्रता से पूर्ण होता है। यहाँ विद्यार्थी के ऊपर कोई दबाव नहीं डाला जाता। विद्यालय में सामाजिक वातावरण का निर्माण करके बालक को उसमें अपना विकास करने के लिए स्वतन्त्र छोड़ दिया जाता है। यथा संभव शिक्षक उसके विकास में हस्तक्षेप नहीं करता जब तक कि बालक गलत रास्ते को ही न अपनाये। ऐसे समय शिक्षक अत्यन्त सहानुभूति पूर्ण ढङ्ग से छात्र का पथ-प्रदर्शन करके उसे उचित मार्ग पर ले जाता है।

(३) क्रियाशीलता—प्रगतिशील विद्यालयों में बालक सक्रिय रहता है। वह स्वयं कार्य करके सीखता है इन विद्यालयों में वह निष्क्रिय श्रोता के रूप में नहीं होता वरन वह स्वत: अपने विकास के लिए प्रयत्न करता है।

(४) अध्यापन कक्ष की व्यवस्था—प्रचलित विद्यालयों से प्रगतिशील विद्यालयों में अध्यापन कक्ष की व्यवस्था में अन्तर होता है। यहाँ प्रचलित

विद्यालयों की तरह शिक्षक एक ऊँची कुर्सी पर बैठ कर नीचे सीधी रेखाओं में रखी हुई कुर्सियों पर बैठे हुए छात्रों को पाठ नहीं पढ़ाता वरन् छात्र और अध्यापक समान धरातल पर अर्ध-वृत्ताकार या वृत्ताकार बनाकर बैठते हैं। इस प्रकार शिक्षक कक्षा के एक सदस्य के रूप में ही होता है उसे उच्च स्थान पर बैठने की आवश्यकता नहीं होती है। जब भी आवश्यक होता है कक्षा टोलियों में बँट जाती है और प्रत्येक टोली जैसी उसे सुविधा होती है उसी प्रकार से अपने बैठने का आयोजन कर लेती है।

(५) **शिक्षण विधि**—जो शिक्षण विधि प्रगतिशील विद्यालयों में अपनाई जाती है वह प्रचलित विद्यालयों से विभिन्न होती है। इन विद्यालयो में प्रश्नोत्तर विधि न अपना कर परिप्रश्न[1] पर बल दिया जाता है। परिप्रश्न की परिभाषा मैकबर्न तथा हॉन्स महोदय इस प्रकार देते हैं "आमने सामने बैठे हुए अथवा साथ-साथ काम करते समूहों में सोचते-विचारते अथवा बातचीत करते हुए व्यक्तियों द्वारा किसी समस्या पर मिल जुलकर विचार करने को परिप्रश्न" कहते हैं।[2] परिप्रश्न में भाग लेने वाले प्रत्येक सदस्य को समानाधिकार होता है। कोई भी समस्या जो पूर्व निर्धारित होती है परिप्रश्न द्वारा उसके व्यवहारिक हल को निकालने की चेष्टा की जाती है।

प्रगतिशील विद्यालयों में परिप्रश्न का आयोजन निम्नलिखित योजनाओं द्वारा होता है।

(१) अनपौचारिक समूह योजना[3]

(२) औपचारिक समूह योजना[4]

(३) स्वयं निर्देशक समूह योजना[5]

(४) संविचार समूह-योजना[6]

इन योजनाओं में से हम अनपौचारिक तथा औपचारिक समूह, योजना का संक्षेप में वर्णन करेंगे।

अनपौचारिक समूह योजना—इस योजना में अनपौचारिक रूप में शिक्षक एवं छात्र एक स्थान पर बैठ कर बातचीत करते हैं। बातचीत का विषय समान रुचि के विषयों अथवा समस्याओं का आयोजन हो सकता है। जो कोई कुछ भी टोली मे विषय के सम्बन्ध में जानता है वह बिना झिझक के सबके

1—Discussion. 2—"Discussion may be defined as co-operative deliberation of problems by persons thinking and conversing together in face-to-face or co-acting groups under the directions of a teacher." 3—The Informal group plan, 4—The formal or institutionalised group plan. 5—Self directing group plan. 6—The Seminar group plan.

सामने अपने विचार प्रस्तुत कर देता है । इस समूह योजना में कोई भी विद्यार्थी नेतृत्व कर सकता है जो प्रस्तुत विषय में विशेष रुचि अथवा योग्यता रखता है ।

औपचारिक समूह योजना—इस योजना में छात्र ऐसे संगठनों में जो सामाजिक जीवन से उपलब्ध होते हैं, संगठित होकर परिप्रश्न में भाग लेते हैं । ऐसे संगठन क्लब, गोष्ठी, परिषद्, संघ, सभा, संसद, समिति एवं उपसमिति आदि होते हैं । क्योंकि ऐसे संगठन समाज में पाये जाते हैं इसलिए छात्र भी इसी प्रकार के संगठन बनाते है । इन संगठनों के पदाधिकारी जैसे समाजिक जीवन में चुने जाते हैं उसी प्रकार विद्यालयों में छात्र सदस्यों द्वारा चुने जाते हैं । इन पदाधिकारियों के उत्तरदायित्व भी समाज में वृहतरूप से पाये जाने वाले संगठनों के समान ही होते हैं । ये संगठन आवश्यकतानुसार समितियाँ—उपसमितियाँ बनाते हैं, प्रतिवेदन तैयार करते हैं, उन पर बाद-विवाद करते हैं, निर्णय लेते हैं तथा फिर उन निर्णय को क्रियान्वित करते हैं ।

औपचारिक समूह योजना के द्वारा शिक्षण व्यवस्था से दो लाभ होते हैं—(क) विद्यार्थी प्रसन्नता पूर्वक सुन्दर ढंग से बिना किसी मानसिक क्लेश के पाठ्य विषय का ज्ञान प्राप्त कर लेते है, और (ख) सामाजिक जीवन की कठिनाइयों एवं परिस्थितियों से उनका व्यावहारिक परिचय हो जाता है ।

(६) **समाजीकरण**—प्रगतिशील विद्यालयों में समाजीकरण को बहुत महत्व दिया जाता है । प्रत्येक बालक समाज में उत्पन्न होता है और उसे समाज में ही रहना होता है अतएव जब तक उसमें समाजिकता की भावना का विकास नहीं होता वह समाज का एक उत्तम सदस्य नहीं बन सकता । न समाज को उससे कोई लाभ पहुँचता है और न वह स्वयं अपना अनुकूलन समाज में कर पाता है । अतः यह अत्यन्त आवश्यक है कि बालक मे शिक्षा द्वारा सामाजिकता की भावना का विकास सुन्दर ढङ्ग से किया जाय । प्रचिलित विद्यालय इस सिद्धान्त की अवहेलना करते हैं परन्तु प्रगतिशील विद्यालय अपनी सम्पूर्ण शिक्षण व्यवस्था का नियोजन ही इस प्रकार करते हैं कि विद्यार्थियों में समाजिकता का सम्यक् विकास हो । समाजीकरण के होने से बालकों में क्रियाशीलता बढ़ जाती हैं और वे स्वतः क्रिया में आनन्द लेने लगते हैं । उनमें भिन्नता और सहयोग की भावना का विकास हो जाता है । वे जनतन्त्र का अर्थ समझने लगते हैं और जनतन्त्र में अपने उत्तरदायित्व को निभाने को तत्पर हो जाते हैं । इसके अतिरिक्त गुरु और शिष्य के सम्बन्धों में अनऔपचारि कता समाप्त हो जाती है समाजीकरण पर अधारित शिक्षण

विधियाँ बालक के अन्दर आत्म विश्वास को उत्पन्न करती हैं तथा उसमें योजना बनाने की, समस्या को सुलझाने की एवं निर्णय लेने की क्षमता का विकास करती है।

(७) **सृजनात्मक अभिव्यक्ति**[1]—प्रगतिशील विद्यालयों में विद्यार्थियों की सृजनात्मक अभिव्यक्ति के अवसर मिल जाते हैं। बालकों को निर्माण कार्य में लगाया जाता है और उनमें सृजन करने की शक्ति का विकास किया जाता है। छात्र अपनी स्वाभाविक रुचियों के अनुसार कार्य करने को स्वतन्त्र रहते हैं।

(८) **व्यक्तित्व का सम्यक् विकास**—प्रगतिशील विद्यालयों में बालक के व्यक्तित्व के सम्यक विकास पर अधिक बल दिया जाता है। यहाँ न केवल उसके सामाजिक, शारीरिक, संवेगात्मक या बौद्धिक विकास पर बल दिया जाता है वरन इन चारों दिशाओं में विकास के लिए प्रयत्न किये जाते हैं। जबकि प्रचलित विद्यालयों में केवल बौद्धिक विकास को ही सबसे महत्वपूर्ण समझा जाता है।

(९) **व्यक्तिगत विभिन्नता**—प्रत्येक बालक दूसरे से भिन्न योग्यता, रुचियाँ झुकाव इत्यादि रखता है। प्रगतिशील विद्यालय इस सिद्धान्त में आस्था रखता है और बालकों को उनकी व्यक्तिगत विभिन्नता के आधार पर शिक्षण देने पर बल देता है। प्रगतिशील विद्यालयों में बालक की रुचियों का आदर किया जाता है और उनकी योग्यता के आधार पर शिक्षा दी जाती है।

प्रगतिशील विद्यालयों में गुण

प्रगतिशील विद्यालयों की विशेषताओं की जानकारी हमको उनके गुणों की ओर ले जाती है। ये गुण निम्नलिखित है।

(१) छात्र अनेकों प्रकार की क्रियाओं की योजना बनाना सीख लेते हैं।

(२) छात्रों को नेतृत्व के अवसर मिल जाते हैं।

(३) सभी छात्रों को इस बात का पता चल जाता है कि सभी की सामान्य रुचियाँ एवं प्रयोजन क्या है? यह बात उनमें सामाजिक परम्पराश्रितता एवं एकात्मकता का विकास कर देती है।

(४) बालक स्वतन्त्र मस्तिष्क से विचार करने योग्य बन जाते हैं।

(५) बालक लिखकर या मौखिक रूप से अपने विचारों को प्रकट करना सीख लेते हैं।

(६) बालकों में आत्म विश्वास का विकास हो जाता है।

(७) बालक शिष्टाचार के नियमों से परिचित हो जाते हैं।

1—Creative Expression.

(८) वे दूसरों के व्यक्तित्व का सम्मान करना सीख जाते हैं।

(९) उनमें समाज में सहयोग से रहने तथा मिलजुलकर कार्य करने की आदत का विकास हो जाता है।

(१०) छात्र तथा अध्यापक एक दूसरे के गुणों एवं दोषों से पूर्ण रूप से परिचित हो जाते हैं।

(११) बालकों को सदैव यह प्रेरणा मिलती रहती है कि वे और अधिक सीखें।

(१२) अध्यापन में पाठ्य पुस्तकों का अवांछनीय महत्व समाप्त हो जाता है।

(१३) बालक यह जान लेते है कि दूसरों के दृष्टिकोण से उनमें क्या कमियाँ हैं। यह जानकारी उन्हें अच्छा बनने में सहायता प्रदान करती है और बालक समाज में सुव्यवस्थित जीवन के लिए तैयार हो जाते हैं।

(१४) बालक सद्भावना एवं सहयोग के वातावरण में कार्य करते हैं अतएव उन्हें कार्य करने में आनन्द आता है। इसके अतिरिक्त वे दूसरों के साथ मिल-जुल कर चलना भी सीख लेते हैं।

(१५) उसमें स्वानुशासन की क्षमता आजाती है।

(१६) उनकी कार्य करने की स्वतंत्रता उनको अनेकों मनोविकार से दूर रखती है। जो दूषित मनोःदशा दमन के कारण बालक में उत्पन्न हो जाती है उसका यहाँ सर्वथा अभाव रहता है।

(१७) बाल्क वाद-विवाद, परिप्रश्न एवं विचार विनिमयों के द्वारा अपनी समस्याओं को स्वयं हल करना सीख लेते हैं।

प्रगतिशील विद्यालयों में दोष

प्रगतिशील विद्यालयों के निम्नलिखत मुख्य दोष हैं—

(१) प्रगतिशील विद्यालयों की शिक्षण पद्धति इतिहास भूगोल नागरिक शास्त्र अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र इत्यादि के अध्ययन के लिए तो उपयोगी सिद्ध होती है। परन्तु भाषा, गणित एवं विज्ञान के विषयों के शिक्षण के लिए बिल-कुल अर्थहीन है। इन विषयों का शिक्षण अच्छी प्रकार से केवल प्रचलित विद्यालयों की शिक्षण विधि द्वारा हो सकता है।

(२) कभी कभी जो परिप्रश्न इसमें लिए जाते हैं वे शुष्क एवं नीरस हो जाते हैं। कुछ समय तक तो बालक इनमें भाग लेते हैं परन्तु फिर वह भाग लेना बन्द कर देते हैं। ऐसे समय में सारी शिक्षा का प्रयोजन ही नष्ट हो जाता है परन्तु यदि शिक्षक सतर्क रहें तो इस दोष को दूर किया जा सकता है।

(३) प्रगतिशील विद्यालयों के स्थापन में बहुत अधिक व्यय होता है। भारत जैसे निर्धन देश के लिए अपने यहाँ के नागरिकों के लिए ऐसे विद्यालयों का निर्माण करना अत्यन्त कठिन होगा।

(४) इन विद्यालयों में विभिन्न विषयों के प्रत्येक उपविषयों का गहन अध्ययन नहीं हो पाता। शिक्षक तथा छात्र वही उपविषय गहन अध्ययन के लिए चुनते हैं जो उनकी किसी विशिष्ट समस्या से सम्बन्धित होते है।

अन्त में हम कह सकते हैं कि जो कुछ भी हो हमारे देश को भी प्रगतिशील विद्यालयों की आवश्यकता है। हमारे देश के अधिकतर विद्यालय रूढ़िवादी शिक्षा पद्धति को अपना रहे हैं; उनमें प्रगति का नाम मात्र भी नहीं है और यदि कोई व्यक्ति प्रगति की बात भी उठाता है तो उस पर यह लांछन लगाया जाता है कि वह भारत के दर्शन को समझता ही नहीं है। चारों ओर इस पर छींटे कसे जाते हैं फल यह होता है कि वह व्यक्ति भी पीछे हट जाता है। इस प्रकार विद्यालयों के संगठन, कार्य पद्धति, परीक्षा-प्रणाली, शिक्षण विधि इत्यादि में कोई भी अच्छा परिवर्तन नहीं आने पाता। बहुत से विद्यालय वैसे ही हैं जैसे कि पचास वर्ष पहिले। यदि उनमें कुछ परिवर्तन है तो वह निम्न स्तर की ओर ही उन्हें ले जाने वाला है। यहाँ यह कह देना आवश्यक है कि स्वतंत्रता के बाद भारतीय शिक्षा मंत्रालय एवं राज्य के शिक्षा मंत्रालयों ने अनेकों कदम प्रगति की ओर उठाये हैं परन्तु अनेकों कारणों से उनके फल अब भी विद्यालयों में वांछनीय परिवर्तन लाने से कोसों दूर है। इन अनेकों कारणों में बिना संदेह के यह कहा जा सकता है कि शिक्षकों का अपना उत्तरदायित्व न समझना सबसे महत्वपूर्ण कारण है। जो कुछ भी हो हमें चेष्टा यही करनी चाहिए कि विद्यालय प्रगतिशील बने। विद्यालयों के कम होने में इतनी हानि नहीं है जितनी की दूषित शिक्षा दूषित वातावरण में निम्न कोटि के शिक्षकों द्वारा दूषित ढंग से संगठित विद्यालयों में देने में हानि है।

शिक्षा में निदर्शन आन्दोलन

वर्तमान मनोविज्ञान के विकास ने इस बात को सिद्ध कर दिया है कि प्रत्येक व्यक्ति दूसरे से विभिन्न है और इस कारण व्यक्तिगत विभिन्नता के अनुसार शिक्षा देना आवश्यक है। परन्तु व्यक्तिगत विभिन्नता के अनुसार शिक्षा देना कोई सरल कार्य नहीं है। हम बहुँधा व्यक्तिगत विभिन्नता के सिद्धान्त को मानते हुए भी इस सिद्धान्त का उचित उपयोग शिक्षा में नहीं कर पाते हैं। इस कठिनाई को दूर करने के लिए तथा बालक को जीविका उपार्जन के हेतु अच्छी शिक्षा देने के लिये शिक्षा में निदर्शन आन्दोलन का उद्बोधन

हुआ। यहाँ हम सबसे प्रथम यह देखेंगे कि निदर्शन से हमारा तात्पर्य क्या है ?

निदर्शन

निदर्शन व्यक्तिगत रूप से वह सहायता है जो एक व्यक्ति को उसके जीवन की समस्याओं को हल करने की दी जाती है। निदर्शन द्वारा व्यक्ति की समस्याऐं सुलझा नहीं दी जाती परन्तु उन्हें स्वयं सुलझाने में व्यक्ति को सहायता मिल जाती है। निदर्शन की परिभाषा इस प्रकार दी जा सकती है **"यह एक क्रिया है जो व्यक्ति को शिक्षा जीविका, मनोरंजन तथा मानव क्रियाओं के समाज सेवा सम्बन्धी कार्यों को चुनने, तैयारी करने, समाज में प्रवेश करने तथा वृद्धि करने में सहायता प्रदान करती है।**

निदर्शन एक लगातार होने वाली क्रिया है। निदर्शन केवल उन्हीं बालकों को नही दिया जाता जिनकी कि कुछ विशेष समस्या है। परन्तु यह हर एक बालक को दिया जाना चाहिए चाहे वह साधारण हो या असाधारण। निदर्शन देते समय हर संस्था या निधि के सहयोग की आवश्यकता है जैसे परिवार या समाज या विद्यालय या समाज सेवा अथवा राज्य सरकार द्वारा प्रतिपादित संस्थाएं।

निदर्शन एक सक्रिय एवं गतिशील प्रक्रिया है। यह व्यक्ति को आत्मदर्शन करने तथा आत्म शक्ति का समुचित सहयोग करने मे सहायता प्रदान करती है। निदर्शन द्वारा व्यक्ति को अपनी बुद्धि, योग्यता, विशिष्ट योग्यता, अभिरुचि और व्यक्तित्व सम्बधी विशेषताओं सामाजिक एवं आर्थिक परिस्थितिमो आदि का ज्ञान प्राप्त होता है। इस प्रकार से निदर्शन प्राप्त किया हुआ व्यक्ति अपने जीवन को अच्छा बनाता है तथा समाज सेवा से उपयुक्त हो जाता है।

निदर्शन दो प्रकार से दिया जा सकता है जीविका सम्बन्धी निदर्शन के, रूप में तथा शिक्षा-निदर्शन के रूप मे।

जीविका सम्बन्धी निदर्शन

अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सम्बन्धी आम सभा मे १९४९ में जीविका निदर्शन की यह परिभाषा दी गई है **"जीविका निदर्शन एक सहायता है जो एक व्यक्ति को उसकी जीविका निर्णय तथा जीविका में उन्नति सम्बन्धी समस्याओं को हल करने के लिए उसकी व्यक्तिगत विशेषताओं को उसकी जीविका सम्बन्धी अवसरों के सम्बन्ध में ध्यान रखते हुए दी जाती है।**

जीविका निदर्शन बालक को उसके व्यवसाय को चुनने में सहायता प्रदान करता है। हर एक बालक की विभिन्नता के अनुसार उसे निदर्शन दिया जाता

है। सैकड़ों व्यवसाय जो एक व्यक्ति अपना सकता है उनमें से जो उचित होते हैं और बालकों की योग्यतानुसार होते हैं उनका निदर्शन बालक को दे दिया जाता है।

बालक अपनी सामान्य बुद्धि, विशिष्ट रुचि तथा स्वभाव आदि में एक दूसरे से भिन्न होते हैं। दूसरी ओर विभिन्न व्यवसाय के लिए विभिन्न प्रकार का प्रशिक्षण, योग्यता तथा रुचि आदि की आवश्यकता होती है। निदर्शन का कार्य यह है कि वह बालक की रुचि, योग्यता, रुझान झुकाव आदि के आधार पर उसे उन सब व्यवसाय में से जो समाज में अपनाए जाते हैं या जा सकते हैं उनको स्वयं चुनने में सहायता प्रदान करे।

शिक्षा-निदर्शन—यह निदर्शन उन विद्यार्थियों को दिया जाता है जिन्हें कॉलेज या स्कूल आदि संस्थाओं में पाठ्य विषय का चुनाव करना है। **शिक्षा निदर्शन इस प्रकार की सहायता है जो विद्यार्थियों को पाठ्य-क्रम तथा अनेक शिक्षा सम्बन्धी क्रियाओं का चुनाव करने में तथा उनके साथ अनुकूलन करने में दी जाती है।**

शिक्षा-निदर्शन में निदर्शक को बालक की रुचि, योग्यता, झुकाव आदि का ज्ञान होना चाहिए। इसके अतिरिक्त जो शिक्षा पाठ्य-क्रम और क्रियाओं में उपलब्ध है उसके सम्बन्ध में भी जानकारी होनी चाहिए। उसे पता होना चाहिए कि कालेज इत्यादि में किन-किन विषयों की शिक्षा दी जाती है और कहाँ पर भविष्य में बालक उस विशिष्ट प्रकार की शिक्षा ग्रहण कर सकेगा जो उसकी रुचि के अनुसार हो।

विद्यालय में निदर्शन

वर्तमान समय में विद्यालयों में निदर्शन देने पर बहुत बल दिया जाता है विद्यालय का ही यह कार्य समझा जाता है कि बालक को शिक्षा सम्बन्धी तथा जीविका सम्बन्धी उचित निदर्शन प्रदान करे।

कक्षा-शिक्षण को भी हम निदर्शन ही कह सकते हैं। निदर्शन उस समय भी होता है जब कि बालक को किसी प्रकार की सहायता दी जाती है जो उसको अपने अनुभवों को समझने तथा अपने जीवन के लिए योजनाएँ आदि बनाने में सफल है। इस प्रकार का निदर्शन अध्यापक द्वारा भी दिया जा सकता है।

निदर्शन से लाभ

निदर्शन से जो लाभ विद्यार्थी तथा समाज को प्राप्त होते हैं वे निम्न-लिखित हैं—

(१) निदर्शन प्रत्येक बालक को उसकी योग्यता के अनुसार कार्य चुनने में सहायता प्रदान करता है।

(२) निदर्शन बालक के व्यक्तित्व का सम्यक विकास करने में सहायक होता है। निदर्शन मिलने से बालक के व्यक्तित्व का समायोजन हो जाता है उसमें भावना ग्रन्थियाँ नहीं बन पाती है और न उसे मानसिक क्लेश होता है।

(३) शिक्षा निदर्शन बालक को उन विषयों, क्रियाओं इत्यादि के चुनने में सहायता देता है जो बालक को उसके जीवन का उद्देश्य प्राप्त करने के हेतु आवश्यक है।

(४) जीविका निदर्शन बालक को उस व्यवसाय में लगाने के लिए तैयार करता है जिसके लिए वह सबसे अधिक योग्य है।

तथा (५) समाज को सुसंगठित व्यक्तित्व वाले तथा उसकी आवश्यकताओं की पूर्ती करने वाले सदस्य प्राप्त हो जाते हैं जिससे समाज प्रगति की ओर बढ़ता है।

हमारे देश में निदर्शन आन्दोलन का उद्बोधन अभी हाल में ही हुआ है। इस कारण इसके महत्व के सम्बन्ध में बहुत से अध्यापक तथा अभिभावक अनिभिज्ञ हैं। परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि यदि देश को उन्नति के शिखर की ओर ले जाना है तो यहाँ के भावी नागरिकों को निदर्शन प्रदान करके उनकी वृत्ति को सामाजिक कल्याण की ओर लगा देना नितान्त आवश्यक है।

सारांश

प्रचलित विद्यालय

वर्तमान समय में प्रचलित विद्यालयों में दी जाने वाली शिक्षा में अनेकों दोषों की ओर संकेत किया जाता है और उनके स्थान पर क्रियाशील विद्यालयों एवं प्रगतिशील विद्यालयों के निर्माण पर बल दिया जाता है।

प्रचलित विद्यालयों में मुख्य दोष ये हैं कि यहाँ बालक के केवल एकांकी विकास पर बल दिया जाता है। उसकी सक्रियता का दमन कर दिया जाता है, ज्ञानेन्द्रियों का शिक्षण नहीं होता। शिक्षक अधिक सक्रिय रहता है तथा वही प्रश्न करने का अधिकारी होता है। वह कठोर अनुशासन रखता है। बालकों को आत्म प्रकाशन के कोई अवसर नही मिलते, नहीं उनका समाजीकरण हो पाता है, उनकी व्यक्तिगत विभिन्नता की अवहेलना की जाती है तथा शिक्षा का ध्येय प्रौढ़ जीवन की तैयारी होता है।

प्रचलित विद्यालय में कुछ गुण भी हैं जैसे नैतिक शिक्षा पर बल, विषयों के गहन अध्ययन को महत्व, मूल्यवान आदतों का निर्माण ।

क्रियाशील विद्यालय

इसके मुख्य प्रवर्तकों में ऐडोल्फ फेरेरे का नाम आता है । इनके अतिरिक्त जॉर्ज करशेनस्टीनर का नाम भी उल्लेखनीय है । वे "कार्य करके" चरित्र के विकास पर बल देते हैं । वे विद्यालय को एक ऐसा स्थान मानते हैं जहाँ बालक की निहित सृजनात्मक शक्तियों को स्वतन्त्र कर दिया जाता है ।

क्रियाशील विद्यालय के कार्य है बालक का पथ-प्रदर्शन, उसमें प्रत्येक व्यवसाय के महत्व के प्रति भावना जागृत करना, उसे समाज की प्रगति मे अपना योगदान प्रदान करने के लिये तैयार करना ।

क्रियाशील विद्यालय में व्यवसाय को केन्द्रित बना कर उसके चारों ओर अन्य विषयों को इकठ्ठा कर दिया जाता है ।

क्रियाशील विद्यालय की आलोचना अपनी प्रकृति में असमाजिक होने के कारण की जाती है ।

प्रगतिशील विद्यालय

प्रगतिशील शिक्षा दर्शन के जन्मदाता पार्कर महोदय समझे जाते हैं । अन्य प्रवर्तक ड्यूवी तथा किलपैट्रिक है ।

प्रगतिशील शिक्षा समाजीकृत वातावरण में चलती है । समाजीकरण से तात्पर्य बालक के व्यक्तित्व का विकास सामाजिक वातावरण में जो कुछ भी उपयोगी है उसे ग्रहण करके करने से है ।

प्रगतिशील विद्यालयों में ये विशेषताएं हैं —(१) शिक्षक एक परामर्शदाता (२) विद्यालयो में स्वतन्त्रता का वातावरण (३) बालकों की सक्रियशीलता पर बल (४) अध्यापन कक्ष की अच्छी व्यवस्था (५) परिप्रश्न पर आधारित शिक्षण विधि (६) समाजीकरण को महत्व (७) बालकों को सृजनात्मक अभिव्यक्ति के अवसर (८) व्यक्तित्व के सम्यक विकास पर बल, तथा (९) व्यक्तिगत विभिन्नता के आधार पर शिक्षा ।

प्रगतिशील विद्यालयों में अनेकों गुण हैं जिनमें से मुख्य हैं बालक को नेतृत्व के तथा आत्म प्रकाशन के अवसर, उनमें सद्भावना एवं सहयोग का विकास, तथा समस्याओ को हल करने की एवं निर्णय लेने की क्षमता का उद्बोधन ।

प्रगतिशील विद्यालयों के मुख्य दोष यह है कि इस में कुछ विषय जैसे

गणित, विज्ञान इत्यादि का शिक्षण, जो शिक्षण विधि यहाँ अपनाई जाती है, उसके द्वारा ठीक ढंग से नहीं हो पाता है।

शिक्षा में निदर्शन आन्दोलन

व्यक्तिगत विभिन्नता के आधार पर शिक्षा देने के लिये यह आवश्यक है कि बालकों को उचित निदर्शन दिया जाय।

निदर्शन व्यक्तिगत रूप से वह सहायता है जो एक व्यक्ति को उसकी जीवन की समस्याओं को हल करने को दी जाती है। यह एक सक्रिय एवं गतिशील प्रक्रिया है।

जीविका निदर्शन बालक को उसके व्यवसाय को चुनने में सहायता प्रदान करता है।

शिक्षा निदर्शन विद्यार्थियों को पाठ्य-क्रम एवं शिक्षा सम्बन्धी क्रियाओं के चुनाव में सहायता प्रदान करता है। वर्तमान समय में विद्यालयों का कार्य यह भी समझा जाता है कि बालकों को शिक्षा एवं जीविका निदर्शन प्रदान करें।

निदर्शन से मुख्य लाभ यही है कि बालक को उसकी योग्यता, रुचि और झुकाव के अनुसार कार्य करने को विषय पढ़ने को तथा व्यवसाय चुनने को अवसर मिल जाते हैं।

अध्ययन के लिए महत्वपूर्ण प्रश्न

१. प्रचलित विद्यालयो मे क्या क्या दोष है ? प्रगतिशील विद्यालयों में इनको कैसे दूर किया जाता है।

२. "शिक्षा जीवन है और जीवन एक सतत् वृद्धि की क्रिया है इस सिद्धान्त से आप क्या समझते हैं ? इस सिद्धान्त को किस प्रकार क्रियाशील विद्यालय में अपनाया गया है।

३. करशेन स्टीनर महोदय क्रियाशील विद्यालय के सम्बन्ध में क्या विचार रखते हैं ? इन विद्यालयों की कार्य पद्धति पर प्रकाश डालिए।

४. समाजीकरण का क्या महत्व एवं उपयोगिता है। इसका प्रयोग वातावरण में कि प्रगतिशील विद्यालयों में किस प्रकार होता है ?

५. शिक्षा में निदर्शन की क्या आवश्यकता है ? बालकों को निदर्शन से क्या लाभ पहुँच सकते हैं।

सहायक पुस्तकों की सूची

(१) मेयर : **वि डवलपमेन्ट ग्रॉफ एजुकेशन इन दी ट्वन्टिथ्य सेन्चुरी ।**
(२) रायबर्न : **वि प्रोगरेसिव स्कूल** कम्बरले, ग्रावसफर्ड यूनीवर्स्टी प्रेस १६५५ ।
(३) स्कीनर : **टीचिंग प्रोसीजर्स एण्ड प्रेक्टिसेज ।**
(४) फेरेयर ऐडोलफ : **वि एकटीविटी स्कूल,** १६२७ ।
(५) माथुर, एस० एस० : **शिक्षा मनोविज्ञान,** ग्रागरा, विनोद पुस्तक मन्दिर १६६० ।

अध्याय २०

कुछ महत्वपूर्ण शिक्षण विधियाँ

प्रस्तुत पुस्तक के चौथे अध्याय में हमने अध्यापन पाठ-सूत्र वाक्यों का वर्णन किया है। इन्हीं पाठ-सूत्र वाक्यों के फलस्वरूप कुछ शिक्षण विधियाँ निकलती हैं जिनका हम यहाँ अध्ययन करेंगे। जिन विधियो का यहाँ हम वर्णन करेंगे वे इस प्रकार हैं।

(१) आगमन-विधि (२) निगमन विधि (३) आगमन-निगमन-विधि तथा (४) ह्यूरिस्टिक विधि। ये सब विधियाँ इस ध्येय को अपने सम्मुख रखती है कि बालक को शिक्षण प्रदान करने मे सफलता मिले। परन्तु इन सब विधियों में आपसी अन्तर पाया जाता है। इसके अतरिक्त इनमें से कोई भी विधि ऐसी नहीं है कि शिक्षण केवल उसी के अनुसार दिया जा सके। आवश्यकतानुसार सभी विधियों का यथास्थान उपयोग करना उचित होता है।

आगमन विधि

आगमन हमारे मस्तिष्क की एक विशेष क्रिया है जो विशिष्ट वस्तुओं के निरीक्षण द्वारा हमको सामान्य सत्य अथवा सिद्धान्त की ओर ले जाती है। इस प्रक्रिया में संवेदना, प्रत्यक्षीकरण, तर्क, निर्णय तथा सामान्यीकरण सभी की आवश्यकता पड़ती है। विशिष्ट वस्तुओं का निरीक्षण संवेदना तथा प्रत्यक्षीकरण द्वारा ही संभव होता है। फिर इस निरीक्षण पर तर्क करके एक निर्णय पर आया जाता है यदि वह उपर्युक्त होता है तो सामान्यीकरण का रूप धारण कर लेता है। जैसे दो सरल रेखाओं को विभिन्न अवस्थाओं में एक दूसरे को काटते हुए निरीक्षण किया जाता है और यह देखा जाता है कि प्रत्येक दशा

में आमने सामने के कोण बराबर होते हैं । अतः तर्क द्वारा यह निर्णय कर लिया जाता है कि जब दो सरल रेखाऐं एक दूसरे को काटती हैं तो सम्मुख कोण बराबर होते हैं । इसी निर्णय को सामान्य सिद्धान्त के रूप में ग्रहण कर लिया जाता है ।

आगमन विधि विशिष्ट से सामान्य की ओर, मूर्त से अमूर्त की ओर ले जाने वाली होती है । इस विधि के द्वारा शिक्षण देने मे बालक अनेको विशिष्ट वस्तुओं, क्रियाओ इत्यादि का निरीक्षण करता है और फिर उनमें सामान्यता ज्ञात करके सामान्य नियम निर्धारित करता है । इस प्रकार यह विधि विश्लेषण से संश्लेषण की ओर ले जाने वाली होती है ।

आगमन विधि में गुण

(१) आगमन विधि द्वारा शिक्षण में बालक ज्ञान स्वत: ही प्राप्त करता है । वह विभिन्न क्रियाओं इत्यादि को स्वयं करता है तथा उनमे सामान्य सिद्धान्त को ढूंढ़ कर सामान्यीकरण प्राप्त करता है । बालक अनेकों दो सरल रेखाओं जो एक दूसरे को काटती हैं उनसे बने सम्मुख कोणों का मान ज्ञात करता है और जब वह स्वयं देख लेता है कि प्रत्येक दशा में ये कोण बराबर होते हैं तो वह सामान्य सिद्धान्त निर्धारित कर लेता है ।

(२) बालक क्योंकि सामान्य सत्य पर स्वयं अपने निरीक्षण के द्वारा पहुँचता है इस कारण उसके विचार इस सम्बन्ध में स्पष्ट हो जाते है । सामान्य सत्य उसके पास एक शक्तिशाली अस्त्र हो जाता है जिसका उपयोग करना उसे मालूम होता है । बालक सरलता से सम्मुख कोणों के सम्बन्ध को अन्य स्थितियों मे प्रयोग कर लेता है क्योकि वह जो भी सिद्धान्त निरूपण करता है वह उसने स्वयं ही अच्छी तरह समझकर तथा निरीक्षण करके किये होते है ।

(३) यह विधि सरल भी है क्योकि इसमें मूर्त से अमूर्त को ओर चला जाता है । जो उदाहरण इस विधि मे लिये जाते हैं वे वास्तविक होते हैं ।

(४) इस विधि में अभ्यास द्वारा मस्तिष्क का विकास होता है इस कारण यह विधि मानसिक विकास को प्रोत्साहित करने में अत्यन्त लाभप्रद होता है ।

(५) बालक अपने मानसिक विकास में स्वयं सक्रिय रहता है इस कारण यह विधि उसके लिये आनन्ददायक सिद्ध होती है । बालक नवीन ज्ञान को अपने आप प्राप्त करने के कारण प्रसन्नता अनुभव करता है ।

(६) इस विधि द्वारा बालक में आत्म-विश्वास का विकास होता है बालक को स्वयं अपने निरीक्षण करने का तथा निर्णय करने का प्रशिक्षण मिल जाता है । वह सत्य की खोज स्वयं ही करता है । इस प्रकार उनमें अपने आप पर विश्वास रख कर कार्य करने की क्षमता को विकास हो जाता है ।

(७) इस विधि में सामान्य नियम पर नियमित रूप से एक पद से दूसरे पद की ओर अग्रसर होकर पहुँचा जाता है। इस कारण शैक्षिक क्रिया का प्रत्येक पद बालक अच्छी प्रकार समझ लेता है।

आगमन विधि की आलोचना

(१) आगमन विधि कुछ विशिष्ट उदाहरणों के आधार पर सामान्य सिद्धान्त का निरूपण करती है परन्तु इस बात का कोई निश्चय नहीं कि यह सिद्धान्त अन्य दशाओं में भी सामान्य ही रहेगा। हम यह तो कह सकते हैं कि यह सामान्य सिद्धान्त इन विशिष्ट, उदाहरणों में जिनका निरीक्षण किया गया सत्य है परन्तु हमारा यह कहना अशुद्ध होगा कि जिन उदाहरणों का निरीक्षण हमने नहीं किया उनके लिए भी यह सिद्धान्त सत्य ही होगा। इससे तात्पर्य यह है कि आगमन द्वारा प्राप्त किये हुए सत्यों का परीक्षण अन्य किसी विधि जैसे निगमन विधि द्वारा करना आवश्यक होगा। आगमन विधि केवल उस सिद्धान्त का पता लगाती है जिसे सिद्ध करना है। इस विधि द्वारा सिद्धान्त सिद्ध नहीं किया जा सकता है। यह तो केवल अनुसन्धान से सम्बन्धित है।

(२) कभी-कभी आगमन क्रिया हमें दूषित एवं गलत निष्कर्ष तथा सामान्यीकरण की ओर ले जाती है। इस कारण बालक को प्रशिक्षण देने में हमें उसे इस सावधानी से परिचित करा देना चाहिए कि वह किसी निष्कर्ष पर पहुँचने मे अत्यन्त शीघ्रता न करे। हमें उसे यह स्पष्ट रूप से देखना सिखा देना चाहिए कि कब एक सत्य की वास्तविकता स्थापित समझी जानी चाहिए और कब नहीं। परन्तु बालक अपने सिद्धान्त निरूपण में दोष उसी समय समझ पायगा जब वह निगमन विधि का उपयोग करे।

(३) तीसरा दोष जो आगमन विधि में है वह यह है कि यह विधि अत्यन्त धीमी है। बालक एक सिद्धान्त पर पहुँचने में बहुत समय ले लेते हैं। इसके स्थान पर यदि निगमन विधि द्वारा चला जाता है तो बालक सिद्धान्तों को शीघ्रता से सीख जाते हैं।

(२) निगमन विधि

आगमन विधि विशिष्ट से सामान्य की ओर चलती है जबकि निगमन विधि सामान्य से विशिष्ट की ओर चलती है। निगमन विधि में तर्क इस प्रकार से किया जाता है कि

प्रत्येक मानव मर्त्य है
सुकरात मानव है
इस कारण सुकरात मर्त्य है।

जबकि आगमन विधि का तर्क इस प्रकार का होता है कि प्रत्येक दिन के अनुभव से जिनका हमें ज्ञान है वह सूर्य उदित हुआ है। अतएव सूर्य प्रत्येक दिन उदय होता है।

निगमन विधि में सामान्य सिद्धान्त के आधार पर विशिष्ट की परीक्षा की जाती है कि वह सत्य है या असत्य। निगमन विधि में बालकों को यह सिद्धान्त बता दिया जाता है कि जब दो सरल रेखायें एक दूसरे को काटती हैं तो सम्मुख कोण बराबर होते हैं फिर बालकों से इस सिद्धान्त की सत्यता विभिन्न सरल रेखाओं से बने हुए विभिन्न सम्मुख कोणों को नपवाकर सिद्ध कराई जाती है।

निगमन विधि में गुण

(१) निगमन विधि में मुख्य गुण यह है कि इसमें ज्ञान तीव्र गति से प्राप्त किया जा सकता है। बालक सामान्य नियम को जानते हैं केवल एक दो विशिष्ट उदाहरण में वे उस नियम का प्रयोग करके उसकी सत्यता को प्रमाणित कर देते हैं। निगमन विधि की तरह उन्हे सिद्धान्त निरूपण अनेकों उदाहरणों के पश्चात नहीं करना पड़ता।

(२) आगमन विधि द्वारा चाहे कोई भी सामान्य सिद्धान्त ज्ञात कर लिया जाय, वह सिद्धान्त जब तक मान्य नही हो सकता जब तक कि उसका प्रयोग तथा परीक्षण निगमन विधि द्वारा न कर लिया जाय। वास्तव में आगमन विधि का अन्तिम पद निगमन विधि का ही होता है।

(३) उच्च कक्षाओं में निगमन-विधि का प्रयोग अधिक उपयोगी सिद्ध होता है। यहाँ आगमन विधि द्वारा कार्य करने से बहुत सा बहुमूल्य समय व्यर्थ नष्ट हो जाता है।

निगमन विधि की आलोचना

निगमन विधि द्वारा कोई भी सामान्य सिद्धान्त नहीं खोजा जाता। सिद्धान्त खोजने की विधि अगमन विधि है। यदि कोई सत्य या सिद्धान्त का ज्ञान है तो उसका वर्णन निगमन रीति द्वारा हो सकता है। परन्तु सिद्धान्त का खोज निकालना एक बात है और उसको प्रस्तुत करने का ढँग दूसरी। कोई भी सिद्धान्त अपने सिद्ध किये जाने से पहिले भी सत्य ही होता है इसमें संदेह नहीं। एक त्रिभुज के तीनों कोणों का योग दो समकोण के बराबर होना इस सिद्धान्त के सिद्ध किये जाने से भी पहिले होता था। अतएव गणित या किसी अन्य विषय में सत्य निगमन पर अधारित नहीं है न ही उसकी खोज निगमन विधि द्वारा की जाती है। इस प्रकार अन्वेषण कर्त्ता के लिए निगमन

विधि उचित नहीं है और क्योंकि यह अन्वेषण कर्त्ता के लिए उचित नहीं है। इसलिए यह विधि बालक के लिये कदापि उपयोगी नहीं हो सकती।

निगमन विधि के प्रयोग करने में यह पाता नहीं लग पाता कि बालक सिद्धान्त को सिद्ध करने में समझ कर चल रहा है अथवा नहीं। आगमन विधि में बालक प्रत्येक पद को समझ कर चलता है परन्तु यहाँ बालक बिना पद को समझे रटकर भी कार्य चला सकता है।

(३) आगमन-निगमन विधि

आगमन और निगमन विधियाँ विरोधी विधियाँ प्रतीत होती हैं परन्तु वास्तव में ये एक दूसरे की पूरक हैं। शिक्षण प्रदान करने में दोनों विधियों का अपना अपना अलग महत्व है।

आगमन-विधि द्वारा शिक्षण प्रदान करने में निगमन विधि की आवश्यकता पड़ती है और निगमन-विधि द्वारा जिन सामान्य सिद्धान्तों को प्रयोग में लाना है उन सिद्धान्तों का खोज निकालना आगमन विधि द्वारा संभव होता है। इस प्रकार आगमन-विधि में निगमन-विधि सम्मिलित रहती है और निगमन विधि में अगमन विधि समाविष्ट होती है। आगमन द्वारा प्राप्त किये हुए सिद्धान्तों का परीक्षण केवल निगमन-विधि द्वारा ही हो सकता है।

बालक को शिक्षा प्रदान करने में आगमन विधि से कार्य आरम्भ करना चाहिए। और जब बालक आगमन विधि के द्वारा सिद्धान्त निरूपण करना सीखले तो उसे निगमन विधि का उपयोग करना सीखना चाहिए। वर्तमान समय में इस बात पर बहुत अधिक बल दिया जाता है कि कक्षा में आगमन विधि को महत्व दिया जाय। जैसे रेखागणित के शिक्षण में यह अच्छा समझा जाता है कि पहले विद्यार्थियों को कुछ ऐसी विशिष्ट समस्यायें दी जायें जो यथा संभव व्यवहारिक हों तथा जो उस प्रमेय की ओर ले जायें जिसे पढ़ाना है। यह उस समय तक होना चाहिए जब तक कि विद्यार्थी स्वयं प्रमेय की मुख्य प्रतिज्ञा का वर्णन कर सके और उसको सिद्ध करने की आवश्यकता महसूस करे। इस समय वह विद्यार्थी प्रमेय सिद्ध करने के लिए तैयार हो जाता है।

ह्यूरिस्टिक पद्धति[1]

हर्बर्ट स्पेन्सर महोदय का कथन है कि "बालकों को जितना कम से कम संभव हो उतना बताया जाय और उनको जितना अधिक से अधिक संभव

1—Heuristic method,

हो उसे खोजने को प्रोत्साहित किया जाय[1]।" स्पेन्सर महोदय के इस सूत्र का श्रेष्ठतम प्रयोग ह्यूरिस्टिक विधि में हमें मिलता है। ह्यूरिस्टिक विधि के जन्मदाता प्रोफेसर आर्मस्ट्रांग[2] महोदय थे। ह्यूरिस्टिक शब्द की उत्पत्ति ग्रीक भाषा के शब्द ह्यूरिस्को[3] से हुई है। ह्यूरिस्को शब्द का अर्थ होता है "मैं खोजता हूँ[4] अतएव ह्यूरिस्टिक विधि खोज करने की विधि है। इस विधि में मुख्य बात यह है कि बालक को एक खोज करने वाले की स्थिति में रख दिया जाता है और यह आशा की जाती है कि वह स्वयं खोज कर ज्ञान प्राप्त करेगा। बालक को एक निष्क्रिय श्रोता नहीं समझा जाता।

ह्यूरिस्टिक विधि में जैसा ऊपर कहा गया बालक एक अन्वेषक बन जाता है। वह प्रत्येक स्थिति में स्वयं कार्य करके तथ्यों का संकलन करता है और सत्य को खोज निकालता है। इस विधि में बालक शिक्षक द्वारा प्रतिपादित ज्ञान को बिना ननु नच किये हुए नहीं ग्रहण कर लेता। वह तो इस ज्ञान की खोज स्वतः करता है। वह अन्वेषण करता है और उसके अन्वेषण उसे जिस सत्य एवं सिद्धान्त के ज्ञान की ओर ले जाते हैं उसे वह ग्रहण कर लेता है। बालक जब अन्वेषण करके ज्ञान स्वय प्राप्त करता है तो उसमें बहुत से गुणों का प्रादुर्भाव हो जाता है। वे गुण हैं सत्य प्रियता, विचारों में निश्चितता, सूक्ष्म निरीक्षणता, चिन्तन करने की शक्ति, परिश्रम करने तथा आत्मशिक्षण प्राप्त करने की क्षमता। वास्तव में ह्यूरिस्टिक पद्धति द्वारा इन्हीं उद्देश्यों को प्राप्त करने का प्रयास किया जाना है।

कार्य पद्धति

ह्यूरिस्टिक पद्धति में कक्षा के सभी छात्रों को कार्य करने के लिये एक समस्या दे दी जाती है। इस समस्या पर सभी छात्र व्यक्तिगत रूप से काम करते हैं। विद्यार्थी इस समस्या को हल करने में अन्वेषक के रूप में होते हैं। वे समस्या का विश्लेषण करते हैं, उसके विभिन्न अंगों का परीक्षण करते हैं, उस समस्या को हल करने में जिन प्रयोगों की आवश्यकता होती है, उन्हें करते हैं तथा जो फल प्राप्त करते हैं उनके सम्बन्ध में विचार विनिमय करते हैं। इस पद्धति में बालकों को समस्या हल करने के हेतु जिन कार्यों के करने की आवश्यकता होती है उन्हें करने के लिए पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त होती है।

शिक्षक

इस पद्धति में भी शिक्षक का कार्य महत्वपूर्ण होता है। शिक्षक ही बालकों

1—Spencer : Children should be told as little as possible and induced to discover as much as possible, 2—Prof Arm strong, 3—Heurisco, 4—I find out.

के सम्मुख ऐसी समस्या प्रस्तुत करता है जिसके हल करने में बालक रुचि ले तथा अन्वेषण करने में आनन्द अनुभव करें। समस्या के प्रस्तुतीकरण के अतिरिक्त भी शिक्षक का महत्व कोई कम नहीं है। शिक्षक ही बालक को सदैव प्रोत्साहित करता है। वह उसे समस्या के विश्लेषण में जहाँ आवश्यक होता है सहायता पहुँचाता है। वह प्रयोगों में उपयोग किये जाने वाले उपकरणों का आयोजन करता है और इस बात की ओर से सदैव सचेत रहता है कि बालक को समस्या हल प्राप्त करने के लिए जो भी सामग्री की आवश्यकता होती है उसे वह उपलब्ध करता है। वह अन्वेषण कार्य के लिए कक्षा तथा विद्यालय में उचित वातावरण बनाये रहता है और छात्रों की कठिनाइयों को दूर करने की चेष्टा करता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि इस प्रणाली में शिक्षक का कार्य वास्तविक रूप में एक मित्र, सहयोगी एवं मार्ग प्रदर्शक का होता है। परन्तु क्योंकि इस पद्धति में शिक्षक से बहुत कुछ आशाऐं की जाती हैं इस कारण उसका योग्य, मेहनती स्वाध्यायशील एवं परीक्षण प्रिय होना आवश्यक है। उसे प्रेम पूर्वक एवं सहानुभूति पूर्ण ढंग से बालकों के साथ व्यवहार करना चाहिए। बालकों को अन्वेषक के रूप में रखना तथा अन्वेषण कराना सब उसके कार्य हैं। जितनी सुन्दरता, सफलता एवं योग्यता से वह यह कार्य करा लेगा उतना ही वह गुणवान समझा जायगा।

विभिन्न विषयों में ह्यूरिस्टिक पद्धति का प्रयोग

ह्यूरिस्टिक पद्धति मुख्यतया विज्ञान के शिक्षण में प्रयोग की जाती है। गणित के शिक्षण में भी इसे उच्च स्थान दिया जाता है। अन्य विषयों के शिक्षण में यह समझा जाता है कि इस पद्धति का प्रयोग नहीं हो सकता। परंतु यह धारणा ठीक नहीं है। यह तो ठीक है कि विज्ञान तथा गणित ऐसे विषय हैं जिनमें इस पद्धति का प्रयोग करना सरल है परन्तु यदि इस पद्धति का प्रयोग सावधानी पूर्वक ढंग से इस पद्धति में निहित उद्देश्यों को सम्मुख रख कर किया जाय तो इसका प्रयोग प्रत्येक विषय में हो सकता है। अनुसन्धान की भावना के विकास पर बल देकर यदि शिक्षण दिया जाय तो बालकों में विषय सम्बंधी रुचि जागृत हो जाती है और बालक ज्ञान को स्वत: ही ग्रहण कर लेते हैं। ह्यूरिस्टिक पद्धति द्वारा इस भावना का विकास होना है अतएव यह पद्धति प्रत्येक विषय के लिए उपयुक्त समझी जाती है।

ह्यूरिस्टिक पद्धति में गुण

(१) इस पद्धति में बालक स्वयं अन्वेषण करके सत्य की खोज करता है।

वह किसी दूसरे (पुस्तक का लेखक या शिक्षक) के द्वारा प्रतिपादित सत्य को नहीं मानता। इस प्रकार इस पद्धति द्वारा उसका प्रशिक्षण वांछित ढंग से होता है। वह सत्य की खोज में आनन्द प्राप्त करता है तथा उसके ज्ञान का संकलन उसके अनुभवों पर ही केन्द्रित होता है। इस बात को भली भांति समझने के लिए हम शतरंज के खेल का उदाहरण दे सकते हैं। मान लीजिये एक व्यक्ति गणित की पुस्तक से पढ़कर या गणित विषय पर व्याख्यान सुनकर गणित के सिद्धान्त इत्यादि सीखता है। यह व्यक्ति शतरंज के खेल में खेल को देखने वाला ऐसा दर्शक होगा जो केवल यह देखता रहेगा कि जो दो खिलाड़ी शतरंज खेल रहे होते हैं वे ठीक से शतरंज खेलने के नियमों का पालन कर रहे हैं या नहीं। वह खिलाडियों की प्रत्येक चाल पर निगाह रखेगा और खेल में उतनी ही रुचि रखेगा कि खेल ठीक ढंग से चले। इससे उसे कोई सम्बन्ध नहीं होगा कि कौन सा खिलाड़ी जीतता है। ऐसा व्यक्ति शतरंज के खेल के नियमों को तो अच्छी तरह सीख जायगा उसे विभिन्न चालें कैसे चली जाती हैं यह तो याद हो जायगा परन्तु खेल का वह उत्साह तथा खेलने का वह आनन्द उसे प्राप्त नहीं होगा जब तक वह स्वयं नहीं खेलेगा। जब वह शतरंज के खेल में खिलाड़ी के रूप से भाग लेगा तभी उसे प्रत्येक चाल का महत्व तथा प्रत्येक चाल चलने में मन में किस प्रकार की क्रियायें होती हैं इसका अनुभव होगा। गणित पुस्तकों या व्याख्यान से सीखने वाला व्यक्ति गणित के नियमों को सीख जायगा परन्तु जब तक वह गणित के नियमों इत्यादि को स्वयं खोज कर नही प्राप्त करेगा उसे न तो गणित में कोई आनन्द आयगा और न उसका मानसिक प्रशिक्षण उचित ढंग से होगा।

(२) इस पद्धति में दूसरा गुण यह है कि बालकों में आत्मविश्वास का गुण उत्पन्न हो जाता है। वे समझ जाते हैं कि वे स्वयं खोज करके अपने ज्ञान में वृद्धि कर सकते हैं। उनमें बौद्धिक आत्म निर्भरता का विकास हो जाता है।

(३) बालकों की अन्वेषण वृत्ति का विकास होता है। बालक खोज करना सीख जाते हैं। इसके अतिरिक्त उनकी निरीक्षण, परीक्षण तुलना, निर्णय इत्यादि करने की शक्ति में वृद्धि हो जाती है।

(४) इस पद्धति में बालकों की स्मृति पर अत्याधिक बल नही दिया जाता तथा उन्हें रट कर याद करने की कोई आवश्यकता नही पड़ती।

(५) इस पद्धति के प्रयोग से बालकों के मन की विभिन्न शक्तियों में वृद्धि होती है। वे समस्या हल करने में अपने मन की शक्तियों का उपयोग करते हैं। मन की शक्तियों का उपयोग करने से वे परिपक्व हो जाती है और उनका

विकास हो जाता है। इसके अतिरिक्त बालक जीवन की विभिन्न समस्याओं में मन की शक्तियों का उपयोग करना भी सीख जाते हैं।

(६) बालकों में स्वाध्याय की आदत का विकास होता है। वे कठोर परिश्रम करने के लिये तैयार रहते हैं।

(७) इस पद्धति में अध्यापक और छात्र का बहुत निकट सम्पर्क रहता है। अध्यापक जैसा ऊपर वर्णन किया गया प्रत्येक छात्र के लिए मित्र, सहयोगी एवं पथ प्रदर्शक होता है। वह प्रत्येक छात्र की समस्या को सुलझाने मे व्यक्तिगत रूप से सहायता पहुँचाता है। इस प्रकार वह छात्रों को बहुत निकट से समझने लगता है और छात्र भी उसको अपना शुभचिन्तक मानने लगते हैं।

ह्यूरिस्टिक पद्धति की आलोचना

इस पद्धति में उपरोक्त गुणों के होने पर भी इसकी बहुत आलोचना की गयी है। की आलोचना के मुख्य विन्दु इस प्रकार है।

(१) यह माना जाता है कि यदि बालक को अन्वेषक के रूप में रखकर शिक्षा दी जाती है तो बालक को साधारण ज्ञान प्राप्त करने में भी बहुत समय लग जाता है। इस प्रकार बालक की शिक्षा बहुत धीमी गति से चलती है। परन्तु इस पद्धति के समर्थक इस आलोचना का उत्तर देते हुए कहते हैं कि यह तो ठीक है कि इस पद्धति द्वारा आरम्भ में तो बालक की प्रगति धीमी होती है है परन्तु जैसे ही वह अन्वेषण करने की क्रिया को दृढ़ता से समझ लेता है उसकी प्रगति बहुत तेज हो जाती है। यहां तक कि वर्ष के अन्त में एक बालक इस पद्धति का अनुसरण करके उस बालक की अपेक्षा अधिक सीख लेता है जो साधारण पद्धति से सीख रहा होता है।

(२) इस पद्धति में बालक से यह आशा की जाती है कि जिन तथ्यों की खोज में मानव जाति को सैकड़ों वर्ष लग गये उन्हें बालक कक्षा में छोटे-छोटे घंटों में सीख लेगा। इस प्रकार की आशा करना नितान्त असंगत है। प्रत्येक बालक दूसरा युक्लिड[1] नहीं हो सकता। अतएव यदि उससे अन्वेषण कार्य कराना ही है तो प्रत्येक कार्य को छोटे खण्डों में विभाजित करना होगा जो बालक की समझ के अन्दर हों।

(३) इस पद्धति में शिक्षक के उत्तरदायित्व बहुत होते हैं उनका निर्वाह करने के लिये उसे विशेष प्रकार का प्रशिक्षण मिलना आवश्यक है। शिक्षक में स्वयं अन्वेषण करने की भावना का विकास करना होगा। इसके अतिरिक्त

1—Euclid.

शिक्षक को यह भी समझना होगा कि बालकों को किस प्रकार की समस्यायें दी जायँ और कहाँ उन्हें व्यक्तिगत सहायता प्रदान करनी चाहिए।

(४) इस पद्धति के सफल होने में एक और शंका भी है। वह यह कि पद्धति के लिये जो उचित प्रकार की पुस्तकें, उचित प्रकार की सामग्री तथा उचित प्रकार का शिक्षालय संगठन चाहिए वे विद्यालयों में बहुत कम उपलब्ध हो पाते हैं।

ह्यूरिस्टिक पद्धति के गुणों एवं दोषों की ओर यदि हम ध्यान पूर्वक विचार करें तो हम को यह मानने में कोई कठिनाई नहीं होगी कि यह पद्धति बालकों के शिक्षण में अत्यन्त उपयोगी एवं लाभप्रद है। परन्तु इसके लिये जो वांछित वातावरण चाहिए, उपयुक्त सामग्री चाहिए योग्य शिक्षक चाहिए एवं शिक्षालय संगठन चाहिये उनका आयोजन करना अत्यन्त कठिन है। विशेष रूप से हमारे देश के साधारण विद्यालयों में इन सब का आयोजन होना तो लगभग असंभव सा प्रतीत होता है। यहाँ के विद्यालयों में ऐसे शिक्षक अधिक मात्रा में उपलब्ध नहीं हो सकते जो इस पद्धति की महत्ता को पहचान सके तथा स्वाध्याय और अन्वेषण में रुचि लें। यदि कुछ शिक्षक ऐसे हैं भी तो उनके पास समय का अभाव रहता है। अन्वेषण के लिये पर्याप्त सामग्री चाहिए जो यहाँ के विद्यालय धनाभाव के कारण नहीं खरीद सकते। इसके अतिरिक्त यहाँ के विद्यालयों का सम्पूर्ण कार्यक्रम परीक्षा केन्द्रित होता है। विद्यालय में जो कुछ भी होता है उसका मूल्याङ्कन परीक्षा के दृष्टिकोण से ही किया जाता है। ह्यूरिस्टिक पद्धति मे परीक्षा को इतना अधिक महत्व नहीं दिया जा सकता।

हम यहाँ यह मानते हुए भी कि इस पद्धति का सम्यक् रूप से प्रयोग करना कठिन है शिक्षकों से अनुरोध करेंगे कि जो कुछ भी शिक्षालय का वातावरण हो, जो कुछ भी सामग्री वहाँ उपलब्ध हो, चाहे कोई विषय वे पढ़ा रहे हों वे सदैव इस पद्धति की मूल भावना अन्वेषण करने को अपने समक्ष रखें। वे बालकों में अनुसन्धान-वृत्ति एवं तर्क संगत चिन्तन को प्रोत्साहित करें। वे बालकों को जो कुछ भी प्रश्न या समस्या उनके समक्ष आती हैं उनका उत्तर स्वयं खोजने पर बल दें। वे यह न करें कि उत्तर स्वयं देकर उसकी सिद्धि बालकों से करायें। ऐसा करने से हमारे विद्यालयों में दिया जाने वाला शिक्षण बहुत से दोषों से उन्मुक्त हो जायगा।

सारांश

अगमन विधि

अगमन विधि विशिष्ट से सामान्य की ओर, मूर्त अमूर्त की ओर ले जाने वाली होती है।

अगमन विधि में ये गुण होते हैं (१) बालक ज्ञान स्वतः ही प्राप्त करता है (२) बालक सामान्य सिद्धान्तो को अच्छी तरह समझ लेता है (३) यह विधि सरल है (४) इसमें मानसिक विकास को प्रोत्साहित किया जाता है (५) बालक सक्रिय रहता है तथा आनन्द अनुभव करता है (६) आत्मविश्वास का विकास होता है तथा (७) बालक शैक्षिक क्रिया के प्रत्येक अङ्ग को समझ लेते है।

आगमन विधि में दोष—(१) सामान्य सिद्धान्त थोड़े से उदाहरणों पर निर्भर रहता है (२) कभी कभी यह क्रिया सामान्यीकरण की ओर ले जाती है (३) यह विधि अत्यन्त धीमी है।

निगमन विधि

निगमन विधि मे सामान्य सिद्धान्त के आधार पर विशिष्ट की परीक्षा की जाती है कि वह सत्य है या असत्य।

निगमन विधि में ये गुण हैं—(१) ज्ञान तीव्र गति से प्राप्त किया जाता है (२) अगमन विधि द्वारा प्राप्त सिद्धान्तों का परीक्षण इसी विधि द्वारा संभव है (३) उच्च कक्षाओं में यह अधिक उपयोगी है।

निगमन विधि में ये दोष हैं—यदि विधि अन्वेषण कर्त्ता के लिये अच्छी नहीं है इस विधि द्वारा चलने में यह पता लगना कठिन है कि बालक समझ कर चल रहा या नहीं।

अगमन-निगमन विधि—बालक को शिक्षा प्रदान करने में अगमन विधि से कार्य आरम्भ करना चाहिए और जब तक बालक अगमन विधि के द्वारा सिद्धान्त निरूपण करना सीखले तो उसे निगमन विधि का उपयोग करना सोखना चाहिए।

ह्यूरिस्टिक पद्धति

इस पद्धति में बालक को अन्वेषण कर्त्ता के रूप में रखा जाता है वह ज्ञान को स्वयं खोज कर सीखता है।

इस पद्धति में कक्षा के सब छात्रों को कार्य करने को एक समस्या दी जाती है। इस समस्या का हल वे व्यक्तिगत रूप से निकालते हैं।

इस पद्धति में शिक्षक का कार्य बहुत महत्वपूर्ण है। परन्तु वह अपना

उत्तरदायित्व उसी समय ठीक रूप से निबाह सकता है जब वह मेहनती स्वाध्यायशील एवं परीक्षण प्रिय होगा। ह्यूरिस्टिक पद्धति का प्रयोग प्रत्येक विषय में हो सकता है परन्तु गणित एवं विज्ञान के विषय में इसका प्रयोग बहुत अधिक होता है।

ह्यूरिस्टिक पद्धति में ये गुण—(१) बालक स्वयं अन्वेषण करके सत्य की खोज करता (२) बालकों में आत्मविश्वास उत्पन्न होता है (३) बालकों की अन्वेषण वृत्ति का विकास होता है (४) बालकों की स्मृति पर अत्याधिक बल नहीं दिया जाता (५) बालक के मन की विभिन्न शक्तियों का विकास होता है (६) बालकों में स्वाध्याय की आदत पड़ती है (७) शिक्षक और शिक्षार्थी का सम्बन्ध निकटतम हो जाता है।

ह्यूरिस्टिक पद्धति के दोष है—(१) ज्ञान प्राप्त करने में अधिक समय लगता है (२) बालक उन खोजों को जिनको खोजने में मानव जाति को सैकड़ों साल लग गये हैं थोड़े समय में फिर से नहीं खोज सकता (३) शिक्षक के उत्तरदायित्व बहुत हैं (४) सामग्री, पाठ्य पुस्तकों इत्यादि को उपलब्ध करने में बहुत साधन चाहिए।

इस पद्धति में दोष होते हुए भी यह कह जासकता है कि प्रत्येक शिक्षक को अपने शिक्षण में अन्वेषण की भावना को सामने रखना चाहिए।

अध्ययनके लिए महत्वपूर्ण प्रश्न

१. अगमन विधि क्यों शिक्षा की एक अच्छी विधि समझी जाती है। किसी भी विषय का उदाहरण लेकर समझाइये कि उसमें अगमन विधि का प्रयोग करने से क्या लाभ है ?

२. "अगमन एवं निगमन विधियाँ एक दूसरे की विरोधी नहीं वरन सहायक हैं" इस कथन की विवेचना कीजिए।

३. ह्यूरिस्टिक पद्धति के मुख्य उद्देश्य क्या हैं ? किस प्रकार इनको प्राप्त करने की चेष्टा की जाती है ?

४. ह्यूरिस्टिक पद्धति में क्या गुण हैं ? इन गुणों के होते हुए भी इस पद्धति का उपयोग क्यों इतना कम हमारे विद्यालयों में हो पाया है।

सहायक पुस्तकों की सूची

(१) यंग : द टीचिंग आफ मैथेमेटिक्स।
(२) आयंगर : द टीचिंग आफ मैथेमेटिक्स।
(३) भाटिया एवं भाटिया : द प्रिंसीपल्स एण्ड मैथडस आफ टीचिंग

अध्याय २०

बेसिक शिक्षा[1]

बेसिक शिक्षा के प्रमुख प्रवर्तक राष्ट्र पिता महात्मा गान्धी थे। इन्होंने भारत के नागरिकों की शोचनीय दशा को सुधारने के लिये बेसिक शिक्षा या बुनियादी शिक्षा का प्रतिपादन किया। यह शिक्षा पद्धति तत्कालीन शिक्षा पद्धति के विरोध स्वरूप निर्मित की गई थी। गान्धी जी ने देखा कि पाश्चात्य शिक्षा प्रणाली जिसका देश मे बोलबाला था वह हमारे देश के युवक एवं युवतियों पर ऐसे अशुभ प्रभाव डाल रही थी जो उनके व्यक्तित्व को कुंठित और दूषित बना रही थी। पर वह शिक्षा पद्धति देश के लिए अहितकर एवं अकल्याणकारी थी। यह शिक्षा देश के युवकों को अपनी भारतीय संस्कृति से बहुत दूर ले जा रही थी "पाश्चात्य सभ्यता में रंगे भारतवासी रंग रूप से भारतीय होते हुए भी मन, वचन एवं कर्म से विदेशी बन गये थे। इसप्रकार मैकॉले महोदय द्वारा जो भारत में पाश्चात्य शिक्षा की नींव रखते समय विचार व्यक्त किये गये थे उनका अक्षरशः सत्य सामने आ रहा था। मैकॉल महोदय भारतीयों को ऐसी देने के पक्ष मे थे जिसकी जड़ें पाश्चात्य दर्शन एवं साहित्य में हों और जो भारतीयों को अपनी सभ्यता से दूर ले जाय। लार्ड मैकॉले ने भारतीय शिक्षा की रूप रेखा बनाते समय ये विचार व्यक्त किये थे "इस समय हमें एक ऐसा वर्ग बनाने का प्रयास करना चाहिए जो हमारे और भारतीय जनता, जिन पर हमको अपना शासन चिरस्थायी रखना है, के मध्य द्विभाषिये का कार्य कर सके। भारतीय केवल रंग रूप में ही भारतीय रहें किन्तु उनका

1—Basic Education.

मस्तिष्क, आचार, विचार, रीति, नीति सब अंग्रेजी रंग में रंग जाए।" इस प्रकार शिक्षित भारतवासी अपने दर्शन, आदर्श एवं सभ्यता को भूल चुके थे। गांधी जी ने जब भारतियों की यह दशा देखी तो उन्होंने प्रचलित शिक्षा का विरोध किया और एक नई शिक्षा पद्धति को जन्म दिया।

गांधी जी एक महान् क्रान्तिकारी थे। उहोंने जिस ओर अपना ध्यान दिया उसी ओर एक क्रान्ति खड़ी कर दी। विदेशी शासन के प्रति उन्होंने जनता को जागृत किया और एक ऐसी क्रान्ति की नींव डाली जिसने भारत को स्वसन्त्रता के द्वार पर लाकर खड़ा कर दिया। गांधी जी ने जिस समय बुनियादी शिक्षा के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त किये उस समय तक वे राजनीतिक तथा सामाजिक क्षेत्र में अपना अमिट प्रभाव जमा चुके थे। अतः उनके शिक्षा सम्बन्धी क्रान्तिकारी विचारों का भी आदर किया गया और उन पर विचार विमर्श प्रारम्भ हो गया। वास्तव मे गांधी जी के विचार भारतीय स्थिति में इतने उपयुक्त प्रतीत होते थे कि उन्होंने देश के अनेकों शिक्षा शास्त्रियों को अपनी ओर आकर्षित कर लिया और वे उन विचारों को एक योजना के रूप में रखने में संग्लन हो गये। इस अध्याय मे हम पहिले तत्कालीन शिक्षा के दोषों की ओर ध्यान देंगे फिर बेसिक शिक्षा योजना के इतिहास एवं दर्शन का वर्णन करेंगे तथा अन्त में इस योजना की कार्य पद्धति, विशेषताओं, गुण तथा अवगुण और इस योजना की दूसरी पद्धतियो से तुलना करेंगे।

आधुनिक शिक्षा-पद्धति के दोष

भारतवर्ष की तत्कालीन शिक्षा-पद्धति के जिन दोषों के प्रति महात्मा गांधी ने सकेत किया वे निम्नलिखित हैं—

(१) आधुनिक भारतीय शिक्षा में पुस्तकों का प्रमुख स्थान है। यहाँ की शिक्षा पूर्णतया, पुस्तकीय, साहित्यिक तथा शाब्दीय है। ऐसी शिक्षा मे न बालक को कोई महत्व है और न उसके अनुभवों की कोई महत्ता है।

(२) इस शिक्षा के उद्देश्य सीमित हैं। यह केवल क्लर्क बनाने के उद्देश्य से दी जाती है। इस शिक्षा के उद्देश्य बालक के मानसिक, शारीरिक एवं अध्यात्मिक विकास की ओर कोई भी बल नहीं देते।

(३) आधुनिक शिक्षा ज्ञान तो देती है पर हमें जीवन से ज्ञान का क्या सम्बन्ध है यह नहीं बतलाती। इस शिक्षा द्वारा हमारे ज्ञान में तो वृद्धि होती है परन्तु हमारी बौद्धिक और मानसिक उन्नति नहीं होती।

(४) यह शिक्षा जीवन से दूर ले जाती है। जो शिक्षा विद्यालयों मे दी जाती है वह जीवन की वास्तविक परिस्थितियों को किसी भी प्रकार अपने

सम्मुख नहीं रखती। यहाँ दी जाने वाली शिक्षा बालक के वर्तमान तथा भावी जीवन में कहीं भी काम नहीं आती।

(५) यह शिक्षा व्यावहारिक कार्यकुशलता की अवहेलना करती है। इस शिक्षा में सिद्धान्त तथा क्रिया को एक दूसरे से पृथक किया जाता है। एक विद्यार्थी जो एम० ए० इतिहास में तो कर लेता है परन्तु अपने आस-पास की ऐतिहासिक इमारतों के सम्बन्ध में कुछ नही जानता। इसी प्रकार एक एम० एस० सी० गणित साधारण हिसाब जो व्यवहार मे आते हैं उन्हे लगाने में असफल रहता हैं।

(६) यह शिक्षा भिन्नभाव तथा सहयोग की भावना के स्थान पर प्रतिद्वन्द्विता की भावना को प्रोत्साहित करती है। इस में प्रतिस्पर्द्धा का बोलबाला रहता है। बालक सहयोग से कार्य करना न सीख कर एक दूसरे को नीचा दिखाने में अपनी योग्यता समझते हैं। अत: सामाजिक भावना का विकास नहीं हो पाता।

(७) तत्कालीन शिक्षा में एक बडा दोष यह है कि शिक्षा सब के लिये उपलब्ध नहीं है। भारत के कुछ ही प्रतिशत नागरिक इस शिक्षा को प्राप्त कर सकते हैं। गाँवों में स्कूलों की कमी है और बहुत से ग्रामीण बालक अनपढ़ ही रह जाते हैं।

(८) यह शिक्षा बहुत महंगी है। भारत एक निर्धन देश है। यहाँ के निवासी अधिकतर गरीब हैं। के अपने बालकों की शिक्षा का व्यय भी नहीं सहन कर सकते। इसी कारण बहुत से माता-पिता अपने बालकों को विद्यालयो में नहीं भेज पाते और ये बालक अशिक्षित रह जाते हैं।

(९) इस शिक्षा का भारतीय संस्कृति से कोई सम्बन्ध नहीं है। तथा उसके आधार पाश्चात्य संस्कृति पर रखे गये हैं। अतएव यह शिक्षा भारतीय संस्कृति को निम्न कोटि का मान कर चलती है।

(१०) इस शिक्षा में अंग्रेजी भाषा को प्रमुख स्थान दिया जाता है और मातृ भाषा को गौण स्थान। बालकों को विदेशी भाषा के माध्यम से सीखने में बहुत समय लगता है तथा यह उनमें शिक्षा के प्रति अरुचि एवं घृणा उत्पन्न कर देती है। इसके अतिरिक्त बालक देश प्रेम से शून्य हो जाते हैं। वे अपनी संस्कृति से अनिभिज्ञ रहते हैं तथा अपने देश में ही विदेशी प्रतीत होते हैं। इस सम्बन्ध में गांधी जी ने कहा है कि—

"शिक्षा के अंग्रेजी माध्यम ने भारत की शक्ति को नष्ट कर दिया है, विद्यार्थियों की आयु घटा दी गई है, उनको अपने घर बालों से भिन्न कर दिया है। अंग्रेजी के माध्यम ने शिक्षा को अकारण ही व्यय साध्य बना दिया है। यदि

अंग्रेजी ही शिक्षा का माध्यम रही तो देश का पतन निश्चित है। हमारी भावी सन्तान हमें कोसेगी, बुरा भला कहेगी।"

(११) शिक्षा जब तक अनिवार्य न हो तब तक देश से निरक्षता दूर नहीं की जा सकती। यह शिक्षा किसी भी आयु स्तर तक अनिवार्य नहीं है जिसका फल यह होता है कि बहुत से माता पिता अपने बालकों को स्कूल में नहीं भेजते और वे जीवन भर निरक्षर ही रहते हैं।

(१२) यह शिक्षा-विधि इस प्रकार की है कि प्रति वर्ष हजारों-लाखों विद्यार्थी परीक्षा में असफल होते हैं। इस प्रकार राष्ट्र का बहुत सा धन इन असफल छात्रो को फिर पढ़ाने मे लग जाता है। इसके अतिरिक्त इनमें से बहुत से छात्र पढ़ना ही छोड़ देते है जिसका फल यह होता है कि जो कुछ शिक्षा उन्होने ग्रहण की है उससे वे कोई लाभ नहीं उठा पाता।

(१३) इसमें अपव्यय की मात्रा बहुत अधिक है पहली कक्षा में प्रवेश करने वाले छात्रो मे से केवल कुछ ही छात्र पाँचवी कक्षा में पहुँचते हैं, और जो थोड़ा सा ज्ञान प्राप्त करते हैं वह जीवन मे उनके काम नहीं आता।

(१४) यह शिक्षा एकाङ्गी है। बालक के बहुमुखी विकास की ओर यह कोई ध्यान नहीं देती। इस शिक्षा मे बालक की शारीरिक शिक्षा की ओर कोई ध्यान नहीं दिया जाता। इसके अतिरिक्त अध्यात्मिक शिक्षा का भी इस शिक्षा में कोई स्थान नहीं है।

(१५) आधुनिक शिक्षा द्वारा शिक्षित विद्यार्थियो में न तो सामाजिकता का विकास ही हो पाता है और न नागरिकता का। इसका कारण यही है कि इस शिक्षा में न तो पाठशाला में सामाजिकता का वातावरण उत्पन्न हो पाता है और न पाठशालाएँ ही यह चेष्टा करती हैं कि वे बाहरी समाज से निकट सम्बन्ध रखें। विद्यालयों में बालकों को केवल सरकार का कहना मानने की शिक्षा दी जाती है उन्हे यह नहीं सिखाया जाता कि एक नागरिक के क्या अधिकार हैं? तथा क्या कर्त्तव्य है।

(१६) आधुनिक शिक्षा में सबसे मुख्य दोष यह है कि यह पढ़े-लिखे युवकों में अपने हाथ से काम करने के प्रतिक्षण उत्पन्न कर देती है। पढ़ा लिखा व्यक्ति स्वयं अपना कार्य अपने हाथ से करने में शरमाता है। वह अपने को उनसे बहुत उच्च समझने लगता है जो हाथ से काम करते हैं।

(१७) आधुनिक शिक्षा बालकों की व्यक्तिगत विभिन्नता पर कोई ध्यान नहीं देती। यह शिक्षा विभिन्न रुचियों एवं विभिन्न योग्यता वाले बालकों को एक ही डंडे से हाँकती है। यह अत्यन्त अमनोवैज्ञानिक है और बालकों के लिये हानिकारक है।

बेसिक शिक्षा योजना का दर्शन

बेसिक शिक्षा योजना की नींव आधुनिक शिक्षा के दोषों को दूर करने के लिये रखी गई थी। परन्तु यह कहना सवर्था असंगत होगा कि इस योजना के पीछे केवल सुधार की ही भावना थी कोई दर्शन नहीं था। वास्तव में तो आधुनिक शिक्षा के पीछे कोई दर्शन था ही नहीं और यदि कोई था तो वह अत्यन्त हानिकारक क्योंकि इस प्रकार की शिक्षा का उद्देश्य केवल क्लर्क बनाना था। बेसिक शिक्षा योजना अच्छे दर्शन और आधुनिक मनोविज्ञान पर आधारित की गई थी। इस योजना का दर्शन गान्धी जी के शिक्षा-दर्शन पर ही केन्द्रित था। अतएव बेसिक शिक्षा-योजना के दर्शन को समझने के लिए हम यहाँ संक्षेप में गांधी जी के शिक्षा-दर्शन का वर्णन करेंगे।

अनेकों अन्य दार्शनिकों की तरह गांधी जी का शिक्षा दर्शन भी उनके जीवन दर्शन पर ही आधारित था। गांधी जी का विश्वास ईश्वर के सम्पूर्ण एकत्व मे था। इसी कारण वह मानव की एकता में भी विश्वास रखते थे। वे ईश्वर को अन्तिम सत्य मानते थे। उनके विचार से जगत् मिथ्या है। जो कुछ भी मानव का अस्तित्व है वह ईश्वर की इच्छा पर है। बिना ईश्वर की इच्छा के संसार में कोई कार्य नहीं हो सकता। गांधी जी का विश्वास था कि सत्य ही ईश्वर है और इस सत्य का अनुभव, अहिंसा द्वारा किया जा सकता है। वे सत्य को साध्य तथा अहिंसा को साधन मानते थे।

गांधी जी का पक्का विश्वास था कि मानव के जीवन का अन्तिम उद्देश्य ईश्वर की अनुभूति प्राप्त करना है और यह अनुभूति अहिंसा द्वारा ही प्राप्त की जा सकती है। मानव सामाजिक संगठन का ही एक भाग है और इसी के द्वारा वह इस जीवन के लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है। क्योंकि समाज या मानव जाति उन मानवो द्वारा ही निर्मित होती है जो भाई चारे के बन्धनों से जकड़े रहते है। इसलिए मानव और समाज, ईश्वर जो परम सत्य है, उसकी प्राप्ति अहिंसा द्वारा ही कर सकते है। अहिंसा में सबसे प्रेम करना तथा किसी से भी घृणा न करना निहित हैं।

गांधी जी के लिए सच्ची शिक्षा बालक के व्यक्तित्व का विकास है। उनके विचार जो शिक्षा के सम्बन्ध में ३१ जुलाई सन् १९३७ के हरिजन में व्यक्त किये गये, वे हैं "शिक्षा से मेरा अभिप्राय बालक और मनुष्य के शरीर, मन तथा आत्मा के उत्कृष्ट और सर्वाङ्गीण विकास से है। साक्षरता-शिक्षा की अन्तिम सीढ़ी नहीं है न ही प्रथम सोपान। यह तो पुरुष और स्त्री को शिक्षित

करने का एक साधन है। केवल साक्षरता अपने में शिक्षा नहीं कहलाई जा सकती।"[1] इस प्रकार हम देखते हैं कि गांधी जी मानव व्यक्तित्व के सर्वाङ्गीण विकास को ही शिक्षा का लक्ष्य मानते थे। वे शिक्षा द्वारा पूर्ण मानव (whole man) बनाने पर बल देते थे। सम्पूर्ण मानव से उनका तात्पर्य मानव के व्यक्तित्व के सर्वाङ्गीण विकास से ही था। वे मानव के व्यक्तित्व के चारों अंगो—शरीर, हृदय, मन तथा आत्मा के सम्यक् विकास पर बल देते थे। उनका विचार था कि बालक के शारीरिक, बौद्धिक मानसिक तथा अध्यात्मिक विकास पर बराबरी से बल दिया जाना चाहिए। उनके अनुसार आधुनिक शिक्षा इन चारों में सामजस्य स्थापित करने की कोई चेष्टा नही करती। वह बालक के व्यक्तित्व के लिए हानिकारक है। अतएव वे एक ऐसी शिक्षा योजना की ओर संकेत करते है जो सच्ची शिक्षा प्रदान कर सके और आधुनिक शिक्षा के अनेकों दोषों से पूर्णतः मुक्त हो।

गांधी जी ने जो आधुनिक शिक्षा में सुधार लाने का जो मुख्य विचार प्रतिपादित किया वह यह था कि बालकों को शिक्षा किसी उद्योग के चारो ओर केन्द्रित करके दी जाय। वे उद्योग को यांत्रिक ढङ्ग से सिखाने के लिए नही कहते। वरन् उद्योग को वैज्ञानिक ढंग से सिखाने के पक्ष में थे। आरम्भ में वे शिक्षा का माध्यम उद्योग को ही बनाना चाहते थे। उद्योग को वे अन्य विषयों के साथ एक अनिवार्य पाठ्यक्रम के विषय के रूप मे नहीं चाहते थे वे तो इसको बालक की बौद्धिक शिक्षा का आधार बनाना चाहते थे। गांधी जी ने इस सम्बन्ध में कहा है "मैं बालक की शिक्षा उसको एक लाभदायक उद्योग सिखाकर तथा जिस क्षण से उसका शिक्षण आरम्भ हो उसमें उत्पादन करने की क्षमता का विकास करके आरम्भ करूँगा·····मेरा विचार है कि मन तथा आत्मा का सबसे उत्तम विकास इस प्रकार की शिक्षा प्रणाली द्वारा संभव है। केवल यह कि प्रत्येक उद्योग को यांत्रिक ढंग से न सिखाया जाय जैसे आजकल सिखाया जाता है वरन वैज्ञानिक ढंग से सिखाया जाय। तात्पर्य यह कि बालक

1—Harijan, dated 31-7-37; Mahatma Gandhi, "By Education I mean an all round drawing out of the best in child and man-body, mind and spirit. Literacy in not the end of education nor even the beginning. It is one of the means whereby man and woman can be educatied. Literacy in itself is no education.

प्रत्येक क्रिया क्यों और कहाँ के लिये होती है समझ जाय।"[1]

गांधी जी ऐसे उद्योग को चुनने के पक्ष में हैं जो शैक्षणिक तथा आर्थिक दोनों ही दृष्टियों से लाभदायक हो। वे उद्योग का आत्म-निर्भर[2] होना आवश्यक समझते हैं। वे उद्योग की आत्म निर्भरता में दो लाभ देखते हैं एक तो यह कि बालक शिक्षा की समाप्ति पर आत्म-निर्भर रहना सीख जाता है। तथा सीखा हुआ उद्योग उसकी आजीविका का एक साधन बन जाता है तथा शिक्षा समाप्ति पर उसकी बेकारी की समस्या का हल हो जाता है दूसरे विद्यालय में उद्योग के उत्पादन से इतनी आर्थिक आय हो सकने की संभावना हो जाती है कि शिक्षक का वेतन विकल सकता है। इस प्रकार शिक्षा के खर्च के लिए सरकार या किसी और का मुँह ताकने की आवश्यकता नहीं रह जाती। बालक शिक्षा के साथ कमाई भी करता है। वह परिवार की अजीविका चलाने मे माता-पिता का सहायक बन जाता है। गांधी जी के अनुसार शिक्षा की सफलता की तेजाबी जाँच स्वावलम्बन पर ही आधारित है। वे शिक्षा में उद्योग का समावेश करके व्यक्तित्व के सर्वाङ्गीण विकास के साथ-साथ विद्यालय तथा समाज में आत्म-निर्भरता का साम्राज्य स्थापित करना चाहते हैं। इस प्रकार गांधी जी के दर्शन में, आत्म-निर्भरता पर बहुत बल दिया जाता है। शिक्षा की आत्म-निर्भरता का अर्थ दो रूप में किया जाता है कि एक वह शिक्षा जो बालक को भावी जीवन में आत्म निर्भर बनायेगी और दूसरे यह कि यह शिक्षा स्वयं में आत्म निर्भर है।

गांधी जी का शिक्षा की आत्म निर्भरता का विचार उनके अहिंसा के दर्शन पर ही आधारित है। नई शिक्षा पद्धति जिसका वे प्रतिपादन करते हैं वह वर्ग, जाति, रंग, रूप इत्यादि के पर्दों को समाप्त करने के लिये ही है। यह शिक्षा बलवान का दुर्बल के ऊपर अत्याचार का उन्मूलन करने के लिए ही प्रतिपादित की गई है। गांधी जी शिक्षा और हिंसा में मूल विरोध का अवलोकन करते हैं। उन्होंने सच्ची शिक्षा उसी को कहा जो अहिंसा के द्वारा दी जाय।

1—Harijan, 31-7-37 "I would therefore begin, the childs education by teaching it a useful handicraft and enabling it to product from the moment it begins its training ..... I hold that the highest development of the mind and soul is possible under such a system of education. Only every handcraft has to be taught not merely mechanically as is done to day, but scientifically i. e. the child should know the why and where fore if every process.

2—Self supporting.

गांधी जी के शिक्षा दर्शन का एक अन्य महत्वपूर्ण अंग है बालक की महत्ता। मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से हम यह कह सकते हैं कि गान्धी जी के शिक्षा सम्बन्धी विचार बाल केन्द्रित हैं। वे बालक की रुचियों के अनुसार उसे शिक्षा देने के पक्ष में हैं। उनका कथन है कि बालक निष्क्रियता को पसन्द नहीं करता। वह कुछ न कुछ करना चाहता है। जब वह कोई कार्य अपने हाथ से करता है तो उसे प्रसन्नता होती है। अतएव गांधी जी शिक्षा में उद्योग का समावेश करके बालक की सक्रियता के आधार पर ही उसे शिक्षा प्रदान करने की विधि को श्रेष्ठ मानते हैं।

उद्योग केन्द्रित शिक्षा तथा बाल केन्द्रित शिक्षा विधि को अपनाने में यह भी लाभ है कि बालक सामाजिक उत्तरदायित्व के प्रति सचेत हो जाता है। उद्योग सामूहिक क्रियाशीलता पर आधारित रहता है। इस कारण उद्योग केन्द्रित शिक्षा बालकों में परस्पर सहयोग, सहकारिता और सम्मान के गुणों का विकास करती है। बालक सीख जाते हैं कि समाज में उनका उत्तरदायित्व क्या है?

गांधी जी के उपरोक्त शैक्षिक सिद्धान्त बेसिक शिक्षा के आधार स्तम्भ हैं। गान्धी जी एक ऐसे दार्शनिक थे जो अपने दर्शन को व्यवहार की कसौटी पर परखने के लिये सदैव तत्पर रहते थे। उन्होंने शिक्षा सम्बन्धी जो अपना दर्शन प्रतिपादित किया उसे व्यवहार में लाने पर प्रयोग भी किये। उन्होंने अपनी शिक्षा योजना को ऐसी रूप रेखा देनी चाही जिससे वह व्यवहार में सरलता से लायी जा सके। यहाँ हम संक्षेप में इस शिक्षा योजना के इतिहास पर प्रकाश डालेंगे जिससे यह समझ में आजायगा कि इस योजना को व्यवहारिक रूप देने के लिए क्या-क्या प्रयत्न किये गये।

बेसिक शिक्षा का संक्षिप्त इतिहास

गांधी जी ने अपने शिक्षा-विषयक विचारों को ३१ जुलाई, १९३७ के हरिजन में व्यक्त किया। इस लेख ने देश में हलचल मचा दी। अनेकों विचारकों में इस योजना के उभय पक्षों को लेकर वाद-विवाद आरम्भ हो गया। गांधी जी ने यह उचित समझा कि शिक्षा-मर्मज्ञों द्वारा इस योजना की जाँच करायी जाय। इसके लिये २२ और २३ अक्टूबर सन् १९३७ को मारवाड़ी हाई स्कूल की रजत-जयन्ती के अवसर पर भारत के विभिन्न भागों से शिक्षा-विशेषज्ञों, राष्ट्रीय नेताओं एवं समज सुधारकों को आमन्त्रित किया गया और "अखिल भारतीय राष्ट्रीय शिक्षा-सम्मेलन" जिसे "वर्धा-सम्मेलन भी कहते हैं का आयोजन किया गया। इस सम्मेलन के सभापति का आसन गांधी जी ने

ग्रहण किया इस सम्मेलन में गम्भीर विचार विमर्श के पश्चात् निम्नलिखित प्रस्ताव पारित किये गये जो प्रस्ताव बेसिक शिक्षा योजना के आधार हैं—

(१) राष्ट्र के प्रत्येक बालक को सात वर्ष तक निःशुल्क एवं अनिवार्य शिक्षा प्रदान की जाय।

(२) शिक्षा का माध्यम मातृ-भाषा हो।

(३) इस सम्पूर्ण अवधि में शिक्षा किसी हस्त एवं उत्पादक कार्य के माध्यम से दी जाय। अन्य विषय इस केन्द्रीय कार्य से सम्बन्धित रखे जाय। बालकों की अन्य सभी योग्यताओं का विकास या उसको दिया जाने वाला शिक्षण, उसके वातावरण से पूर्णतः सम्बन्धित हो।

(४) सम्मेलन की आशा है कि शनैः-शनैः शिक्षा की इस प्रणाली से अध्यापकों का वेतन निकलने लगेगा।

उपरिलिखित प्रस्तावों को पारित करने के उपरान्त सम्मेलन ने जामिया मिलिया इस्लामिया, दिल्ली, के आचार्य डा० जाकिर हुसेन की अध्यक्षता में एक समिति नियुक्त की। इसे जाकिर हुसेन समिति के नाम से पुकारा जाता है। इस समिति का उद्देश्य वर्धा शिक्षा-सम्मेलन में पारित प्रस्तावों के अनुसार एक विस्तृत पाठ्य-क्रम तैयार करना था। इस समिति ने दिसम्बर १९३७ और अप्रैल १९३८ में दो प्रतिवेदन प्रस्तुत किये। इस समिति की प्रथम रिपोर्ट फरवरी १९३८ में हरिपुरा में होने वाले कांग्रेस के अधिवेशन विचार विनिमय के लिये रखी गई और भारतीय शिक्षा को पुनर्संगठित करने के लिये उसे कांग्रेस की योजना स्वीकार कर लिया गया। इस योजना को कार्यान्वित करने के लिये अप्रैल १९३९ में सेवाग्राम मे "हिन्दुस्तानी तालीमी संघ की स्थापना की गई।

बेसिक शिक्षा योजना की १९३८ में भारत के उन प्रान्तों में जहाँ कांग्रेजी मंत्रिमंडल थे क्रियान्वित कर दिया गया। केन्द्रिय सरकार ने भी इस शिक्षा योजना में रुचि दिखाई और "केन्द्रीय शिक्षा सलाहाकार बोर्ड [1] ने १९३८ में बम्बई के मुख्यमंत्री श्री बी० जो० खेर की अध्यक्षता में "वर्धा-शिक्षा-योजना" की जाँच करने के लिये एक समिति की नियुक्ति की गयी। इस समिति को प्रथम खेर समिति के नाम से पुकारा जाता है प्रथम खेर समिति ने बेसिक शिक्षा योजना का गहन अध्ययन करके अत्यन्त महत्वपूर्ण सुझाव सामने रखे। इस समिति की सिफारिशों को केन्द्रीय सलाहाकार बोर्ड ने स्वीकार कर लिया और १९३९ में द्वितीय खेर समिति' की नियुक्ति की। इस समिति का उद्देश्य बेसिक शिक्षा-प्रणाली और उच्च शिक्षा में समन्वय स्थापित करना था इस

1—Central Advisory Board of Education,

समिति ने भी जिन सिफारिशों को रखा उन्हें केन्द्रिय शिक्षा सलाहकार बोर्ड ने स्वीकृत किया और 'सार्जेन्ट शिक्षा-योजना' में उनको क्रियान्वित किया गया।

बेसिक शिक्षा योजना की रूपरेखा

उपरिलिखित समितियों की सिफारिशों एवं सुझाव के आधार पर जो बेसिक शिक्षा योजना की रूप रेखा निर्धारित की गई वह निम्नलिखित है।

(१) बेसिक शिक्षा की अवधि ८ वर्ष की है। यह शिक्षा ६ से १४ वर्ष तक की आयु के बालकों एवं बालिकाओं के लिये निःशुल्क एवं अनिवार्य है।

(२) शिक्षा का माध्यम मातृ-भाषा है और अंग्रेजी की शिक्षा नहीं दी जाय।

(३) सम्पूर्ण शिक्षा का सम्बन्ध किसी आधारभूत शिल्प से हो जिसे बालको की योग्यता तथा स्थान की आवश्यकताओं को देखकर चुना जाय।

(४) चुने हुए शिल्प की शिक्षा इस प्रकार दी जाती है कि वह बालकों को उत्तम शिल्पी बना दे और जो वस्तुयें वे बनायें वे ऐसी हों कि जिनका प्रयोग किया जा सके या जिनको बेचकर विद्यालय के व्यय के कुछ भाग की पूर्ति की जा सके।

(५) इस शिल्प की शिक्षा यांत्रिक विधि से न देकर इस विधि से दी जाय कि छात्र उसके सामाजिक तथा वैज्ञानिक महत्व से परिचित हो जाय।[1]

बेसिक शिक्षा "बेसिक शिक्षा" क्यों कहलाती है?

बेसिक शिक्षा का नामकरण किस आधार पर किया गया है इनकी भी उसे समझना आवश्यक है। बेसिक शब्द का हिन्दी रूपान्तर 'आधार भूत" शब्द है। अतएव इस शिक्षा के नामकरण के कारणों का वर्णन हम इस प्रकार कर सकते हैं :

(१) यह शिक्षा भारत की राष्ट्रीय सभ्यता, संस्कृति एवं शिक्षा-संगठन के आधार के रूप में प्रस्तुत की गयी है।

(२) प्रत्येक भारतीय बालक को, यदि वह शरीरिक एवं मानसिक रूप से अस्वस्थ नहीं है, यह आधारभूत शिक्षा अनिवार्य रूप से प्रदान करने की व्यवस्था की गयी है।

(३) यह आधार भूत शिक्षा प्रत्येक भारतीय-पुरुष अथवा स्त्री, धनी अथवा दरिद्र, हिन्दू, अथवा मुसलमान, हरिजन अथवा ब्राह्मण की सामान्य सम्पत्ति मानी गई है।

1—K. G. Saiyidain; *Year Book of Education*, Evars Bras 1950, p. 503.

(५) **शिक्षा का माध्यम मातृ-भाषा**—बेसिक शिक्षा में शिक्षा का माध्यम मातृ भाषा रखा गया है। गांधी जी विदेशी भाषा के माध्यम से शिक्षा देने के विरोधी थे। एक स्थान पर उन्होंने कहा है कि "विदेशी राज्य की कई बुराइयों में एक बड़ी से बड़ी बुराई इतिहास में यह मानी जायगी कि उसमें देश के नौजवानों पर पराई भाषा के माध्यम का यह घातक बोझ डाला गया। इस माध्यम ने राष्ट्र की शक्ति को नष्ट कर दिया है, विद्यार्थियों की उम्र घटा दी है उन्हें आम लोगों से अलग कर दिया है, और शिक्षा को बिना कारण महँगी बना दिया है। यदि यह प्रथा अब भी जारी रहेगी तो इससे राष्ट्र की आत्मा का ह्रास होना निश्चित है। इसलिए शिक्षित भारतीय, पराई भाषा के माध्यम की भयंकर मोहनी से जितनी जल्दी छूट जाय उतना ही उनके लिये और राष्ट्र के लिये अच्छा है।"[१]

(६) **शिक्षा में शारीरिक श्रम** बेसिक शिक्षा में शारीरिक श्रम पर विशेष बल दिया गया है। गांधी जी के विचारानुसार शारीरिक श्रम पर बल देने से हमारे दरिद्र देश में दो लाभ प्राप्त होंगे। पहिला लाभ तो यह कि बालकों की शिक्षा का व्यय निकल आयगा और दूसरा यह कि वे एक व्यवसाय सीख लेगें जो उनके भावी जीवन में उनकी जीविका उपार्जन का साधन बन सकता है।

(७) **सामाजिक शिक्षा** बेसिक शिक्षा यह प्रत्येक प्राणी में सहानुभूति एवं प्रेम उत्पन्न करने के सिद्धान्त पर अधारित है। यह शिक्षा एक ऐसे समाज की स्थापना का प्रयास करती है जो शोषण विहीन हो, जिसका आधार न्याय हो और जिसका मूलमंत्र अहिंसा तथा सत्य हो।

बेसिक शिक्षा में पाठ्यक्रम

बेसिक शिक्षा के पाठ्यक्रम में जैसा ऊपर वर्णन किया गया सबसे मुख्य स्थान हस्त-शिल्प को होता है। जिन हस्त शिल्पों में से कोई एक चुना जा सकता है वे हैं—(क) कृषि, (ख) कताई बुनाई, (ग) लकड़ी का काम; (घ) मिट्टी का काम; (ङ) चमड़े का काम, (च) मछली पालना (छ) फल शाक एवं उद्यान-कर्म, (ज) बालिकाओं के लिए गृह विज्ञान, (झ) कोई अन्य शिल्प जिसके लिये स्थानीय तथा भौगोलिक परिस्थितियाँ अनुकूल हो इस शिल्प के ही सम्बन्ध में जिन विषयों का अध्ययन आवश्यक रूप से हो जाना चाहिए वे हैं—

(१) मातृ-भाषा।

(२) गणित।

१—गांधी जी, सच्ची शिक्षा, नव जीवन प्रकाशन, १०० नव जीवन, ८-७,२८

(४) इसका बालकों की आधारभूत आवश्यकताओं एवं अभिरुचियों से घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित किया गया है।

(५) यह शिक्षा सामुदायिक जीवन के आधारभूत व्यावसाय से सम्बन्धित की गई है।

(६) यह शिक्षा सभी भारतीयों को ऐसा आधारभूत ज्ञान प्रदान करने के लिये निर्मित की गई कि जो उनको अपने वातावरण को बुद्धिमत्ता पूर्वक समझने एवं प्रयोग करने में सहायक हो।

(७) इस शिक्षा का मध्य-बिन्दु कोई आधारभूत शिल्प रखा गया, जिसका प्रयोग व्यक्तियों द्वारा जीवन निर्वाह के लिये किया जा सके।

बेसिक शिक्षा के आधारभूत सिद्धान्त

(१) **जन साधारण की शिक्षा** बेसिक शिक्षा जन साधारण को शिक्षित बनाने की एक सफल योजना का प्रतिपादन करती है। भारत में साक्षारता बहुत कम है। इसी कारण साक्षारता को बढ़ाना इस शिक्षा योजना का सबसे महत्व पूर्ण और प्रथम कार्य समझा गया है।

(२) **अनिवार्य एवं निःशुल्क शिक्षा**—गान्धी जी अनिवार्य एवं निःशुल्क शिक्षा में दृढ़ विश्वास रखते थे।[1] जब तक भारत पराधीन रहा, इस ओर कोई ध्यान नहीं दिया परन्तु स्वतंत्रता के उपरान्त इस बात की चेष्टा की जा रही है कि सब बालकों को जो ६ वर्ष तक की आयु के हैं बेसिक शिक्षा दी जाय। यह शिक्षा निः शुल्क बनाने की ओर प्रयत्न किये जा रहे हैं।

(३) **हस्त-शिल्प की शिक्षा**—बेसिक शिक्षा योजना का प्रमुख आधारभूत सिद्धान्त हस्त-शिल्प की शिक्षा है। गान्धी जी का विश्वास था कि हस्त-शिल्प की शिक्षा द्वारा बालक के मस्तिष्क एवं आत्मा का सर्वोच्च विकास हो सकेगा। बेसिक शिक्षा योजना में हस्त-शिल्प को प्रमुख स्थान प्रदान किया जाता है और समस्त विषयों की शिक्षा उसी के माध्यम से दी जाती है।

(४) **स्वावलम्बी शिक्षा**—बेसिक शिक्षा में स्वावलम्बी पहलू की ओर विशेष ध्यान दिया जाता है। यह विश्वास किया जाता है कि यदि हस्तशिल्प की योजना को सावधानी से बनाया जाय तो बालकों की बनाई हुई वस्तुओं को बेचकर कम से कम शिक्षकों का वेतन तो निकाला ही जा सकता है।

1—M K. Gandhi, *India of My Dream*; p. 187 "I am a firm believer in the principle of free and compulsory Primary Education for India."

(३) सामाजिक अध्ययन-इतिहास, भूगोल एवं नागरिक शास्त्र ।

(४) सामान्य विज्ञान-(अ) प्रकृति अध्ययन, (ब) वनस्पति शास्त्र, (स) प्राणि शास्त्र, (द) रसायन शास्त्र; (र) स्वास्थ्य विज्ञान; (ल) नक्षत्रों का ज्ञान; (व) महान् वैज्ञानिकों एवं अन्वेषकों की कहानियाँ

(५) कला—रेखा-चित्र एवं संगीत आदि ।

(६) हिन्दी—(जहाँ मातृ भाषा नहीं है) ।

(७) शारीरिक शिक्षा (व्यायाम एवं खेलकूद) ।

पाँचवी कक्षा तक बेसिक शिक्षा योजना में बालकों तथा बालिकाओं के लिये समान पाठ्यक्रम है । इसके उपरान्त दोनों के लिये पृथक विद्यालयों की व्यवस्था की गई है । छठी और ७ वीं कक्षाओं में बालिकायें आधारभूत शिल्प के स्थान पर गृह विज्ञान में उच्च पाठ्य-विषय ले सकती हैं । शिक्षा का माध्यम मातृ भाषा है परन्तु राष्ट्र भाषा हिन्दी का अध्ययन सब छात्रों के लिये अनिवार्य है । पाठ्यक्रम में धार्मिक शिक्षा को कोई स्थान नहीं दिया गया है ।

शिक्षण-विधि

बेसिक शिक्षा की शिक्षण-विधि आधुनिक शिक्षा की शिक्षण विधि से बहुत विभिन्न है । इस योजना में अध्यापन का कार्य क्रियाओं एवं अनुभवों के माध्यम से किया जाता है । विभिन्न कक्षाओं में जो शिक्षण विधि अपनायी जाती है वह इस प्रकार है—

प्रथम कक्षा में बालकों को अपनी मातृ भाषा का मौखिक ज्ञान कराया जाता है । इसके पश्चात् बालक पढ़ना और उसके बाद लिखना सीखते हैं । जिस समय बालक लिखना सीखते हैं, उस समय वे किसी आधारभूत शिल्प की जानकारी भी प्राप्त करते है । इस प्रकार ज्यों-ज्यों बालक आगे की कक्षाओं में पहुँचते हैं वे विभिन्न विषयों के ज्ञान का अर्जन करते हैं परन्तु उनको इन विषयों की शिक्षा स्वतन्त्र रूप से प्रदान न की जाकर किसी आधारतभूत शिल्प के माध्यम से दी जाती है । गणित, सामाजिक विषय, सामान्य विज्ञान आदि के शिक्षण में इसी विधि का प्रयोग किया जाता है । यदि किसी विषय का कोई भाग आधारभूत शिल्प के माध्यम से नहीं पढ़ाया जा सकता है, तो उसे किसी अन्य विधि से पढ़ा दिया जाता है । पाठ्य-क्रम के समस्त विषय परस्पर सम्बंधित ज्ञान-क्षेत्रों के रूप में बालकों के समक्ष प्रस्तुत किये जाते हैं । इस प्रकार ८ वर्ष के अन्त में बालकों को सभी विषयों का पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो जाता है । साथ ही उन्हें आधारभूत शिल्प की इतनी अच्छी जानकारी हो जाती है कि उसकी सहायता से वे धनोपार्जन करने लगते है ।

अध्यापक

बेसिक शिक्षा-प्रणाली में शिक्षक का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। विद्यालयों के लिये ऐसे शिक्षकों का चुनाव किया जाता है जो उस क्षेत्र के निवासी हों जहां विद्यालय स्थित हैं। स्त्री शिक्षिकाओं को पुरुष शिक्षकों से अधिक अधिमान[1] दिया जाता है।

बेसिक विद्यालयों में बेसिक प्रशिक्षण विद्यालयों द्वारा प्रशिक्षित अध्यापक ही नियुक्त किये जाते हैं। प्रशिक्षण विद्यालयों में वे ही व्यक्ति प्रवेश कर सकते हैं जो या तो हाई स्कूल पास हों या वर्नाक्यूलर फाइनल परीक्षा पास करने के उपरान्त कम से कम दो वर्ष तक किसी विद्यालय में अध्यापन कार्य कर चुके हों।

बेसिक शिक्षा की विशेषताएं एवं लाभ

(१) **बेसिक शिक्षा के उद्देश्य**—बेसिक शिक्षा में बालक के सर्वोन्मुखी विकास का उद्देश्य महत्वपूर्ण माना जाता है। बेसिक शिक्षा योजना का दर्शन ही इस बात पर केन्द्रित हैं कि बालक को ऐसी शिक्षा प्रदान की जाय कि उसका शारीरिक, बौद्धिक सामाजिक तथा अध्यात्मिक विकास हो जाय। अतएव इस शिक्षा में योजना नैतिक उद्देश्य, सामाजिक उद्देश्य, सांस्कृतिक उद्देश्य, आर्थिक उद्देश्य तथा व्यक्तित्व के विकास के उद्देश्यों का सामजश्य प्राप्त करने की चेष्टा की जाती है।

बेसिक शिक्षा में नैतिक उद्देश्य—गांधी जी ने कहा है कि "मैंने सबसे ऊँचा स्थान हृदय की संस्कृति या चारित्रिक निर्माण को दिया है और मुझे अनुभव हुआ है कि सबको समान रूप से नैतिक शिक्षा दी जा सकती है। इस बात से कोई प्रयोजन नहीं है कि उनकी आयु और पालन-पोषण में कितना ही अन्तर क्यों न हो।"[2] गांधीजी के इस कथन के अनुसार ही बेसिक शिक्षा योजना में नैतिक विकास की ओर पूर्ण ध्यान दिया जाता है। बालकों को कर्त्तव्य-परायणता, दूसरों के अधिकारों के प्रति सम्मान, पारस्परिक सहयोग शान्ति एवं सत्यता का मार्ग अनुसरण करने की शिक्षा दी जाती है।

बेसिक शिक्षा में सामाजिक उद्देश्य—बेसिक शिक्षा में सामाजिक उद्देश्य

1—Preference.

2—Mahatma Gandhi, '*Autobiography*', p. 408 : "I had given the top place to culture of heart or the building of character, and I felt confident that moral training could be given to all alike, no matter how different their ages or bringing.'

की ओर हम दो दृष्टिकोण से ध्यान दे सकते हैं। एक तो नागरिकता की शिक्षा के दृष्टिकोण से और दूसरे सर्वोदय समाज की स्थापना के दृष्टिकोण से।

प्रजातन्त्र शासन व्यवस्था में प्रत्येक नागरिक का अपने अधिकारों एवं कर्त्तव्यों की ओर से सचेत रहना आवश्यक है अन्यथा प्रजातन्त्र का विनाश हो जाइगा। बेसिक शिक्षा योजना में इस बात का पूरा पूरा ध्यान रखा जाता है कि बालक में नागरिकता का विकास किया जाय। बालक को एक नागरिक की हैसियत से अपनी समस्याओं अधिकारों एवं कर्त्तव्यों को समझने के अवसर प्रदान किये जाते हैं।

बेसिक शिक्षा का उद्देश्य यह भी है कि एक सर्वोदय समाज की स्थापना की जाय। यह एक ऐसा समाज होगा जिसमे धनवान तथा निर्धन के भेद भाव को मिटा दिया जायगा, जिसमे प्रत्येक व्यक्ति की समानाधिकार होगे; जिसमें बलवान कमजोर को नहीं सतायेगा जहाँ स्वार्थ का स्थान परमार्थ, संग्रह की वृत्ति का स्थान त्याग की वृत्ति और शोषण का स्थान सेवा लेगी। इस समाज में श्रम की महत्ता होगी, पैसे की नहीं और सहयोग तथा स्नेह की भावनायें होंगी, ईर्ष्या एवं द्वेष की नहीं। ऐसे समाज के निर्माण के लिये बेसिक शिक्षा इस बात पर बल देती है कि बालक सामूहिक तथा सहयोगी जीवन व्यतीत करे।

आर्थिक उद्देश्य—बेसिक शिक्षा में आर्थिक उद्देश्य को भी दो रूप मे अपनाया जाता है। प्रथम बालको द्वारा बनाई गई वस्तुओ से विद्यालय के व्यय की आंशिक पूर्ति करना। द्वितीय, बेसिक शिक्षा समाप्त करने के पश्चात बालक किसी उद्योग के द्वारा अपनी जीविका उपार्जन कर सकें।

व्यक्तिगत उद्देश्य—बेसिक शिक्षा में बालक के व्यक्तित्व के विकास को महत्व दिया गया है। प्रचलित शिक्षा प्रणाली में यह दोष है कि इसमे बालक के केवल बौद्धिक विकास पर बल दिया जाता है। बेसिक शिक्षा में बौद्धिक, शारीरिक तथा आत्मिक तीनों प्रकार के विकास को महत्व दिया जाता है। इस योजना में बालक को स्वतंत्रता होती है कि वह स्वयं अपनी रुचि के अनुसार शिल्प चुने और अपनी रुचि एवं योग्यता के अनुसार ही विभिन्न विषयों का ज्ञान अर्जित करे।

(२) **बेसिक शिक्षा के आधार मनोवैज्ञानिक है**—बेसिक शिक्षा योजना में पाठ्य-विषयों की अपेक्षा बालक को अधिक महत्व दिया जाता है। यह शिक्षा बाल-केन्द्रित है। इसके अतरिक्त बेसिक शिक्षा में बालक को हस्त-कला द्वारा किसी शिल्प का ज्ञान कराया जाता है। बालक के स्वयं कार्य करके सीखने पर बल दिया जाता है। इस प्रकार के सीखने में बालक रुचि लेता है और उसे

आत्म प्रकाशन के अवसर प्राप्त हो जाते है। इस योजना में व्यक्तिगत विभिन्नता के आधार पर शिक्षा प्रदान करने का दृष्टिकोण भी सामने रखा जाता है।

(३) **बेसिक शिक्षा के आधार सामाजिक भी है**—बेसिक-शिक्षा बालक के सामाजिक गुणों का विकास करने का प्रयास करती है। इसी कारण इस शिक्षा योजना में पुस्तकीय ज्ञान पर बल नही दिया जाता। इस योजना में शिक्षा किसी शिल्प के चारों ओर केन्द्रित रहती है। बालक शिल्प के सीखने में व्यवहारिक ज्ञान प्राप्त करते हैं तथा वे मिलजुलकर कार्य करना सीख जाते हैं। उनमें सहयोग, सद्भावना, मैत्रीभाव सहिष्णुता आदि के गुणों का प्रादुर्भाव हो जाता है।

(४) **बेसिक शिक्षा प्रणाली में आर्थिक दृष्टिकोण**—बेसिक शिक्षा प्रणाली मे आर्थिक दृष्टिकोण को प्रधानता दी जाती है। यह शिक्षा योजना इस विश्वास से चलती है कि जिस शिल्प की शिक्षा बालकों को दी जाती है उसको सीखकर बालक जो वस्तुऐं बनायेंगे उन्हें बेचकर शिक्षा का पर्याप्त व्यय निकल आयेगा। इस प्रकार बिना शिक्षा के लिये अधिक धन जुटाये हुए ही देश के अधिकतर बालकों की शिक्षा का आयोजन हो जायगा। इसके अतरिक्त जो शिल्प बालक सीखेंगे वे उनके भावी जीवन में उनकी जीविका उपार्जन करने मे सहायक होगे।

(५) **बेसिक शिक्षा में श्रम को महत्व दिया जाता है**—बेसिक शिक्षा योजना में प्रचलित शिक्षा के एक बड़े दोष को दूर करने की चेष्टा की गई है। प्रचलित शिक्षा द्वारा शिक्षित व्यक्ति अपने हाथ से काम करना बुरा समझते हैं। यदि उन्हें कुछ भारी चीज उठानी पड़े तो मजदूर की तलाश करेंगे। स्वयं अपने काम करने में ही उन्हे शर्म आती है। बेसिक योजना में बालक श्रम की महत्ता को समझ लेते हैं। वे फिर स्वयं अपने हाथ से सभी कार्य करते हैं और किसी कार्य को करने में उन्हें संकोच नहीं होता।

(६) **बेसिक शिक्षा विद्यालय, गृह और समाज के जीवन में सामंजस्य स्थापित करती है**—बेसिक शिक्षा योजना मे पुस्तकीय ज्ञान को कोई महत्व नहीं है। यह योजना बालकों को व्यवहार कुशल बनाना चाहती है। यह एक ऐसी शिक्षा देना चाहती है जिसका दैनिक जीवन में प्रयोग हो सके। यह विद्यालय में शिक्षा देने के ऐसे कार्यक्रम पर बल देती है जो गृह तथा समाज में होने वाली परिस्थितियों के अनुकूल ही हों। बालक को विद्यालय में उसी प्रकार का वातावरण देने की चेष्टा की जाती है जो गृह और समाज में प्रायः पाया जाता है।

(७) **बेसिक शिक्षा में सह-सम्बद्ध शिक्षण[1] दिया जाता है**—बेसिक योजना में एक शिल्प को माध्यम बनाकर विभिन्न विषयों को उससे सम्बन्धित करके शिक्षा दी जाती है। इनमें से कोई भी एक हस्तशिल्प हो सकता है जैसे कृषि, कताई-बुनाई, लकड़ी, मिट्टी अथवा चमड़े के काम। जो कुछ भी हस्त-शिल्प चुना जाता है उससे भाषा, इतिहास, भूगोल, नागरिक शास्त्र सामान्य विज्ञान कला आदि को सह-सम्बद्धित करके शिक्षा प्रदान की जाती है। बेसिक शिक्षा में यह ध्यान देने योग्यत बात है कि यह केवल किसी शिल्प की शिक्षा नहीं है वरन यह शिल्प द्वारा दी जाने वाली शिक्षा है। जैसे बालक की शिक्षा के लिये यदि कताई-बुनाई शिल्प चुना गया तो इससे तात्पर्य यह नही है कि बालक को केवल कातना या बुनना सिखा दिया जाये वरन यह है कि उसे विभिन्न विषयों का शिक्षण कातना-बुनना को माध्यम बनाकर दिया जाय। बालक सीखें कि कपास का बीज किस ऋतु में बोया जाना चाहिए और इसी और इसी सम्बन्ध में ऋतुओं का ज्ञान प्राप्त करलें तथा अन्य भौगोलिक ज्ञान जैसे कैसी मिट्टी में कपास का बीज फले फूलेगा और ऐसी मिट्टी कहाँ पायी जाती है इत्यादि को सीखले। इसी तरह से विज्ञान का ज्ञान वह बीज के फूटने तथा उसकी विशेषताओं से सम्बन्धित करके सीखने तथा बालक शिल्प का वर्णन लिखकर भाषा का ज्ञान प्राप्त करले। इस प्रकार हम देखते हैं कि बालक शिल्प की सहायता से तथा उससे अनेकों विषयों को सह-सम्बन्धित करके समस्त विषयों का लाभकारी ज्ञान प्राप्त कर लेता है।

(८) **बेसिक शिक्षा में ज्ञान एक अभिन्न, अखंड समष्टि[2] के रूप में दिया जाता है**—बेसिक योजना में ज्ञान को अभिन्न अखंड समष्टि माना जाता है। ज्ञान को ऐसे विषयों में नहीं बाँटा जाता जो असम्बद्धित है या परस्पर एक दूसरे से किसी प्रकार भी समन्वय प्राप्त नहीं कर सकते हैं। प्रचिलित शिक्षा प्रणाली में ज्ञान विषयों की बन्द कोठरियों में विभाजित करता है। यदि किसी समय एक विषय की शिक्षा दो जाती है तो इस बात पर कोई ध्यान नही दिया जाता कि इस विषय का सह-सम्बन्ध दूसरे विषयों से स्थापित किया जाय। जो भी शिक्षण प्रदान किया जाता है वह अलग-अलग रूप में ही होता है। इसका फल यह होता है कि बालक अपने विभिन्न विषयों के ज्ञान में कोई भी एकता प्राप्त करने मे असफल रहते है। इस प्रकार प्राप्त किया हुआ ज्ञान छात्रों को जीवन की समस्यायें की समझने मे कोई सहायता प्रदान नहीं कर सकता और न ही यह उनके व्यवहार तथा आचरण पर उत्तम प्रभाव डालता है। बेसिक शिक्षा में इस दोष को दूर करने के लिये ही ज्ञान एक अभिन्न अखंड समष्टि के रूप में

1—Correlated Teaching. 2—Unified whole.

दिया जाता है। बालक विभिन्न सह-सम्बन्धित विषयों का ज्ञान प्राप्त करते हैं जो उनके मस्तिष्क में इकाई के रूप में ही धारण हो जाता है।

(९) बेसिक शिक्षा में क्रिया प्रधान है—बेसिक शिक्षा में सम्पूर्ण ज्ञान का आधार अनुभव माना गया है। यह अनुभव प्राप्त करने के लिए उसे किसी हस्तशिल्प को सीखना होता है। हस्तशिल्प से सीखने में वह स्वय कार्य करके सीखता है। कार्य करके सीखने के सिद्धान्त को वर्तमान काल के अनेक मनोवैज्ञानिक तथा शिक्षक उच्च स्थान देते हैं प्रोबेल का किण्डरगार्टेन और मान्टेसरी की शिक्षक पद्धति इसी सिद्धान्त पर आधारित है।

(१०) बेसिक शिक्षा स्वतन्त्रता प्रधान योजना है—बेसिक शिक्षा में शिक्षकों तथा छात्रों को कार्य करने की पर्याप्त स्वतन्त्रता रहती है। प्रचलित शिक्षा पद्धति में बालकों को कोई स्वतन्त्रया प्रदान नहीं की जाती जो इस पद्धति का एक बहुत बड़ा दोष है। वेसिक शिक्षा योजना मे छात्रों को कार्य करने का तथा कार्य करके लाभप्रद ज्ञान प्राप्त करने के पूर्ण अवसर प्रदान होते हैं। बेसिक विद्यालयों में अनुशासन बाह्य नहीं होता यह दबाव एवं दमन पर केन्द्रित नहीं है यहाँ स्वानुशासन पर ही बल दिया जाता है।

बेसिक शिक्षा में शिक्षकों को भी स्वतन्त्रता प्राप्त होती है, वे प्रयोग तथा परीक्षण कर सकते हैं। शिक्षको को न तो कोई नियमित पाठ्यक्रम पर ही चला होता है न ही पाठ्यक्रम को परीक्षा से पहिले समाप्त करने की चिन्ता होती है। वे बालकों को शिक्षा प्रदान करने मे अपने अनुभवों के आधार पर हेरफेर कर सकते हैं। वे जो कुछ भी विद्यालय की मांगों को पूर्ण करने के लिये आवश्यक हो उन विधियों एवं उपायों को निसंकोच अपना सकते है। बेसिक शिक्षा योजना में उसका लचीलापन एक बहुत बड़ा गुण है। इसी के कारण शिक्षकों को अपना कार्यक्रम स्वयं निर्धारित करने की स्वतन्त्रता होती है।

बेसिक शिक्षा के दोष

बेसिक शिक्षा में उपरिलिखित विशेषताएँ एवं गुणों के होते हुए भी बहुत से दोष हैं। ये दोष निम्नलिखित हैं।

(१) यह योजना विशेष रूप से ग्रामों के लिये निर्मित की गई है। शहरो के लिये इसका प्रयोग सीमित है।

(२) इस योजना मे उत्पादिता-सिद्धान्त[1] को उच्चतम सीमा तक ले जाया गया है। अतएव इस योजना का यदि पूर्ण रूप से पालन किया जाय तो बेसिक विद्यालय केवल कुटीर उद्योगों का रूप धारण करके रह जायेंगे।

1—Principle of productivity.

(३) यदि शिक्षक और विद्यार्थी हस्तशिल्प द्वारा धनोपार्जन करने के सिद्धान्त को अपनायेंगे तो विद्यालयों का रूप भी फैक्ट्रियों की तरह हो जायगा। और बालकों से मिल मजदूरों की तरह अधिक उत्पादन की आशा की जायगी। यह शिक्षकों के नैतिक पतन का कारण बन जायगा।

(४) वर्तमान काल में विज्ञान का विकास अत्यन्त शीघ्रता से हो रहा है। प्रतिदिन नये-नये आविष्कार हो रहे हैं। ऐसे युग में कताई बुनाई इत्यादि जो मध्यकालीन उद्योग हैं इनको मुख्य हस्तशिल्प बनाने से देश की औद्योगिक प्रगित रुक जायगी।

(५) एक आधारभूत शिल्प से सह-सम्बद्धित करके बालक को समस्त उन विषयों की शिक्षा नहीं दी जा सकती जो उसके लिये आवश्यक हैं।

(६) आधारभूत शिल्प की सहायता से न तो बालकों का सर्वोतमुखी विकास करना सम्भव होता है न ही उन्हे सामान्य शिक्षा दी जा सकती है। बेसिक शिक्षा योजना में व्यावसायिक एवं बौद्धिक शिक्षा में उचित संतुलन का अभाव है।

(७) इस योजना में तकली द्वारा कताई पर आवश्यकता से अधिक बल दिया जाता है। परन्तु तकली द्वारा कताई में अधिक उत्पादन होना संभव नहीं है इस कारण इस प्रकार की शिक्षा में केवल बालको का समय नष्ट होता है, और उनके लिए शिक्षा महंगी पड़ती है।

(८) बेसिक शिक्षा योजना मे धर्म को कोई स्थान नहीं दिया गया है। यह इस योजना का एक बड़ा दोष है। वर्तमान समय में संसार में अनेकों युद्धों, तनावनी, विभिन्न राष्ट्रों के बीच घृणा एवं भय का कारण धर्म को ही माना जाता है अतः बहुत से देशों मे शिक्षा की धर्म से बिलकुल विलग कर दिया है।

(९) बेसिक विद्यालय एक वर्ष में २८८ दिन कार्य करते हैं। इतने अधिक दिन इनके खुलने से बालकों के बहुत अधिक श्रम कदने को बाध्य किया जाता है।

(१०) बेसिक शिक्षा योजना में पाठ्यक्रम के विभिन्न विषयों के लिये समय का विभाजन बहुत ही दूषित ढंग से किया गया है। इस योजना में आधारभूत शिल्प के लिये तो ३ घंटे २० मिनट का समय निर्धारित किया जाता है जबकि शारीरिक शिक्षा के लिये प्रतिदिन केवल १० मिनट दिये जाते हैं।

(११) इस योजना में जो कुछ बल दिया गया है वह केवल प्राथमिक शिक्षा पर है। यह योजना माध्यमिक तथा उच्च शिक्षा की अवहेलना करती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि बेसिक शिक्षा योजना में बहुत से अवगुण हैं। यह न तो विषयों के सम्यक् ज्ञान को देने में सफल हो सकती है और न ही

हस्त शिल्प के द्वारा विद्यालय का खर्चा निकल सकता है। बालकों को आरम्भ से पैसा कमाने में लगाना अमनोवैज्ञानिक है। प्रजातन्त्र राज्यों में शिक्षा का दायित्व सरकार का होता है। स्वतन्त्र भारत में भी सरकार को यह उत्तर-त्तउरदायित्व लेना ही पड़ेगा। ब्रिटिश काल में तो हम उत्पादन द्वारा धन अर्जन करने के सिद्धान्त को कुछ महत्व दे सकते थे परन्तु वर्तमान भारत में जब यहाँ राष्ट्रीय सरकार है इस सिद्धान्त को हेय दृष्टि से देखा जाना स्वाभाविक है।

बेसिक शिक्षा योजना तथा अन्य दार्शनिकों के विचारों एवं पद्धतियों सेइसकीतुलना

(१)**रूसो के सिद्धान्त और बेसिक शिक्षा**—रूसो में सबसे प्रथम शिक्षा के रूप को बाल प्रधान बनाने पर बल दिया। उन्होंने बालक की प्रकृति को उसके पाठ्यक्रम और शिक्षण कला से अधिक महत्व दिया। बुनायादी शिक्षा में भी बालक को ही प्रधानता दी जाती है। जिस प्रकार रूसो बालक को पुस्तकीय ज्ञान देने के विरुद्ध है और उसके कार्य करके सीखने पर बल देते हैं उसी प्रकार बेसिक शिक्षा भी इन दोनों बातों पर बल तेती है।

(२) **पेस्टालॉजी और बेसिक शिक्षा**—पेस्टालॉजी के अनुसार शिक्षा का आयोजन बालक के स्वभाव, इच्छा तथा शक्ति के अनुरूप किया जाना आवश्यक है। वे शिक्षा प्रदान करने में मनोवेज्ञानिक दृष्टिकोण को अपनाते हैं। वे बालक को प्रकृति का पूर्ण आनन्द लेते हुए अपना स्वाभाविक विकास करने पर बल देते है। वह उसे पाठशालाओं की चहारदीवारी के भीतर बन्द करके प्रकृति से दूर करना नहीं चाहते। बुनियादी शिक्षा में भी प्रकृति के अध्ययन को महत्व दिया जाता है और बालक को कक्षाओं में बैठाकर पुस्तकीय ज्ञान देने का विरोध किया जाता है।

पेस्टलॉजी ने विद्यालय को "प्यार का घर माना है। यहाँ शिक्षक एवं शिक्षार्थी के प्रेम पूर्ण व्यवहार पर बल दिया जाता है। बेसिक शिक्षा योजना में भी विद्यालय तथा घर के बीच सम्बन्ध स्थापित करने की चेष्टा की जाती है और शिक्षक एवं विद्यार्थी के सम्बन्ध को प्रेम तथा सहानुभूति पर आधारित माना जाता है।

(३) **फ्रोबेल का किण्डरगार्टेन और बेसिक शिक्षा**—फ्रोबेल ने शिक्षा को किसी भावी जीवन की तैयारी के रूप में नहीं माना। उसके अनुसार शिक्षा का उद्देश्य "सामूहिक जीवन में भाग लेने की क्षमता प्रदान करना है।" उन्होंने खेल को बालक की शिक्षा में सबसे अधिक महत्व दिया और अपनी

शिक्षा पद्धति में सृजनात्मक और उत्पादक कामों तथा उद्योगों को प्रधानता दी। इन्हीं सब बातों पर बेसिक शिक्षा बल देती है। बेसिक शिक्षा में सृजनात्मक तथा उत्पादक उद्योगों को प्रधानता मिलती है।

(४) **मान्टेसरी की शिक्षा प्रणाली और बेसिक शिक्षा**—मान्टेसरी बालकों को स्वाभाविक वातावरण प्रदान करके उनकी मानसिक शक्तियों के विकास पर बल देती है। बालक दिये हुए उपकरण से खेलते हैं और खेल ही खेल में आवश्यक ज्ञान प्राप्त करते हैं वे खेल द्वारा शिक्षा बल पर देती है और मनोवैज्ञानिक क्षण के अनुसार शिक्षा देने का प्रतिपादन करती है। बेसिक शिक्षा में भी बालकों के वातावरण के अनुसार ही हस्त शिल्प का चुनाव होता है। बालक इसमें स्वाभाविक रूप से रुचि लेते हैं और इसे सीखने की तथा इससे सह-सम्बन्ध विषयों का ज्ञान प्राप्त करने की चेष्टा करते हैं। परन्तु इस योजना में जो सामाजिकता की भावना से विकास पर बल दिया जाता है वह मान्टेसरी पद्धति एक मुख्य दोष का निराकरण कर देता है।

(५) **जॉनड्यूवी के विचार और बेसिक शिक्षा**—ड्यूवी महोदय शिक्षा को विकास का ही दूसरा रूप मानते है। वे शिक्षा का उद्देश्य "सामाजिक गुणों से परिपूर्ण चरित्र विकास" मानते हैं। इस प्रकार वे शिक्षा में व्यक्तिगत तथा सामाजिक उद्देश्यों का समन्वय प्राप्त करने के पक्ष में है। वे बालक की शिक्षा मे स्वाभाविक रुचि और क्रियाशीलता को प्रधानता देते हैं। इसके साथ ही साथ वे विद्यालयो को समाज का लघु प्रतिरूप मानते हैं और बालक के व्यक्तित्व का इसी सामाजिक वातावरण मे विकास पर बल देते है। बेसिक शिक्षा में भी दोनों सामाजिक एवं वैयक्तिक उद्देश्यों को सम्मुख रख कर बालक को शिक्षा प्रदान की जाती है। बालक के लिये आधारभूत हस्तशिल्प का चुनाव उसके वातावरण के अनुकूल ही होता है। इसके अतरिक्त बेसिक शिक्षा भी बालक में इस प्रकार के आदर्शों के प्रादुर्भाव पर बल देती है जैसे क्रियाशीलता, आत्म-निर्भरता तथा सामाजिकता इत्यादि।

इस अध्याय के अन्त में हम यह कह सकते हैं कि बेसिक शिक्षा योजना एक बहुत ही प्रभावशाली शिक्षा जो हमारे राष्ट्र के लिये हमारे राष्ट्र निर्माताओं द्वारा और हमारी परिस्थितियों को ध्यान में रखकर प्रतिपादित की गई है। अतएव यह अपने दृष्टिकोण में पूर्णतय राष्ट्रीय है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि इसमें विदेशी शिक्षा या शिक्षकों के विचारों की अवहेलना की गई है। जैसा हमने अभी ऊपर संकेत किया इस योजना मे जो कुछ भी विदेशी विचारकों का उत्तम है तथा हमारे देश की परिस्थितियों के अनुकूल है उसे ग्रहण किया गया है।

सारांश

बेसिक शिक्षा के प्रमुख प्रवर्तक महात्मा गांधी थे। इन्होंने प्रचलित शिक्षा के दोषों को दूर करने के लिये इस शिक्षा योजना का निर्माण किया।

प्रचलित शिक्षा योजना के दोष—(१) यह पुस्तकीय है (२) इसके उद्देश्य सीमित है (३) यह ज्ञान में वृद्धि करती है परन्तु जीवन से इसका सम्बन्ध नही बताती (४) जीवन से दूर ले जाती है (५) व्यवहारिक कुशलता की अवहेलना करती है (६) प्रतिद्वन्द्विता को प्रोत्साहित करती है (७) सबके लिये उपलब्ध नहीं है (८) महंगी है (९) भारतीय संस्कृति से कोई सम्बन्ध नहीं है (१०) अंग्रेजी भाषा को मुख्य स्थान है (११) अनिवार्य नहीं है (१२) परीक्षा प्रणाली दूषित है (१३) अपव्यय की मात्रा बहुत है (१४) एकाङ्गी है (१५) समाजिकता एवं नागरिकता का विकास नहीं करती (१६) श्रम को महत्व नहीं है, तथा (१७) बालकों की व्यक्तिगत विभिन्नता को कोई महत्व नहीं है।

बेसिक शिक्षा योजना का दर्शन—गांधी जी के लिए सच्ची शिक्षा बालक के व्यक्तित्व का सर्वाङ्गीण विकास है। की बालक की शिक्षा विभिन्न विषयों को किसी उद्योग के चारों ओर केन्द्रित करके प्रतिपादन करने पर बल देते हैं। वे ऐसा उद्योग चुनने के पक्ष मे हैं जो शैक्षिक तथा आर्थिक दोनो ही दृष्टियों से लाभदायक हो। वे शिक्षा की आत्मनिर्भरता पर बहुत बल देते हैं। वह सच्ची शिक्षा को अहिंसा के द्वारा दिया जाना मानते हैं। वे बालक को महत्ता प्रदान करते हैं।

बेसिक शिक्षा का संक्षिप्त इतिहास—गांधी जी ने अपने शिक्षा-विषयक विचारों को ३१ जुलाई १९३७ के 'हरिजन' में व्यक्त किया। फिर २२,२३ अक्टूबर को वर्धा सम्मेलन बुलाया गया जिसने कुछ महत्वपूर्ण प्रस्ताव पारित किये। इसके पश्चात डा० जाकिर हुसेन सीमित ने दिसम्बर १९३७ और अप्रैल १९३८ में दो प्रतिवेदन प्रस्तुत किये। इस योजना को १९३८ में उन प्रान्तों में जहाँ कांग्रेसी मंत्रिमडल थे, क्रियान्वित किया गया।

बेसिक शिक्षा योजना की रूपरेखा—(१) अवधि ८ वर्ष (२) माध्यम मातृभाषा (३) आधारभूत शिल्प का चुनाव (४) शिल्प द्वारा आर्थिक लाभ तथा बालक को व्यवसायिक शिक्षा (५) शिल्प की शिक्षा यांत्रिक न हो।

बेसिक शिक्षा "बेसिक" क्यों कहलाती है—(१) भारतीय सभ्यता का आधार (२) प्रत्येक बालक के लिये अनिवार्य (३) प्रत्येक व्यक्ति के लिये सामान्य सम्पति (४) बालको की आधारभूत आवश्यकताओं से सम्बन्ध (५)